मुग़ल कालीन भारत

प्राक्कथन

यह पुस्तक लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'दिल्ली सल्तनत' (The Sultanate of Delhi) की ही परम्परा में है और अनेक विद्यार्थियों तथा अध्यापक बन्धुओं के आग्रह पर लिखी गई है। इसका संयोजन भी 'दिल्ली सल्तनत' के ढंग पर किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक फ़ारसी, मराठी, अँग्रेज़ी, फ्रैंच आदि भाषाओं में उपलब्ध मूल सामग्री के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त लिखी गई है, यह इसकी मुख्य विशेषता है। आशा है यह बी० ए०, एम० ए० तथा प्रादेशिक और संघीय प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिये तैयारी करने वाले विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी।

हमारे देश के इतिहास का पूर्व मध्ययुग जिसे सल्तनत युग कहते हैं, विदेशी सत्ता का इतिहास है। इसके विपरीत मुग़ल काल भारतीय राष्ट्रवाद तथा इस्लामी प्रभुत्व को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करने वाले प्रतिक्रियावादी तत्वों के बीच संघर्ष का युग है। दयनीय बात यह है कि मध्य एशिया से आने वाली मुग़ल तथा अन्य जातियों और उनके साथ आई संस्थाओं के भारतीयकरण की जो प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी, उसका प्रवाह शाहजहाँ के शासन काल में अवरुद्ध हो गया और औरंगज़ेब के समय में तो उसका पूर्णरूप से दमन कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सल्तनत युग की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ पुनः सक्रिय होने लगीं और उन्होंने राष्ट्रवादी तत्वों को अभिभूत कर दिया। यदि औरंगज़ेब भारतीय इतिहास के रंगमंच पर न आया होता और उसने भारत को दार-उल-इस्लाम में परिवर्तन करने का प्रयत्न न किया होता, तो भारतीय इतिहास किस दिशा में प्रवाहित होता, इस प्रकार की कल्पना करना निरर्थक है। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों ने भी आचरण तथा शासन व्यवस्था में उसी के मार्ग का अनुसरण किया और अन्त में वे अपने मन्त्रियों अथवा पेशवा के प्रतिनिधियों के हाथ की कठपुतली बन गए और कुछ हद तक अपनी कट्टरता त्यागने पर बाध्य हुए। आदर्शों के उपर्युक्त संघर्षों के बावजूद हमारे देश के इतिहास में प्रथम बार मुग़ल युग में हिन्दू तथा मुसलमान जनता के लिए जीवन के सभी क्षेत्रों में परस्पर सहयोग करना, एक सुदृढ़ साम्राज्य की नींव डालना तथा सार्वजनिक साहित्य, स्थापत्य, संगीत, चित्रकारी तथा अन्य ललित कलाओं का विकास करना सम्भव हो सका। भारतवासियों ने प्रशासन, वैदेशिक नीति, साहित्य, कला आदि विभिन्न मानवीय क्षेत्रों में जो सफलताएँ प्राप्त कीं, प्रस्तुत पुस्तक में उनका क्रमबद्ध वृतान्त देने का प्रयत्न

किया गया है। मराठा साम्राज्य के उत्थान तथा मुग़ल साम्राज्य के पतन पर भी प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत पुस्तक अंग्रेजी का अनुवाद नहीं वरन् यह हिंदी ही में लिखी गई है। मेरे पुत्र दया भानु ने परिश्रम से इसके प्रूफ़ देखे हैं।

आगरा कॉलेज,
आगरा
६ नवम्बर, १९५३

आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव

विषय-सूची

अध्याय ६

शाहजहाँ (१६२७—१६५८)

प्रारम्भिक जीवन (१५९२—१६२७)

शाहजहाँ का जन्म ५ जनवरी सन् १५९२ ई० को लाहौर में हुआ। उसकी माता सुप्रसिद्ध राजपूत रमणी जगत 'गोसाईं' मोटा राजा उदयसिंह की सुपुत्री थी। इसका बचपन का नाम ख़ुर्रम था। कुशाग्रबुद्धि और चतुर ख़ुर्रम में बचपन से ही बड़प्पन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे अत: वह अपने पितामह अकबर का सर्वप्रिय प्रपौत्र हो गया। अकबर ने उसकी शिक्षा दीक्षा स्वयं अपनी देख रेख में करानी आरम्भ की और उसे मुग़ल शासक वर्ग का सुयोग्य शासक बनाने में कोई कसर न उठा रखी। ख़ुर्रम को प्रारम्भ से ही फारसी साहित्य में विशेष अभिरुचि थी, किन्तु तुर्की भाषा तथा साहित्य उसके चाव का विषय न था। उसने व्यावहारिक हिन्दी का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त किया होगा। यद्यपि उसने अपने पिता की भाँति अपनी आत्म कथा नहीं लिखी परन्तु फिर भी फ़ारसी भाषा और साहित्य पर उसका अच्छा अधिकार था। इसके अलावा उसने इतिहास, राजनीति, भूगोल, धर्म शास्त्र आदि का अध्ययन किया। सैनिक शिक्षा उसकी शिक्षा का आवश्यक अंग थी, अत: थोड़े ही समय में ख़ुर्रम एक सुयोग्य सैनिक बन गया जो आक्रमणात्मक तथा रक्षात्मक शस्त्रों के प्रयोग में सिद्धहस्त हो गया। युद्ध कला तथा सैन्य संचालन में ख़ुर्रम ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। युवावस्था में पूर्ण रूप से पदार्पण करने से पहिले ही ख़ुर्रम समस्त साम्राज्य का श्रेष्ठ सेनानायक माना जाने लगा। ऐसी अभूतपूर्व थी उसकी प्रतिभा!

अपने पिता जहाँगीर के राज्य काल के प्रारम्भ में ही ख़ुर्रम को उसका उत्तराधिकारी समझा जाने लगा क्योंकि उसका बड़ा भाई ख़ुसरो अब पिता के प्रति दुर्व्यवहार के कारण जहाँगीर की दृष्टि में निरंतर गिरता जा रहा था। सन् १६०७ ई० में जहाँगीर ने इसे ८०,०० ज़ात और पाँच हज़ार सवार का मनसबदार बना दिया। सन् १६०८ ई० में हिसार फिरोज़ा की जागीर जो प्रायः मुग़ल युवराज को दी जाती थी ख़ुर्रम को दे दी गई। सन् १६१० ई० में उसका विवाह मुज़फ्फर हुसैन सफव्वी की पुत्री से सम्पन्न कर दिया गया और अगले ही वर्ष उसे १०,००० ज़ात और ५,०००

सवार का मनसबदार बना दिया गया। सन् १६१२ ई० में जब वह बीस वर्ष का हुआ उसका विवाह आसफखाँ की पुत्री अरजुमन्द बानू बेगम के साथ सम्पन्न हुआ। नूरजहाँ के बड़े भाई आसफखाँ के वंश से स्थापित इस विवाह सम्बन्ध से ख़ुर्रम, नूरजहाँ एतमादउद्दौला और आसफखाँ के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ। "नूरजहाँ-गुट्ट" ने दस वर्ष तक राज्य किया। इस अवधि में ख़ुर्रम को भावी सम्राट समझा जाने लगा और उसका मनसब बढ़ाकर ३०,००० ज़ात और २०,००० सवार का कर दिया गया। जहाँगीर के राज्य काल में ख़ुर्रम को अनेक प्रमुख युद्धों का संचालन करना पड़ा। उसका शासन-काल ख़ुर्रम की ही विजय-कीर्ति का इतिहास है। मेवाड़ विजय उसकी प्रारम्भिक सफलता थी। १६१४ ई० में एक सुसज्जित सेना ले वह राना के विरुद्ध मोरचा लेने भेजा गया। सफलता का सेहरा इसी के बंधना था, राणा अमरसिंह ने आत्म समर्पण कर दिया। ख़ुर्रम ने भी उसके साथ सम्मानपूर्वक बर्ताव किया। मेवाड़ विजय ने ख़ुर्रम की कीर्ति को चार चाँद लगा दिये और वह साम्राज्य का प्रमुख स्तम्भ समझा जाने लगा। इसके बाद उसे दक्षिण का गवर्नर नियुक्त कर शाह की उपाधि से विभूषित किया गया। राजकुमार ने अपनी कूट नीति तथा अथक परिश्रम से मलिक अम्बर को बालाघाट लौटाने और अहमदनगर तथा दूसरे दुर्गों को समर्पित करने के लिये सहमत कर लिया। इससे समस्त मुग़ल दरबार में राजकुमार की कूटनीति का सिक्का बैठ गया। जहाँगीर की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने मुक्त हस्त से ख़ुर्रम पर सम्मान की वर्षा की और गुजरात प्रान्त भी उसकी अध्यक्षता में सौंप दिया।

"नूरजहाँ गुट" के साथ मिले ख़ुर्रम को दस वर्ष ही बीते थे कि उसका भाग्य सितारा अचानक झिलमिलाने लगा। नूरजहाँ अपने दामाद शहरयार को उत्तराधिकारी घोषित करना चाहती थी, अतः ख़ुर्रम की कीर्ति में उसे अपने लक्ष्य की असफलता का आभास होने लगा, इसलिये वह उससे द्वेष करने लगी। अतः वह नित्य प्रति उसको आघात पहुँचाने का प्रयत्न करने लगी जिससे तंग आकर ख़ुर्रम ने विद्रोह कर दिया। शिकार की भाँति उसका जोरों से पीछा किया गया और उसे घोर कष्टों का सामना करना पड़ा। १६२६ ई० में वह फिर अपने पिता की शरण लेने को बाध्य हुआ। उसे क्षमा कर दिया गया और फिर वही सम्मान प्राप्त हुआ जो पहिले था।

सिंहासनारोहण, १६२८

जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात नूरजहाँ ने अपनी शक्ति को बनाये रखने का अन्तिम प्रयास किया। उसने अपने भाई आसफखाँ को जो कि ख़ुर्रम का श्वसुर और

उसका पूर्ण समर्थक था कैद करने का प्रयत्न किया, और अपने दामाद शहरयार को एक पत्र लिखा कि वह अपनी पार्टी को सुदृढ़ बनाने तथा अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न करे ताकि उत्तराधिकार संघर्ष में विजय प्राप्त की जा सके। परन्तु आसफखाँ एक कुटिल राजनीतिज्ञ था। वह एक क्षण में अपनी बहिन के इरादों को भाँप गया, इसलिये उसने सामाज्ञी से मिलने से मना कर दिया। प्रत्युत उसने साम्राज्य के प्रमुख व्यक्तियों और सभासदों को ख़ुर्रम की ओर कर ख़ुसरो के पुत्र दावर-बख़्श को सम्राट् घोषित कर दिया ताकि गद्दी खाली न रहे। साथ ही साथ उसने दक्षिण में शाहजहाँ को सूचना दी कि वह शीघ्रातिशीघ्र दिल्ली पहुँचे। इसी बीच ख़ुर्रम के प्रतिद्वन्दी शहरयार ने अपने आपको सम्राट् घोषित कर दिया और लाहौर स्थित शाही ख़ज़ाने पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ के अमीरों की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली। खुले हाथों खज़ाना लुटा कर उसने शीघ्र ही एक विशाल सेना एकत्रित कर ली। आसफखाँ जो शाहजहाँ की ओर से युद्ध की तैयारी कर रहा था, लाहौर के पास शहरयार से जा जूझा। शहरयार परास्त हुआ। उसे बन्दी बना लिया गया तथा उसकी आँखें निकलवा ली गईं। इसी बीच शाहजहाँ भी तेजी से दिल्ली की ओर झपटा। मार्ग के प्रमुख सरदारों विशेषतया मेवाड़ के राणा कर्ण ने उसका भव्य स्वागत किया। रास्ते में से ही उसने अपने श्वसुर को गुप्त सूचना भेजी कि दावर बख़्श सहित समस्त राजकुमारों को मौत के घाट उतार दिया जावे। शाहजहाँ के हृदय हीन श्वसुर ने इस आदेश का अक्षरशः पालन किया। सन् १६२८ ई० की फरवरी के प्रारम्भिक सप्ताह में वह आगरा के निकट आ पहुंचा और एक अत्यन्त शुभ घड़ी में शहर में प्रवेश किया और अत्यन्त हर्ष व उल्लास के साथ गद्दी पर बैठा। उसके नाम का ख़ुतबा पढ़ा गया। आसफखाँ को ८,००० ज़ात और ८,००० सवारों का मनसब प्रदान कर साम्राज्य का वज़ीर नियुक्त किया गया। महावत खाँ का मनसब बढ़ा कर ७,००० ज़ात और ७,००० सवार का कर दिया गया और उसको ख़ान-ख़ाना की उपाधि से विभूषित किया गया। नूरजहाँ को एक उचित पेन्शन दे दी गई। अब उसने लाहौर के निकट शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। यहीं उसने अपने मृतक पति की यादगार में एक मकबरा बनवाया और दान-दक्षिणा के अनेक कार्य करने के उपरान्त सन् १६४२ ई० में मृत्यु को प्राप्त हुई।

ख़ानजहाँ लोदी का विद्रोह, १६२८—३१

शाहजहाँ के शासन काल में कई विद्रोह हुए। इनमें सब से पहिला विद्रोह ख़ानजहां लोदी का था। ख़ानजहाँ एक योग्य परन्तु उपद्रवी अफसर था। उसे दक्षिण में शाहज़ादा परवेज़ का सलाहकार नियुक्त करके भेजा गया था। वह हिन्दुओं

से घृणा करने वाला भावुक तथा उग्र सैनिक था। अपने पद काल में निज़ाम शाह से घूस ले उसने बालाघाट का प्रदेश उसे समर्पित कर दिया। जहाँगीर की मृत्यु के उपरान्त उसने शहरयार का पक्ष लिया। अपने निवास स्थान बुरहानपुर में थोड़े से दुर्ग रक्षकों को छोड़कर शेष सेना सहित वह माँडू के दुर्ग पर अधिकार करने के उद्देश्य से उत्तर की ओर बढ़ा, लेकिन उसका प्रयत्न असफल रहा। विजयोन्मुख शाहजहाँ पहिले ही अजमेर पहुँच चुका था और यह विश्वास हो चला था कि वही सम्राट होगा, अतः खानजहाँ लोदी की बहुत सी सैनिक टुकड़ियाँ विशेष कर उसकी हिन्दू सेना ने उसका साथ छोड़ दिया। फलस्वरूप खानजहाँ आत्मसमर्पण करने को बाध्य हुआ। शाहजहाँ ने उसे क्षमा कर दिया तथा दक्षिण की सूबेदारी भी उसे पूर्ववत प्रदान कर दी और उसे वापिस बुरहानपुर जाने का आदेश मिला। वह दक्षिण पहुँचा ही था कि शाहजहाँ ने उसे बालाघाट पुनः जीतने का आदेश भेजा, लेकिन वह उसे जीतने में असमर्थ रहा अतः उसे वापिस बुला लिया गया और उसके बदले महाबत खाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया गया। परन्तु आगरा आकर ख़ानजहाँ प्रसन्न न हुआ। वह वहाँ के वातावरण से सन्तुष्ट न हो सका। कुछ कालोपरान्त उसने राज सभा में प्रतिदिन जाना भी छोड़ दिया। यद्यपि उसे फिर क्षमा कर दिया गया, वह सन्तुष्ट न हो सका और दक्षिण को भाग जाने की तैयारी करने लगा। उसका पीछा किया गया। चम्बल नदी के पास शाही सेना और ख़ानजहाँ की सेना में घोर युद्ध हुआ। इसी बीच ख़ानजहाँ अपने पुत्र तथा कुछ साथियों सहित चम्बल को पार कर दक्षिण की ओर भाग गया, परन्तु वह अपनी स्त्रियों और ख़ज़ाने को साथ न ले जा सका। शाही सेना ने उन पर अधिकार कर लिया। बुन्देलखड और गोंडवाना को पार कर ख़ानजहाँ अहमदनगर पहुँचा। निज़ामशाही सुल्तान ने उसका स्वागत किया और उसे कुछ वीर सैनिक तथा कुछ भूभाग जो उस समय मुगलों के अधिकार में था, इस आदेश के साथ जागीर के रूप में दे दिया कि वह उसे मुगलों से वापिस ले ले। ख़ानजहाँ लोदी ने शाही सेना पर आक्रमण कर इस भाग को छीन लिया। परिस्थिति ने इतना विकट रूप धारण किया कि १६२९ ई० में शाहजहाँ को स्वयं दक्षिण की ओर जाना पड़ा। वहाँ पहुंचकर आततायियों को दण्ड देने के लिये उसने एक विस्तृत योजना बनाई। चूँकि शाहजहाँ को दक्षिण की राजनीति का पूर्ण ज्ञान था इसलिये उसे यह जानने में देर न लगी कि अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुंडा के राज्य पारस्परिक ईर्ष्या के कारण मुग़लों के विरुद्ध संगठित मोर्चा न खोल सकेंगे। वह यह भी जानता था कि मरहठे इस भाग में उत्पात मचा विचित्र संकट उत्पन्न कर सकते हैं, इसलिये उदार वेतन द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर शाहजहाँ ने उनसे लाभ उठाना श्रेयस्कार समझा। इस प्रकार

परिस्थिति को अनुकूल कर उसने विद्रोही ख़ानजहाँ पर आक्रमण करने के लिये तीन ओर से सेना भेजने की योजना बनाई। उनमें से एक अबुल हसन के नेतृत्व में धुलिया की ओर गुजराज की ओर से आने वाले रसद-मार्ग पर अधिकार करने तथा अहमदनगर को उत्तर पश्चिम से आतङ्कित करने के लिये भेजी गई। दूसरी सेना शत्रु पर उत्तर पूर्व दिशा से आक्रमण करने के लिये बरार के दक्षिण देवल गाँव में स्थित की गई और तीसरी सेना तैलङ्गाना की ओर भेजी गई ताकि ख़ानजहाँ पर उस ओर से आक्रमण किया जा सके। योजना को सफल बनाने के लिये मरहठे पर्याप्त संख्या में भर्ती कर लिये गये। दक्षिण तथा गुजरात आदि निकटवर्ती प्रान्तों में अनावृष्टि से उत्पन्न खाद्य संकट के होते हुए भी एक भयंकर युद्ध हुआ। ख़ानजहाँ हार गया और दौलताबाद में शरण लेने के लिये बीजापुर भाग गया, परन्तु उसे आश्रय न मिल सका। शाही सेनाओं ने उसका पीछा किया। इतिहास प्रसिद्ध शिवाजी के पिता शाह जी भोंसले ने जो अहमदनगर की नौकरी छोड़कर शाहजहाँ की सेना में भर्ती हो चुके थे, मुगलों की बड़ी सहायता की। ख़ानजहाँ लोदी के साथियों ने यत्र तत्र शाही इलाके पर आक्रमण किये। जहाँ तहाँ उनसे मुठभेड़ होती रही। इसी बीच अहमदनगर के सुलतान ने जो ख़ानजहाँ लोदी का बड़ा सहायक था, शाहजहाँ से अपने इस कार्य पर बड़ा पश्चाताप प्रगट किया और उसने विद्रोहियों को अपने राज्य से निकाल दिया। अब ख़ानजहाँ मालवा को पार कर उत्तर की ओर भागा। उसे आशा थी कि पंजाब पहुँचने पर उत्तरी पश्चिमी सीमा के अफ़ग़ान उसका साथ दे देंगे। शाहजहाँ ने अपनी सेना का एक अंग ख़ानजहाँ को पकड़ने के लिये भेजा। बुन्देलखंड के राजा जूझर सिंह का सुपुत्र विक्रमजीत जिसने विद्रोह के प्रारम्भ में ख़ानजहाँ को बुन्देलखंड में होकर निकल जाने की सुविधा प्रदान की थी, इस बार विद्रोही पर टूट पड़ा और १६३१ ई० के जनवरी मास में दरिया खाँ तथा उसके अनेक साथियों को मौत के घाट उतार दिया। खानजहाँ लोदी भाग खड़ा हुआ, लेकिन वर्तमान उत्तर प्रदेश के बाँदा ज़िले के 'सिहोंसदा' नामक स्थान पर पकड़ा गया और मारा गया।

बुन्देलखण्ड का विद्रोह, १६२८—२९

शाहजहाँ के शासन काल का दूसरा विद्रोह बीर सिंह देव बुन्देला के पुत्र जूझर सिंह का था। बीरसिंह बुन्देला ने अकबर के विद्रोही पुत्र भूतपूर्व सम्राट जहाँगीर के इशारे से अबुल फ़ज़ल को क़त्ल कर दिया था। अपनी जाति की वीरता, अपने देश की भौगोलिक स्थिति तथा अपने पिता पर भूतपूर्व सम्राट् द्वारा की गई कृपाओं के कारण जूझर सिंह को मुग़ल सरदारों में उच्च पद तथा प्रतिष्ठा प्राप्त थी। शाहजहाँ के राज्याभिषेक के उपरान्त अपने लड़के विक्रमजीत सिंह पर शासन का भार सौंप वह सम्राट

की सेवा के लिये आगरा चला गया। उसकी अनुपस्थिति में विक्रमजीत सिंह ने अपने निर्दयतापूर्ण व्यवहार तथा अत्यधिक मालगुजारी एकत्रित करके अपनी प्रजा की सहानुभूति खो दी। इसी बीच नये सम्राट् शाहजहाँ ने जूझर सिंह द्वारा एकत्रित करों की जाँच पड़ताल की आज्ञा दे दी। इस आज्ञा से जूझर सिंह भयभीत हो उठा और वह मुग़ल दरबार छोड़ ओरछा लौट आया। वहाँ पहुंच वह अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा। कुछ समय तक शाहजहाँ राजा के विरुद्ध कोई कार्यवाही न कर सका, क्योंकि उसका ध्यान ट्रान्स ओक्सियाना के प्रमुख जामिद द्वारा सीमान्त प्रान्त काबुल पर किये गये आक्रमण की ओर आकर्षित था। लेकिन ज्योंही सीमान्त संकट समाप्त हुआ उसने महावत खाँ को बुन्देलखंड के विद्रोह को शान्त करने का आदेश दिया। महावत खाँ की सहायता करने के लिये दो और सेनायें—एक अब्दुल खाँ के नेतृत्व में पूर्व से तथा दूसरी ख़ानजहाँ के नेतृत्व में दक्षिण से भेजी गई। जूझर सिंह का एक सम्बन्धी भारत सिंह जिसकी लालायित आँखें सदैव बुन्देलखंड की ओर लगी रहती थीं, जूझर सिंह के विरुद्ध शाही सेना को मदद देने के लिये तोड़ लिया गया। शाहजहाँ, जिसे बुन्देला शौर्य का पूर्ण ज्ञान था, बुन्देलों को अपनी उपस्थिति से भयभीत करने के उद्देश्य से स्वयं बुन्देलखण्ड के पड़ौसी राज्य ग्वालियर में जनवरी १६२७ ई० में जा पहुँचा। अब्दुल्ला खाँ ने आक्रमण करके ईरछ पर जो कि अब झाँसी ज़िले में है, अधिकार कर लिया और ख़ानजहाँ ने दक्षिण की ओर से बुन्देलखंड को तहस नहस करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार जूझर सिंह चारों ओर से घिर गया। अपनी प्रजा के कई प्रमुख व्यक्तियों के विरोध से तंग आकर तथा सुदृढ़ शाही सेनाओं का सामना कर सकने में अपनी असमर्थता का अनुभव कर उसने आत्मसमर्पण कर दिया और अपनी जागीर के एक भाग को शाहजहाँ को अर्पित करने तथा दक्षिण में जाकर सम्राट् की सेवा करने को सहमत हो गया। अतः फरवरी १६२६ ई० में उसे क्षमा प्रदान कर दी गई।

सन् १६३५-३६ में फिर जूझर सिंह के विद्रोह ने बुन्देलखन्ड की शान्ति को भंग कर दिया। उसने दक्षिण में पाँच वर्ष पूर्ण स्वामिभक्ति से सेवायें की। दौलताबाद पर अधिकार करने वालों में वह प्रमुख व्यक्ति था। सन् १६३४ ई० में जब वह ओरछा लौटा तो उसने गोंडवाना विजय की एक महत्वपूर्ण योजना बनाई। यद्यपि बुन्देलखन्ड के दक्षिण में स्थित गोंडवाना मुग़लों के अधीन था परन्तु उस समय उसका शासन उनके हाथों में नहीं था। आक्रमण का उद्देश्य १६२६ में हुई क्षति को पूर्ण करना था। १६३५ ई० में उसने चौरागढ़ का घेरा डाल दिया और शाहजहाँ की चेतावनी की परवाह न करते हुए वहाँ के राजा प्रेमनारायण को मरवा डाला। मृतक के पुत्र ने शाहजहाँ से जूझर सिंह के विरुद्ध अपील की, परन्तु शाहजहाँ

ने गोंडवाना उचित उत्तराधिकारी को लौटाने के बदले जूझर सिंह को आज्ञा दी कि वह या तो गोंडवाना सम्राट को दे दे अथवा उसके बदले अपनी स्वयं की जागीर छोड़ दे और पाँच लाख रुपया जुर्माने के रूप में इसलिए दे कि बिना राजाज्ञा वह गोंडवाना पर क्यों जा धमका। जूझर सिंह ने आज्ञा की अवहेलना ही नहीं की वरन् अपने पुत्र जगराज को दक्षिण में कहला भेजा कि वह शाही सेना से सम्बन्ध विच्छेद कर अपनी सेना सहित वापिस चला आवे। इस पर शाहजहाँ क्रोधान्ध हो उठा और उसने इस विद्रोह का दमन करने के लिये औरंगज़ेब को भेजा। कठिनाइयों के होते हुए भी औरंगज़ेब ने ओरछा पर धावा बोल दिया और स्वयं धमोनी की ओर बढ़ा जहाँ कि जूझर सिंह ने शरण ले रक्खी थी। इस पर यह बुन्देला सरदार चौरागढ़ में जा छिपा। धमोनी की विजय के उपरान्त औरंगज़ेब चौरागढ़ की ओर बढ़ा। इस पर जूझर सिंह वहाँ के ६,००० सैनिक, ६० हाथी और अपने परिवार व ख़ज़ाने सहित दक्षिण की ओर भाग निकला। मुग़लों ने उसका पीछा किया। कोई उपाय न पा जूझर सिंह अपनी कुछ स्त्रियों को मार डालने के पश्चात् मुग़लों पर टूट पड़ा, लेकिन हार गया। बुन्देले तितर बितर हो गये। जूझर सिंह तथा उसका पुत्र विक्रमजीत सिंह दोनों को गोंडों ने मार डाला। उनके सिर काटकर दिसम्बर १६३५ ई० में शाहजहाँ के पास भेज दिये गये। उसकी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही जब उसे ज्ञात हुआ कि इस आक्रमण से पचास लाख रुपया लूट में प्राप्त हुआ है। बुन्देला स्त्रियों को जौहर करने का समय न मिल सका और यद्यपि बीर सिंह देव की विधवा पत्नि रानी पार्वती तथा कुछ और स्त्रियों को उनेक पुरुषों ने स्वयं क़त्ल कर दिया था, फिर भी कई स्त्रियाँ बन्दी बना ली गईं। उनको शाही महल में प्रविष्ट कर लिया गया जहाँ वे दुख के आँसू बहाती रहीं। जूझर सिंह के दो लड़कों को मुसलमान बना लिया गया और तीसरे को इसलिये तलवार के घाट उतार दिया गया कि उसने मुसलमान बनना अस्वीकार कर दिया था। ओरछा के भव्य भवन मसजिदों में बदल दिये गये। वहाँ के सुन्दर मन्दिर तथा अन्य पवित्र स्थानों को अपवित्र कर पूर्णतया नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया। ओरछा जूझर सिंह के सम्बन्धी देश-द्रोही देवी सिंह को दे दिया गया क्योंकि उसने जूझर सिंह के विरुद्ध मुग़लों की सहायता की थी, लेकिन बुन्देलों ने उसे अपना राजा मानने से इन्कार कर दिया। महोबा के चम्पत राय ने देवी सिंह के भद्दे आचरण के कारण उसकी अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उसके प्रसिद्ध लड़के छत्रसाल ने कई वर्षों तक शाहजहाँ की धर्मान्धता तथा बुन्देल परिवार के साथ किये गये असभ्य व्यवहार के प्रति विरोधस्वरूप अपनी स्वतन्त्रता का युद्ध जारी रखा।

दक्षिण की समस्या—१

दक्षिण के सम्बन्ध में शाहजहाँ ने भी अपने पूर्वजों की दक्षिण विजय की

नीति को जारी रक्खा। ख़ानजहाँ के विद्रोह के पश्चात् उसने दक्षिणी सूबे का कार्य-भार सम्भालने के लिये आज़म खाँ को नियुक्त किया। आज़म खाँ ने अहमदनगर के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया और धारुर के दुर्ग पर अधिकार करके परेण्डा के दुर्ग का घेरा डाल दिया। परन्तु दक्षिण की विशेष कठिनाइयों के कारण वह युद्ध में अधिक प्रगति न कर सका। अहमदनगर और बीजापुर के सुल्तानों में पूर्ववत् मनोमालिन्य बना रहा। अतः वह दोनों मुग़लों के विरुद्ध एक न हो सके। बीजापुर के पदाधिकारियों में मुगलों के प्रति अपनाई जाने वाली नीति के विषय में पर्याप्त मतभेद था। एक दल उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था तो दूसरा उन्हें शत्रु समझ उनसे घोर युद्ध करने के पक्ष में था। अनावृष्टि के कारण खाद्य सामग्री उपलब्ध होने में बड़ी कठिनाई थी, यहाँ तक कि ४० मील के वृत्त में घोड़ों के लिये घास तक प्राप्त नहीं हो सकती थी। फिर भी जब शाहजहाँ स्वयं घटना-स्थल पर आया तो मुग़ल कन्धार के छोटे किले पर जो बालाघाट के पूर्वी पक्ष पर स्थित था, अधिकार करने में सफल हुए और उन्होंने बरार, नासिक तथा संगमनेर को नष्ट कर दिया।

इसी बीच १७ जनवरी सन् १६३१ ई० को शाहजहाँ की प्राणप्रिय बेग़म मुमताज़ महल की मृत्यु होगई। इससे शाहजहाँ को जो दुख हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसको बुरहानपुर के पास ही एक बाग में दफना दिया गया। बाद में उसका शव आगरा मंगा लिया गया, जहाँ उसको एक बाग में दफना कर उसकी कब्र पर संसार प्रसिद्ध ताजमहल नामक मकबरा बनवाया गया।

मुमताज़ महल का जीवन

मुमताज़ महल का जन्म का नाम अरजुमन्द बानू बेग़म था। यह इत्मादुद्दौला के लड़के नूरजहाँ के भाई आसफ खाँ की पुत्री थी। उसका जन्म १५९४ ई० में हुआ। खुर्रम १६ वर्ष का ही था कि उसके साथ इसकी मंगनी निश्चित हो गई और अप्रैल सन् १६१२ ई० में विवाह सम्पन्न हुआ। यह विवाह अत्यन्त सफल विवाह सिद्ध हुआ। अरजुमन्द बानू बेग़म ने शाहजहाँ को पूर्णतया अपने प्रेम-पाश में बाँध लिया। इनका प्रेम नूरजहाँ तथा जहाँगीर के प्रेम से भी आगे बढ़ गया। मुमताज़ महल ने शाहजहाँ के जीवन में सुख और दुख दोनों में पूर्ण रूप से एक पतिव्रता पत्नी की भाँति भाग लिया और उस समय जब कि ख़ुर्रम अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करता हुआ दक्षिण से उड़ीसा, बंगाल तथा बिहार में भागा फिर रहा था, तब मुमताज़ महल परछाई की भाँति उसके साथ रही। इसके १४ बच्चे हुए और वह मृत्यु पर्यन्त सदैव अपने पति की प्रिय बनी रही। वह शाहजहाँ की मुख्य पत्नी थी और उसको 'मलिका-ए-ज़मानी' की उपाधि प्राप्त थी। शाही मुहर

उसके ही अधिकार में रहती थी। सन् १६३१ में प्रसव पीड़ा के समय बुरहानपुर में जब कि शाहजहाँ दक्षिण विजय में व्यस्त था, उसकी मृत्यु हुई।

मुमताज़ महल सुशिक्षित तथा सुयोग्य गृहिणी थी। उसका अतुल प्राकृतिक सौन्दर्य बाह्य उपादानों से अत्यन्त मनोहर हो उठता था। वह अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न और सुहृदया थी। दान-दक्षिणा देना, गरीब, विधवा अपाहिज और अनाथों की सहायता करना इसके चरित्र की विशेषता थी। उसकी दासी सतीउन्निसा ख़ानम उसकी विशेष सलाहकार तथा मानवी कार्यों में उसकी परामर्शदात्री थी। मुमताज़ महल पवित्र जीवन, पूजा पाठ और उपवास आदि की निष्ठा में विश्वास रखने वाली इस्लाम धर्म की उपासिका थी। लेकिन उसकी धार्मिकता अन्ध-विश्वास और रूढ़ि के रंग में रंगी हुई थी। ईसाई और हिन्दू धर्मों के प्रति शाहजहाँ की वक्र दृष्टि का बहुत बड़ा कारण मुमताज़ महल की धर्मान्धता थी। भारतीय इतिहास में शायद ही किसी दूसरी मुग़ल साम्राज्ञी को इतना पति प्रेम प्राप्त हुआ हो जितना मुमताज़ महल को प्राप्त था। आगरा का ताज महल इस दाम्पत्य-प्रेम का अद्वितीय स्मारक है।

दक्षिण की समस्या—२

इसी बीच दक्षिण की राजनैतिक दशा प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। अहमदनगर में मलिक अम्बर का पुत्र फ़तह खाँ बादशाह बनाने वाला बना हुआ था। उसने अहमदनगर के सुल्तान को कैद करा लिया और उसके स्थान पर हुसैन नामक एक शाही वंशज को सुल्तान बना दिया था। हुसैन केवल १० वर्ष का बच्चा था। किंचित सोचने के उपरांत उसने मुग़लों के कथनानुसार कार्य करना बन्द कर दिया। लेकिन जब शाहजहाँ ने रुस्तम खाँ के नेतृत्व में दौलताबाद पर अधिकार करने के लिये एक सुदृढ़ सेना भेजी तो फ़तह खाँ भयभीत हो गया और उसने आत्म-समर्पण कर दिया। बीजापुर ने कुछ समय तक शाही सेना का सामना किया और शाहजहाँ को विवश होकर आसफ ख़ाँ को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश देना पड़ा। मुग़लों ने गुलबर्गा पर अधिकार कर लिया और बीजापुर का घेरा डाल दिया। लेकिन अकाल से उत्पन्न खाद्य-संकट के कारण आसफ खाँ को लाचार होकर घेरा हटाना पड़ा और वह मिराज लौट आया। इस पर शाहजहाँ उससे बहुत अप्रसन्न हुआ। उसने आसफ खाँ को राज दरबार में वापिस बुला लिया और महाबत खां को दक्षिण का सेनानायक नियुक्त कर बीजापुर विजय का आदेश दिया।

सन् १६३०-३१ ई० में दक्षिण और गुजरात को एक विकराल अकाल का सामना करना पड़ा। अकाल खान देश तक फैल गया। हज़ारों व्यक्ति भूख

से मर गये। उस अकाल की दुर्दशा का वर्णन तत्कालीन इतिहासकार मिराज़ अमीन काज़्वीनी ने इस प्रकार किया है, "भूख के कारण हज़ारों व्यक्ति अपने बच्चों को खा गये। हड्डी का चूर्ण आटे में मिला कर प्रयोग किया गया। कुत्तों का गोश्त खाद्य-सामग्री बन गया। अकाल के तुरन्त बाद महामारी के प्रचण्ड प्रकोप ने अनेक ग्राम व नगरों को ऊजड़ कर दिया। नगरों की नालियां मुर्दों से ठँस गईं और अनेक व्यक्ति उत्तरी भारत की ओर भाग गये। शाहजहां ने इस दारुण दुख को कम करने का प्रयत्न किया। उसने बुरहानपुर, अहमदनगर, सूरत तथा अन्य स्थानों पर भूखों को खाना खिलाने के लिये भोजनालय खोले, रुपया भी वितरण किया और ७० लाख रुपयों की मालगुजारी माफ कर दी। जागीरदारों ने भी अपनी जागीर में मालगुजारी की छूट दे दी और जनता के कष्ट-निवारण के लिये आवश्यक कार्यवाही की।

पुर्तगालियों से युद्ध

पुर्तगाली बंगाल में हुगली नदी के किनारे बस गये थे। शाहजहां के गद्दी पर बैठने के समय उन्हें बंगाल में बसे हुए लगभग सौ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस बीच में उन्होंने अपनी शक्ति को काफी दृढ़ बना लिया था और हुगली को आधार बना उन्होंने भारत, चीन, मलुक्का तथा मनीला के अनेक स्थानों से व्यापार करना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने अपनी बस्ती में रहने वाले अनेक व्यक्तियों का धर्म परिवर्तन कर उन्हें ईसाई बना दिया था। अपनी बस्तियों में वह स्वतन्त्र राज्य का सा आचरण करते थे। उनमें से कुछ समुद्री डाकू बन गये थे तथा कुछ ने बंगाल के समृद्ध पूर्वी भू भागों में लूट मार प्रारम्भ कर दी थी। ये पुर्तगाली मुस्लिम सीमा में रहने वाली शांति प्रिय प्रजा के दैनिक जीवन में भी हस्तक्षेप करते रहते थे। लेकिन फिर भी जहांगीर के समय में इन्हें अपने कृत्यों का कोई दन्ड न मिला। शाहजहां के काल के आरम्भ में बंगाल के गवर्नर कासिम खां ने सूचना भेजी कि पुर्तगालियों ने अपनी बस्तियों की सुरक्षा का दृढ़ प्रबन्ध कर लिया है, जहाजों पर कर लगा दिया है और सतगांव को नष्ट प्राय: कर दिया है तथा वे गुलामों को बेचते और लूट मार करते रहते हैं। शाहजहाँ तो पुर्तगालियों से पहले ही अप्रसन्न था क्योंकि जब शाहजहाँ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था तो उन्होंने उसका साथ नहीं दिया था और न उसके बादशाह बनने के बाद उसे यथोचित भेंट ही भेजी थी। लेकिन उनका सब से बड़ा अपराध बेगम मुमताज़ महल के लिये लाई गई दो दासी कन्याओं की नावों को ले भागना था। इन सब कारणों से अप्रसन्न होकर शाहजहाँ ने कासिम खाँ को इन विदेशी आततायियों को दन्ड देने की आज्ञा दी। पुर्तगालियों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने का तत्कालीन कारण भी मिल गया जब

कि एलफोन्सो नामक एक पुर्तगाली व्यापारी ने हुगली नदी में स्थित किसी जर्मान को लौटाने की अपील बंगाल के गवर्नर से की। कासिम खाँ ने एक बड़ी सेना इकट्ठी कर ली और अनेक नावें एकत्रित कर हुगली पर आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण जल और थल दोनों ओर से था। आक्रमण को विफल कर दिया गया और शान्ति वार्ता आरम्भ हुई। पुर्तगाली उन दासी कन्याओं को देने को प्रस्तुत हो गये परन्तु उन्हें हस्तान्तरित करते समय उन्होंने कठिनाइयाँ उत्पन्न कीं। इस पर मुग़लों को दूसरा आक्रमण करना पड़ा। इस बार वे पुर्तगाली बस्ती में प्रविष्ट होने में सफल हुए। बस्ती का घेरा पाँच सप्ताह तक जारी रहा। उस पर गोलाबारी करने के लिये बहुत सी तोपें मंगवाई गईं। पुर्तगालियों ने विवश होकर फिर संधि की बातचीत प्रारम्भ कर दी और वे मुग़लों को दो लाख रुपया देने को तैयार हो गये। लेकिन सन्धि न हो सकी। इसी बीच पुर्तगालियों ने अपनी स्थिति को संकटमय देख नावों में बैठकर शहर को खाली कर देना उचित समझा। नाव में सवार होने से पहले मुग़लों ने उन पर हमला कर दिया। उनके भागते भागते एक भीषण युद्ध हुआ। लगभग ३,००० पुर्तगाली बच भागे और चार सौ के करीब गिरफ्तार करके आगरा लाये गये। उनसे इसलाम धर्म स्वीकार करने को कहा गया और मना करने पर उन्हें कैद कर लिया गया। शाहजहाँ की पुर्तगाल नीति का समर्थन राजनैतिक दृष्टिकोण से अवश्य किया जा सकता है क्योंकि पुर्तगालियों ने शाहजहाँ को अप्रसन्न करने के काफी कारण उत्पन्न कर दिये थे। लेकिन कैदियों को इस्लाम धर्म स्वीकार कराने के उसके कृत्य को हम उसकी धर्मान्धता और असहिष्णुता कह कर ही पुकारेंगे। वास्तव में शाहजहाँ का यह कृत्य घृणित था।

दक्षिण की समस्या—२

समयान्तर में दक्षिण की लड़ाई भी मंद गति से जारी रही। शिवाजी के पिता शाहजी ने मुग़लों को आत्म समर्पण कर दिया और उसके बदले उसे कुछ भूमि जो पहिले अहमदनगर के निवासी मलिक अम्बर के पुत्र फ़तह खाँ के पास थी जागीर के रूप में दे दीगई। कुछ समय बाद जब आसफ खाँ के संकेत और आदेश के अनुसार फ़तह खाँ ने अपने स्वामी निज़ामशाही सुल्तान को मार डाला तब उसे यह जमीन फिर प्रदान कर दी गई। यह शाहजी को बहुत बुरा लगा। क्रोधोन्मत्त हो उसने बीजापुर के सुल्तान की नौकरी कर ली और प्रण किया कि वह फ़तह खाँ से दौलताबाद छीन कर रहेगा। फतह खाँ यह सुनकर बहुत भयभीत हुआ और उसने यह किला मुग़ल सेनानायक महाबत खाँ को देने का वचन दिया और स्वयं मुग़ल सेना में भरती हो गया। महाबत खाँ ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और फ़तह खाँ

की सहायता से बीजापुर की सेना को हरा दिया। लेकिन बीजापुर सेना के सेनापति रनदौला ख़ाँ ने – यद्यपि वह हार गया—एक भारी उत्कोच देकर फ़तह ख़ाँ को अपनी ओर मिला लिया और मुगलों का साथ छुड़ा दिया। इस पर महाबत ख़ाँ ने दौलताबाद का घेरा डाल दिया और उसने इसको १६३३ ई० में ३॥ माह के घेरे के उपरान्त समस्त युद्ध सामग्री सहित हस्तगत कर लिया। महाबत खाँ ने निज़ामशाही स्त्रियों को गढ़ छोड़ने की सुविधा दे दी। फ़तह ख़ाँ और अहमदनगर का शाह निज़ाम जो कि अभी केवल एक बालक था दोनों शाही दरबार में भेज दिये गये। सुल्तान को आजन्म कारावास का दंड दे ग्वालियर के किले में रक्खा गया और फ़तह खाँ को पेन्शन देकर लाहौर में रहने की आज्ञा दे दी गई। परन्तु दौलताबाद के पतन के पश्चात् भी अहमदनगर राज्य समाप्त नहीं हुआ। इस राज्य के कुछ भाग जैसे कि बालाघाट का प्रदेश अब भी अहमदनगर के अफसरों के हाथों में बना रहा और ये अफसर उस सुल्तान के प्रति, जिसको कि मरहठा सरदार शाहजी ने हुसेन निज़ाम शाह के स्थान पर गद्दी पर बैठाया था, सदैव स्वामिभक्त बने रहे। वर्तमान पूना जिले का उत्तरी भाग और समस्त कोंकण प्रदेश मरहठा सरदारों के अधिकार में रहा। शाहजी की अधीनता में मरहठे सदैव मुग़लों को तंग करते रहे। अब महाबत खाँ ने परेण्डा पर अधिकार करने की तैयारी कर दी और एक दूसरी सेना शाह जी को जुन्नार तक पीछे हटा देने के लिये भेजी। परन्तु भरसक प्रयत्न करने के उपरान्त भी वह परेण्डा पर अधिकार न कर सका और राजकुमार शुजा के साथ, जो कि दक्षिण का नाम मात्र का सेनानायक था, बुरहानपुर लौट आया। शाहजहाँ ने महाबत खाँ को उसकी असफलता के लिये बहुत बुरा भला कहा। इससे दुखी होकर अक्टूबर सन् १६३४ में उसका देहान्त हो गया।

मुग़ल सेनाओं को दक्षिण से वापिस बुलाने का यह परिणाम हुआ कि उस प्रदेश में फिर गड़बड़ होने लगी। मरहठों की लूट मार के अतिरिक्त बीजापुर राजदरबार षड्यन्त्रों का केन्द्र बना रहा। इसलिये शाहजहाँ १६३६ ई० के प्रारम्भ में ही बीजापुर तथा गोलकुंडा को सदैव के लिये शान्त करने के उद्देश्य से दक्षिण की ओर रवाना हुआ। दौलताबाद पहुंच कर उसने बीजापुर के सुल्तान के पास पत्र भेजे। इन पत्रों में उसने सुल्तान से यह मांग की कि वह अधीनता स्वरूप प्रति वर्ष कुछ भेंट बादशाह को दे तथा बीजापुर से मरहठों तथा अहमदनगर के अन्य सहायकों को निकाल दे। चूंकि सुल्तान ने इन शर्तों को स्वीकार नहीं किया इस लिये शाहजहाँ ने बीजापुर पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इससे सुल्तान बहुत भयभीत हुआ और उसने फिर सुलह की बातचीत प्रारम्भ की तथा एक नई

सन्धि जिसकी शर्तें शाहजहाँ ने स्वयं निश्चित कीं स्वीकार करने को सहमत हो गया। बीजापुर ने मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली और प्रति वर्ष २० लाख रुपया देना स्वीकार किया। उसने यह भी वचन दिया कि वह गोलकुंडा नरेश के साथ भी मैत्री सम्बन्ध बनाये रक्खेगा तथा गोलकुंडा से सम्बन्धित अपने सब झगड़े सम्राट की मध्यस्थता से सुलझायेगा। इस सन्धि के अनुसार अहमदनगर की सीमा निर्धारित कर दी गई तथा परेण्डा तथा कोंकण बीजापुर के अधिकार में रख दिये गये। बीजापुर नरेश ने वचन दिया कि यदि शाहजी ने जुन्नार तथा त्रिम्बक का निकटवर्ती प्रदेश मुग़लों को न सौंपा तो वह शाहजी के विरुद्ध मुगलों की सहायता करेगा। यह संधि मई सन् १६३६ ई० में हुई और नवम्बर १६५६ तक बनी रही। शाहजहाँ अब गोलकुंडा की ओर आकृष्ट हुआ। गोलकुंडा के साथ शर्तें तय करना अधिक कठिन न था क्योंकि वहां का सुल्तान अहमदनगर तथा बीजापुर की अपेक्षा अधिक नम्र था। इसके अतिरिक्त जब शाहजहाँ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था तो गोलकुंडा ने शाहजहाँ की सहायता की थी। गोलकुंडा के नए सुल्तान अब्दुल्ला कुतबशाह ने भी १६३१ ई० के प्रारम्भ में शाहजहाँ की सेना में जब वह ख़ानजहाँ लोदी के विद्रोह को दबाने के लिये दक्षिण आया था, एक अमूल्य भेंट भी भेजी थी। गोलकुंडा ने उस समय जब कि महाबत खाँ ने बीजापुर पर हमला किया था तब बीजापुर सुल्तान की सहायता करने से भी मना कर दिया था। परन्तु इन कारणों के होते हुए भी दोनों की वास्तविक मित्रता होने में एक कठिनाई थी। शाहजहाँ कट्टर सुन्नी था जब कि गोलकुंडा का सुल्तान पक्का शिया था और वह फारस के बादशाह को अपना मुखिया मानता था। इसलिये शाहजहाँ ने यह मांग पेश की कि गोलकुण्डा में शिया रीति-रिवाजों का पालन न किया जाय तथा ख़ुतबे में से फारस के बादशाह का नाम हटा दिया जाय। गोलकुंडा का सुल्तान थोड़ी आनाकानी करने के उपरान्त शीघ्र ही ऐसा करने को राजी हो गया। ख़ुतबे में शाहजहाँ का नाम रख दिया गया। गोलकुंडा की सीमा पर से मुग़ल सेनायें हटा ली गईं और दोनों के बीच एक नई सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये।

संधि की शर्तें यह थीं कि ख़ुतबे में से शिया धर्मद्योतक शब्द हटा लिये जावेंगे। सिक्कों पर शाहजहाँ का नाम रहेगा तथा ख़ुतबा शाहजहाँ के नाम से पढ़ा जावेगा। सुल्तान ने दो लाख 'हून' जो ६ लाख रुपये के लगभग होते हैं वार्षिक कर देना स्वीकार किया। उसने पिछला बकाया कर भी भुगतान करना स्वीकार किया तथा यह वचन दिया कि यदि बीजापुर ने मुग़लों पर आक्रमण किया तो गोलकुंडा बीजापुर के विरुद्ध मुग़लों की सहायता करेगा। यह सन्धि १६३६ में मई

के महीने में हुई।

दक्षिण की तीसरी समस्या उन मरहठों का दमन करना था जिन्होंने शाहजी के नेतृत्व में अच्छी सैनिक शक्ति एकत्रित कर ली थी। शाहजहाँ ने दक्षिण में आते ही ख़ानज़माँ के नेतृत्व में शाहजी की मातृभूमि पर अधिकार करने तथा कोंकण प्रान्त से मरहठों को निकालने के लिये एक सेना भेजी। शाहजी की मातृभूमि अहमदनगर के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में स्थित थी। इसके अतिरिक्त सेना का एक भाग शाइस्ता ख़ाँ के नेतृत्व में इस इलाके पर अधिकार करने के लिये अहमदनगर के उत्तर-पश्चिम से भेजा गया। परन्तु जब कि शाइस्ता खाँ अपने उद्देश्य में सफल हुआ ख़ानज़माँ जिसे शाहजी के विरुद्ध भेजा गया था अपने प्रयत्न में विफल रहा। शाहजी बीजापुर की सेना में सम्मिलित होने के लिये तैयार था और वह भी नदी को पार करना चाहता था ताकि वह ख़ानज़माँ से एक और मोर्चा ले सके। लेकिन इसी बीच ख़ानज़माँ को शाहजी का पीछा न करने का आदेश मिला। अब तक मुग़लों और बीजापुर के बीच सन्धि हो गई थी। उसके अनुसार ख़ानज़माँ को शाहजी से जुन्नार छीन लेने के लिये भेजा गया। बीजापुर ने शाहजी को जुन्नार मुग़लों के सुपुर्द करने के लिये बहकाना फुसलाना चाहा लेकिन मरहठा सरदार किसी प्रकार राजी न हुआ। विवश हो मुग़लों को जुन्नार पर हमला करना पड़ा और शाहजी ने युद्ध के उपरान्त इस किले को उस लड़के सहित जिसे उसने अहमदनगर का सुल्तान घोषित किया था, मुग़लों के सुपुर्द कर दिया। इस बच्चे बादशाह को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। शाहजी ने बीजापुर की नौकरी कर ली। इस प्रकार कुछ समय के लिये शाहजहाँ दक्षिण की समस्या को सुलझाने में सफल हुआ।

शाहजहाँ की कंधार प्राप्ति, १६३८

एक शताब्दी से भी अधिक काल से कंधार भारत के मुग़ल बादशाहों और फारस के शाह के बीच लड़ाई झगड़ों का कारण बना आ रहा था। जहाँगीर के शासन के अंतिम काल में यह दुर्ग मुग़लों के हाथ से निकल गया। शाहजहाँ स्वाभाविक रूप से इसे वापिस लेने के लिये व्याकुल था। शाहजहाँ ने फारस के दूतों का भव्य स्वागत कर तथा उन्हें बड़ी-बड़ी भेंटें देकर फारस के शाह को अपने गुणों से प्रभावित करना चाहा। इसके अतिरिक्त उसने अपनी दक्षिण-विजय तथा विद्रोहियों को दबाने के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन द्वारा शाह को अपनी सैनिक शक्ति से भी प्रभावित करने का प्रयत्न किया। फारस का बादशाह शाह अब्बास शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के केवल एक साल बाद मर गया था। उसके बाद फारस की गद्दी पर एक अल्पवयस्क

बादशाह बैठा जिसका ध्यान तुर्कों के साथ युद्ध करने में लगा रहा। कंधार का गवर्नर अली मरदान खाँ फारस के बादशाह से नाराज था क्योंकि फारस के मंत्री सारूतक़ी ने इस गवर्नर से उसकी आय-व्यय का विवरण मांगा था। अपनी आज्ञा का पालन कराने के लिये उसने सेना की एक टुकड़ी भी कंधार भेज दी थी। इससे बचने के लिये अली मरदान खाँ ने मुग़ल अफसरों के साथ मिलकर एक षड्यन्त्र का सृजन किया और कन्धार शाहजहाँ को सौंपने को तैयार हो गया। १६३८ ई० के प्रारम्भ में ही उसने अपनी सेनाएँ मुग़ल बादशाह को सौंप दीं और कन्धार दुर्ग में भारतीय सेनाओं को रख लिया। शाहजहाँ का नाम भी ख़ुतबेमें पढ़ा जाने लगा तथा सिक्के भी उसके नाम से प्रचलित हो गये। इस प्रकार कन्धार का सूबा बिना किसी कठिनाई के मुगलों ने हस्तगत कर लिया। अली मरदान को उचित पुरस्कार दिया गया और बाद में उसे काश्मीर का गवर्नर नियुक्त कर दिया गया।

अन्य छोटी-छोटी विजयें

लगभग एक सौ वर्ष से मुग़ल तिब्बत के सूखे प्रदेश पर ताक लगाये बैठे थे। उसे प्राप्त करने के उन्होंने कई असफल प्रयास भी किये थे। जहाँगीर ने भी इस प्रदेश में सेनायें भेजी थीं, परन्तु सफल न हो सका। शाहजहाँ ने भी अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चल एक बार फिर तिब्बत विजय का प्रयास किया। सन् १६३४ ई० में बल्किस्तान अथवा लघु तिब्बत के शासक अब्दल के विरुद्ध उसने सेनायें भेजीं। आक्रमण का तात्कालिक कारण यह था कि अब्दल ने काश्मीर के चक्क लोगों को अपने यहाँ शरण दी थी। अब्दल ने आत्मसमर्पण कर दिया, परन्तु कुछ कालोपरान्त ही उसने बादशाह के प्रति अपनी वफ़ादारी छोड़ दी। इसलिये उसके विरुद्ध एक दूसरी सेना भेजी गई। अब्दल को लड़ाई का खर्च देना पड़ा तथा चक्कों के नायक को मुग़लों के हाथ सौंपना पड़ा। एक साल बाद शाहजहाँ को सूचना मिली कि समस्त तिब्बत ने विद्रोह कर दिया है, इसलिये दूसरी सेना भेजनी पड़ी। तिब्बत-वासी हार गये। इस प्रकार भारत की उत्तरी सीमा पर शान्ति स्थापित हुई।

कुछ अन्य छोटी-छोटी विजयें भी प्राप्त की गईं। सन् १६३७ ई० के अंत में बगलाना का इलाका जो आजकल नासिक ज़िले में है, जीत लिया गया। दामन तथा डीव में पुर्तगालियों का घेरा डाला गया और उन्हें मजबूर होकर आत्मसमर्पण करना पड़ा। पंजाब में कांगड़ा में विद्रोह हुआ। जगत सिंह ने जो कि वहाँ का गवर्नर था, मुग़लों की अधीनता मानना अस्वीकार कर दिया था, लेकिन उसे भी विवश होकर १६४२ के प्रारम्भ में ही आत्मसमर्पण कर देना पड़ा। बुन्देलखंड के नए शासक चम्पतराय ने बुन्देलखंड में विद्रोह कर दिया। उसके दमन का कार्य अब्दुल खाँ

को सौंपा गया। ओरछा और झाँसी के बीच में मुग़लों की सेना ने अचानक बुन्देले सरदार को घेर लिया। यद्यपि चम्पतराय बच निकला परन्तु उसका गोद लिया हुआ लड़का पृथ्वीराज कैद कर लिया गया और ग्वालियर के किले में कैद करके रख लिया गया। मई १६४२ ई० में चम्पतराय आत्मसमर्पण के लिये तैयार हो गया और उसने मुग़लों की सेवा करना स्वीकार कर लिया।

गंगा का दक्षिणी इलाका तथा बुन्देलखंड के पूर्वी इलाके पर भी अधिकार कर लिया गया। बघेलखंड के सरदार लछमन सिंह ने आत्मसमर्पण कर दिया। बिहार की एक आदि जाति चेरोओं ने भी जो पलमऊ (बिहार) में रहती थी, मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली। अप्रैल १६४३ ई० में गोंड और मालवा के भील जो कि विद्रोही बन बैठे थे दबा दिये गये।

शाहजहाँ की मध्य एशिया विषयक नीति

मुग़लों की दीर्घ काल से यह लालसा थी कि वे मध्य एशिया में ट्रान्स ऑक्सियाना पर, जो कि उनकी मातृभूमि मानी जाती थी, किसी प्रकार अधिकार जमा लें। बाबर ने अपने पूर्वज तैमूर की प्राचीन राजधानी समरकन्द पर अधिकार करने के अनेक प्रयत्न किये थे, परन्तु विफल रहा। हुमायूँ भी इस प्रयत्न म असफल रहा था। अकबर और जहाँगीर को भी यह इच्छा पूर्ण न हो सकी और वे परिस्थितिवश इसके लिये प्रयत्न भी न कर सके। शाहजहाँ ने समरकन्द पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। उस समय समरकन्द अस्तरा खाँ के जानिदों के अधिकार में था। वहाँ की गद्दी पर इमाम कुली राज करता था। यह एक महत्वाकांक्षी राजा था, जिसकी ललचाई दृष्टि सदैव काबुल पर लगी रहती थी। शाहजहाँ के राज्याभिषेक के समय फैली हुई अव्यवस्था से लाभ उठाकर इमाम कुली के भाई नज़र मोहम्मद के नेतृत्व में उज़बेगों ने काबुल पर हमला किया था परन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता न मिली और ग्रीष्म ऋतु में नज़र को लौट जाना पड़ा क्योंकि उसकी सेना इस तीक्ष्ण ऋतु में आगे बढ़ने के लिये तैयार न थी। अगले वर्ष १६२६ में नज़र मोहम्मद ने काबुल पर फिर हमला किया और बमियान पर कब्ज़ा कर लिया। इसमें उसे अधिक सफलता न मिल सकी और उसे लौट जाना पड़ा। इन हमलों से हिन्दुस्तान में मुग़लों में काफी क्षोभ फैल गया। लेकिन नज़र मोहम्मद ने क्षमा याचना कर ली और दोनों पड़ौसी रियासतों के सम्बन्ध फिर से अच्छे हो गये।

सन् १६३६ ई० में शाहजहाँ ने बदला लेने का विचार किया और उसने उज़बेगों पर आक्रमण करने की योजना बनाई। उसके मन मे अपने पूर्वजों के स्वप्न की

पूर्ति का उत्साह तथा हृदय में ट्रान्स ऑक्सियाना पर राज्य करने की महत्वाकांक्षा थी। ट्रान्स ऑक्सियाना की आंतरिक कलह ने शाहजहां को स्वर्ण अवसर प्रदान किया। नज़र मोहम्मद ने अपने भाई इमाम कुली को जो अब लगभग अन्धा हो चुका था गद्दी से उतार दिया था, लेकिन नज़र मोहम्मद सर्व प्रिय नहीं था क्योंकि उसने बहुत शीघ्र ही धार्मिक आचार्यों को अप्रसन्न करके अपना विरोधी बना लिया था। दशा उस समय और बिगड़ गई जब ख्वारिज़्म अर्थात् खीवा में विद्रोह हो गया और नज़र मोहम्मद ने उसे दबाने के लिये अपने लड़के अब्दुल अज़ीज़ को भेजा। यह घटना सन् १६४५ ई० में हुई। अब्दुल अज़ीज़ ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और अपने आप को बुख़ारा का शासक घोषित कर दिया। नज़र मोहम्मद को परेशान होकर बलख़ में जाकर शरण लेनी पड़ी। इन सब आंतरिक झगड़ों ने शाहजहां को बदला लेने और अपने पूर्वजों की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये प्रोत्साहित किया। काबुल के गवर्नर को उज़बगों की इस कठिनाई से लाभ उठाने को कहा गया। उसने एक सेना भेजी और काहुमर्द के किले को जीत लिया, लेकिन शरद ऋतु के आरम्भ में ही यह किला हाथ से निकल गया। मुग़लों के इस भय से नज़र मोहम्मद ने अपने लड़के से समझौता कर लिया और यह तय हुआ कि नज़र मोहम्मद तो बलख़ को अपने अधिकार में रक्खे और बुख़ारा अब्दुल अज़ीज़ के पास रहे। नज़र मोहम्मद ने शाहजहाँ से भी सहायता के लिये प्रार्थना की थी और शाहजहां ने अनिश्चित शब्दों में वायदा भी कर लिया था परन्तु शाहजहां ने इस सुअवसर का स्वागत किया क्योंकि इस प्रकार वह आसानी से समरकंद, बलख़ तथा बुख़ारा को अपने अधिकार में ले सकता था। वह काबुल गया और एक बड़ी सेना तथा धन एकत्रित किया और उज़बगों के विरुद्ध आक्रमण की एक विस्तृत योजना बनाई। मुराद को इस हमले का भार सौंपा गया। सेना जून के मध्य तक रवाना नहीं हुई, जून में राजकुमार ने तारिन तथा कुन्दुज़ में प्रवेश किया और उन पर अधिकार कर लिया। बादशाह की यह नीति थी कि पहले वह बुख़ारा और समरकंद को लेने में नज़र मोहम्मद की सहायता करे और फिर उन्हें उसके हाथों से छीन ले। नज़र मोहम्मद शाहजहां की इस चाल को ताड़ गया और मुग़ल सेना की प्रगति को रोकने की कोशिश करने लगा। दिखाने के लिये उसने यहां तक बहाना किया कि वह अपना राज्य मुग़लों को सौंप कर मक्का जाने की तैयारी कर रहा है। इसकी घोषणा उसने चारों ओर करवा दी। मुराद भी इन चालों को समझ गया और जुलाई १६४६ ई० में उसने बलख़ के विरुद्ध धावा बोल दिया। उसके आने पर नज़र मोहम्मद भाग खड़ा हुआ और मुग़लों ने बलख़ पर अधिकार कर लिया। उन्होंने सारे शहर को लूट डाला और खूब धन एकत्रित कर लिया। तत्पश्चात् मुराद ने तिरमिज़ पर अधिकार कर लिया। इसके बाद

मुग़ल सेना ने नज़र मोहम्मद को शिवराघन पर हराया। नज़र मोहम्मद पहले मर्व भाग गया और बाद में फारस चला गया। इस सफलता से शाहजहां को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और उसने इस ख़ुशी में बलख़ में सिक्के चालू करवा कर उत्सव मनाया। लेकिन उसकी यह प्रसन्नता स्थायी सिद्ध न हुई क्योंकि मुराद जो हिन्दुस्तान के ऐशो-आराम में पला था, शीघ्र ही यहाँ की ख़ुश्क जलवायु तथा बंजर प्रदेश में ऊब उठा और उसने यहां ठहरना पसन्द न किया तथा अपने पिता से प्रार्थना की कि उसे वापिस बुला लिया जावे। शाहजहां को यह देख कर निराशा हुई लेकिन उसने कूट-नीति से काम लेना चाहा। उसने नज़र मोहम्मद को एक पत्र लिखा जिसमें उसने यह प्रगट किया कि उसका आशय तो केवल बलख़ से दुष्ट व्यक्तियों को भगाना तथा उसके बाद बलख़ नज़र मुहम्मद के सुपुर्द करना था। राजकुमार मुराद ने अपनी अनुभवहीनता तथा आयु के जोश में आकर आज्ञा से अधिक काम कर डाला है। फारस के बादशाह शाह अब्बास द्वितीय को उसके राज्याभिषेक के लिये बधाई देते हुए उसने यह प्रार्थना की कि मुग़लों के बलख़ पर हमले के समय फारस तटस्थ रहे तो ठीक हो, लेकिन शाही कूटनीति विफल रही। फारस का बादशाह तटस्थ न रहा और न नज़र मोहम्मद बादशाह के शब्द-जाल में फंस पाया। मुराद वापिस बुला लिया गया और उसकी जगह औरंगज़ेब को बलख़ भेज दिया गया। लेकिन फिर भी क़बाइलों ने मुग़ल सेना के मार्ग में रोड़ा अटकाया। अब्दुल अज़ीज़ ने अपने को संगठित करके एक बड़ी सेना एकत्रित कर ली तथा ऑक्सस नदी के पास आ जमा। ज्यों ही औरंगज़ेब बलख़ के नज़दीक आया अब्दुल अज़ीज़ लड़ने को प्रस्तुत हो गया। एक दूसरी उज़बेग सेना बलख़ पर दूसरी दिशा से आक्रमण करने को रवाना हुई। औरंगज़ेब को घोर युद्ध करना पड़ा जिसमें अब्दुल अज़ीज़ की हार हुई। परन्तु औरंगज़ेब के धैर्य तथा साहस से उज़बेगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। राजकुमार औरंगज़ेब सूर्यास्त समय लड़ाई के मैदान में ही घोड़े की पीठ पर से उतर पड़ा तथा नमाज़ पढ़ने लगा। तदनुसार अब्दुल अज़ीज़ संधि करने का विचार करने लगा और बुख़ारा को अपने भाई को सौंपने को राज़ी हो गया। नज़र मोहम्मद ने फारस से पत्र लिख कर गद्दी छोड़ देने की इच्छा प्रगट की। लेकिन मुग़लों की यह सफलता स्थायी सिद्ध न होकर केवल क्षणिक रही। औरंगज़ेब ऑक्सस से आगे न बढ़ सका। उसके अफ़सर उस प्रतिकूल जलवायु में रहकर लड़ना नहीं चाहते थे। उन्हें ट्रान्स ऑक्सियाना का यह प्रदेश बिल्कुल नीरस प्रतीत होता था। औरंगज़ेब भी भारत लौट आना चाहता था क्योंकि वह अपने पिता के बाद दिल्ली की गद्दी पर बैठना चाहता था। उज़बेग लोग जो शायद मुग़लों के सेनापति तथा अफसरों की मनोवृत्ति को ताड़ गये थे, बराबर अपने अत्याचार करते रहे। नज़र मोहम्मद फारस

से लौट आया और उसने अफ़ग़ानिस्तान स्थित मुग़ल चौकियों पर हमले करने शुरू कर दिये। नज़र मोहम्मद को शाह फारस से बराबर सहायता मिलती रही, क्योंकि फारस का शाह मुग़लों से कन्धार छीनना चाहता था। औरङ्गज़ेब को विवश होकर ट्रान्स ओक्सियाना से लौट आना पड़ा और वह अफ़ग़ानिस्तान की तरफ उज़बेगों के हमले का मुकाबला करने के लिये रवाना हुआ। शाहजहाँ ने औरङ्गज़ेब को सलाह दी कि यदि नज़र मोहम्मद क्षमा याचना करे तो वह उसे स्वीकार कर ले। नज़र मोहम्मद ने अपने पोते के द्वारा माफ़ी मांगनी चाही, इस पर चौकियों में पड़ी हुई मुग़ल सेना कुछ ढीली तथा गाफ़िल सी हो गई क्योंकि उसे भ्रम हो गया कि शायद नज़र मोहम्मद को उसका देश वापिस मिल जाय। औरंगज़ेब को काबल लौटना पड़ा और रास्ते में उसे उज़बेगों ने बहुत परेशान किया।

फारस के शाह अब्बास ने अब खुल्लमखुल्ला उज़बेगों का साथ देना शुरू कर दिया था। सन् १६४८ ई० में उसने शाहजहाँ से यह मांग की कि वह कन्धार लौटा दे। उसने यह भी चाहा कि शाहजहाँ नज़र मोहम्मद को बलख़ लौटा दे। शाह अपनी कूटनीति को बलपूर्वक सफल बनाने के लिये ख़ुरासान की तरफ़ रवाना हुआ और ख़ुरासान का घेरा डाल दिया। परन्तु मुग़ल पहले ही बचे हुए बलख़ के हिस्से को खाली कर चुके थे।

कन्धार का हाथ से निकलना

मध्य एशिया में शाहजहाँ की असफलता पर शाह अब्बास द्वितीय अत्यन्त प्रसन्न हुआ क्योंकि इससे सीमान्त प्रदेश में मुग़लों की शक्ति कमज़ोर पड़ गई और अब कन्धार का लेना पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक सरल हो गया। सन् १६४८ ई० में फारस के शाह ने जो अब बालिग़ हो चला था, शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली और कन्धार पर चढ़ाई करने की तैयारी प्रारम्भ कर दी। ख़ुरासन से रवाना हो कर वह कन्धार के निकट आ गया और बिस्त के क़िले पर आक्रमण कर दिया। शाहजहाँ ने तुरन्त एक भारी सेना एकत्रित करके औरंगज़ेब के नेतृत्व में नगर तथा दुर्ग की रक्षार्थ भेजी। इसी बीच में फारस की सेना बिस्त पर अधिकार कर चुकी थी और कन्धार पर धावा बोल चुकी थी। दौलत खाँ के नेतृत्व में कन्धार दुर्ग में जो सेना थी, वह शीघ्र ही हताश हो गई, उन्होंने सोचा कि इतनी जल्दी देहली से सहायता मिलना असम्भव है। इस सेना की कुछ टुकड़ियों ने अपने परिवार तथा बच्चों को बचाने के उद्देश्य से चुपचाप आक्रमणकारियों से सन्धि-वार्ता प्रारम्भ कर दी। दौलत खाँ इस षडयन्त्र को दबा न सका। अन्ततोगत्वा वह स्वयं इस षडयन्त्र

में सम्मिलित हो गया और फरवरी १६४६ ई० में फारस के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। औरंगज़ेब इस समर्पण के एक मास बाद कन्धार पहुँचा। शाहजहाँ यह जानकर अत्यन्त क्षुब्ध हुआ और उसने औरंगज़ेब को तुरन्त किसी भी प्रकार सरहद की इस महत्वपूर्ण चौकी को वापिस लेने की आज्ञा दी। सम्राट स्वयं सेना की हिम्मत बंधाने के लिये काबुल के पास ही एक स्थान पर जा पहुँचा।

वज़ीर सादुल्ला खां को साथ लेकर औरंगज़ेब ५०,००० सैनिकों को साथ लेकर गज़नी के रास्ते से आगे बढ़ा और मई १६४६ ई० को कन्धार आ पहुँचा। तुरन्त क़िले को घेर लिया गया। पूरे ग्रीष्मकाल लड़ाई चलती रही लेकिन घिरी हुई सेनाओं पर कुछ असर नहीं हुआ क्योंकि वे पहिले से ही फारस से काफ़ी मदद पा चुके थे। मुग़ल सेना को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा क्योंकि उनके पास न तो ठीक प्रकार रसद ही आ पाती थी और न युद्ध सामग्री ही। उनके पास बमबारी करने वाली बड़ी तोपें भी नहीं थीं। तेज़ी से शरद ऋतु आ रही थी और युद्ध जारी रखना सम्भव न था। इसलिये सम्राट ने लड़ाई बन्द करने का आदेश दे दिया। औरंगज़ेब ने घेरा उठा लिया और सितम्बर १६४६ ई० में लाहौर के लिये रवाना हो गया।

सन् १६५२ ई० में शाहजहाँ ने कन्धार लेने का एक प्रयत्न और करना चाहा और इसका भार औरंगज़ेब को सौंपा गया। औरंगज़ेब १६४६ ई० में हुई अपनी असफलता के कलंक को धो डालना चाहता था। इस बार औरंगज़ेब एक सुव्यवस्थित सेना तथा बड़ी बड़ी गोला बरसानेवाली तोपों तथा हाथी और ऊँटों को लेकर रवाना हुआ। लड़ाई के खर्चे के लिये दो करोड़ रुपया उसे मिला। इस प्रकार पूर्ण सजधज और तैयारी के साथ इस बार औरंगज़ेब ने हमला बोला। कंधार का यह दूसरा युद्ध १२ मई १६५२ में आरम्भ हुआ और दो माह दस दिन तक चला। फारस की तोपों के सामने मुग़लों की वीरता फ़ीकी पड़ गई। उधर उज़बेगों ने गज़नी में संकट उत्पन्न कर दिया। गज़नी कन्धार और काबुल के रास्ते में स्थित थी। इस भय से कि कहीं फारस वाले और उज़बेग़ दोनों मिल न जायें, शाहजहाँ ने औरंगज़ेब को घेरा उठा लेने को कहा तथा उसके वापिस लौट आने पर ज़ोर दिया। राजकुमार की युद्ध करने की आज्ञा रद्द कर दी गई और उसको वापिस बुला कर दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया।

कन्धार को जीतने का काम अब दारा को सौंपा गया। दारा औरंगज़ेब की असफलताओं से अत्यन्त प्रसन्न था और उसे घमण्ड था कि वह केवल सात दिन में ही कन्धार को जीत लेगा। गद्दी का उत्तराधिकारी यह राजकुमार एक करोड़ रुपया तथा बड़ी सेना तथा भारी भारी तोपें लेकर फरवरी १६५३ ई० में कन्धार के लिये

रवाना हुआ। उसने सबसे पहले आस पास का इलाक़ा जीता ताकि कन्धार की फौज को फारस से कोई मदद न मिल सके। उसने बिस्त और गिरीपक—जो कन्धार के पश्चिम में स्थित थे—जीत लिये। उसने आसपास का इलाका उजाड़ डाला और कन्धार पर गोलाबारी करने की आज्ञा दी। इस गोलाबारी से जहाँ तहाँ कन्धार दुर्ग की दीवारें हिल उठीं लेकिन फारस की ज़ोरदार तोपों के कारण मुग़ल गढ़ में प्रवेश करने का साहस न कर सके। फिर भी दारा को औरंगज़ेब से कहीं अधिक सफलता मिली और इससे फारस सेना भयभीत हो उठी। परन्तु दुर्भाग्यवश शरद ऋतु के आगमन के साथ शत्रु का पलड़ा भारी हो गया और फारसी लोगों की स्थिति अधिक दृढ़ हो गई। इधर मुग़लों का गोला बारूद भी समाप्त हो चला था इसलिये शुरू अक्टूबर १६५३ ई० में सेना को वापिस बुला लेना निश्चित किया गया।

कन्धार के इन तीनों आक्रमणों से (१६४६, १६५२, १६५३ ई०) साम्राज्य की आर्थिक दशा को काफ़ी धक्का पहुँचा। इनमें लगभग १२ करोड़ रुपया व्यय हुआ और कोई विशेष लाभ न हो सका। एक इंच भर भूमि भी मुग़ल साम्राज्य को न मिल सकी। मुग़ल साम्राज्य के हाथ से केवल कन्धार का अगम दुर्ग ही न छिना अपितु आसपास का बहुत सा प्रदेश भी उनके हाथ से निकल गया। बहुत से आदमी तथा बोझा ढोने वाले जानवर मारे गये। बादशाह की राजनैतिक तथा सैनिक कुशलता को भी काफ़ी धक्का पहुँचा क्योंकि इससे बादशाह की सेना का खोखलापन साफ़ प्रगट हो गया। इससे फारस के शाह की हिम्मत बहुत बढ़ गई और वह अब हिन्दुस्तान के उपजाऊ मैदान पर भी हमला करने के स्वप्न देखने लगा। इससे मुग़लों को सदैव फारस से सतर्क रहना आवश्यक हो गया। शाहजहाँ के जीवन काल के बचे हुए दिनों में भारत और फारस के सम्बन्ध सदैव तने रहे।

बीजापुर तथा गोलकुंडा के साथ युद्ध—औरंगज़ेब का द्वितीय वाइसराय काल

नवम्बर १६५२ ई० में औरंगज़ेब फिर एक बार दक्षिण का सूबेदार बना। सन् १६४१ से १६४४ ई० तक वह इस भाग का वाइसराय रह चुका था। इसलिये यह उसका दूसरा अवसर था जब कि उसे इस इलाके की सूबेदारी सौंपी गई। औरंगजेब ने बड़ी लगन के साथ इस इलाके की आर्थिक दशा सुधारनी चाही। और अपने दीवान मुरशिद कुली ख़ाँ की मदद से जो कि एक कुशल शासक और अर्थवेत्ता था, उसने सब प्रथम मालगुजारी का बन्दोबस्त सम्पूर्ण किया। मुरशिद कुली ख़ाँ ने टोडरमल के द्वारा प्रचलित मालगुजारी का तरीका अपनाया। उसने जमीन को नपवा कर उपज के आधार पर राज्य-कर निर्धारित किया। वह शीघ्र ही यह जान गया कि समस्त देश में एकसा कर निर्धारित नहीं किया जा सकता इसलिये उसने स्थानीय रीति-रिवाज़ों और प्रथाओं का काफ़ी ध्यान रक्खा। इसके साथ साथ 'ज़ब्ती' 'बटाई'

और 'नसख' भी जारी रहे। 'बटाई' इलाके में राज्य का हिस्सा $\frac{1}{2}$ तथा जिन जगहों पर नपाई नहीं हो सकी वहाँ $\frac{1}{4}$ था। इन उपायों से किसानों की दशा भी काफ़ी उन्नत हो गई। राजकुमार ने अपने पिता की आज्ञा से पदाधिकारियों में ज़मीन का वितरण नए ढंग से कर दिया। आर्थिक दशा मे उचित सुधार करने के बाद अब वह राजनैतिक मामलों की ओर ध्यान देने के लिये अधिक स्वतन्त्र हो गया।

अपने पूर्वजों के पद-चिन्हों पर चलकर उसने भी गोलकुन्डा और बीजापुर के राज्यों को नष्ट भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया। समस्त दक्षिणी भारतवर्ष में अपना साम्राज्य फैलाने की लालसा से व्याकुल एक मुग़ल नीतिज्ञ के लिये बीजापुर और गोलकुन्डा की 'शिया' धर्मावलम्बी रियासतों पर धावा बोलने का बहाना ढूंढ़ निकालना कोई कठिन कार्य न था। गोलकुन्डा एक धनवान रियासत भी। कुछ ही पहिले उसने कर्नाटक का प्रदेश जीता था। शिया धर्म से चिढ़ने वाले शाहजहाँ तथा औरंगज़ेब गोलकुन्डा के इस कार्य से प्रसन्न न हुए और शाहजहाँ ने इस अपराध के दंडस्वरूप गोलकुन्डा से एक भारी रकम मांगी। इसके अतिरिक्त गोलकुन्डा ने १६३६ ई० की सन्धि के अनुसार निश्चित वार्षिक भेंट भी पिछले कुछ दिनों से शाहजहाँ को नहीं भेजी थी। लेकिन युद्ध का तत्कालिक कारण यह था कि गोलकुन्डा के सुल्तान ने मीर जुमला के लड़के मोहम्मद अमीन को कैद कर लिया था। मोहम्मद अमीन ने औरंगज़ेब से मदद की प्रार्थना की। मीर जुमला का असली नाम मीर मोहम्मद सैयद था। वह आर्दिस्तान का रहने वाला था। वह गोलकुन्डा में एक जौहरी का नौकर बन कर आया था। अपने मालिक की मृत्यु के उपरान्त वह धनवान बन बैठा। उसके धन और ऐश्वर्य के कारण गोलकुन्डा के शाह (कुतुब शाह) का ध्यान उसकी ओर खिंच गया और उसने उसे प्रधान मन्त्री बनाकर मीर जुमला की उपाधि से विभूषित किया।

मीर जुमला एक महत्वाकांक्षी राजनीतिज्ञ था। उसने हिन्दू मन्दिरों को लूट कर तथा हीरे की खानों को खोद कर अपना धन बढ़ा लिया। उसने बहुत शीघ्र ५,००० घुड़सवार २०,००० पैदल सेना तथा अनेक युद्ध के हाथी और गोला-बारूद आदि लड़ाई का सामान एकत्रित कर लिया। उसने बिना किसी की सहायता के कर्नाटक जीत लिया और चन्द्रगिरी के राजा को हरा दिया। इस प्रकार उसने एक राज्य बना लिया और स्वयं उसका एकाधिपति बन बैठा। मीर जुमला की महत्वाकांक्षा, धन और उद्दंड उत्साह देख कर गोलकुन्डा का सुल्तान भयभीत हो गया और उसने इसे कैद करके अन्धा बना डालना चाहा। मीर जुमला के कानों में गोलकुन्डा के षड्यन्त्र की भनक पड़ गई और उसने बुलाये जाने पर दरबार में उपस्थित होने से

मना कर दिया। उसने बीजापुर, फारस तथा दक्षिण के सूबेदार औरंगज़ेब के साथ बातचीत प्रारम्भ कर दी। ठीक इसी समय इसके लड़के मोहम्मद अमीन ने अपने अशिष्ट व्यवहार से भरे दरबार में सुल्तान को अप्रसन्न कर दिया। जिस पर सुल्तान ने मोहम्मद अमीन को सपरिवार गिरफ़्तार करवा लिया। उसकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गई। यह घटना पहली दिसम्बर सन् १६५५ को हुई। औरंगज़ेब ने इस घटना से लाभ उठाया और अपने पिता से गोलकुन्डा पर धावा बोलने की आज्ञा प्राप्त करने के उपरान्त कुतुब शाह से मोहम्मद अमीन और उसके लड़के को छोड़ देने की माँग की और यह धमकी दी कि यदि उसकी मांग पूरी नहीं की गई तो वह तुरन्त आक्रमण कर देगा। उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही औरंगज़ेब ने युद्ध की घोषणा कर दी और अपने लड़के राजकुमार मोहम्मद को जनवरी सन् १६५६ को एक बड़ी सेना सहित गोलकुन्डा प्रवेश की आज्ञा दी। ज्यों ही औरंगज़ेब की सेना सुल्तान की सीमा के अन्दर घुसी त्यों ही सुल्तान ने आज्ञा पालन करने की घोषणा कर दी तथा मीर जुमला के लड़के तथा माँ को कैद से छोड़ दिया। औरंगज़ेब ने अब मीर जुमला की सम्पत्ति को वापिस लौटाने की मांग की तथा स्वयं हैदराबाद की ओर रवाना हुआ। सुल्तान भयभीत हो गया और उसने अपना खज़ाना गोलकुन्डा के दृढ़ दुर्ग में भेज दिया। गोलकुन्डा हैदराबाद से कुछ ही मील की दूरी पर था। उसने राजकुमार मोहम्मद को उत्कोच दे तथा अपनी सेना को दृढ़ कर उस क्षेत्र की रक्षा करनी चाही। परन्तु राजकुमार ने गोलकुन्डा की सेना को हरा दिया और हैदराबाद का घेरा डाल दिया। उसने सुल्तान के उन दूतों को, जो उसके पास हीरे जवाहरातों के रूप में रिश्वत लाये थे मौत के घाट उतार दिया और थोड़े से दिनों के बाद हैदराबाद पर कब्ज़ा कर लिया। बेचारे सुल्तान को फिर लाचार होकर सुलह की बातचीत करनी पड़ी। मीर जुमला की सम्पत्ति लौटा दी गई और बहुत से हीरे जवाहरात देकर राजकुमार को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया, लेकिन साथ ही साथ गोलकुंडा दुर्ग को आक्रमणकारियों से बचाने के लिये वह बीजापुर से मदद की प्रार्थना भी करता रहा।

इसी बीच औरंगज़ेब ने फरवरी १६५६ ई० को गोलकुंडा दुर्ग को घेर लिया। कुछ समय तक घेरा चलता रहा। इससे सुल्तान अब्दुल्ला कुतुब शाह बहुत डर गया तथा यह प्रार्थना की कि वह अपने अपराध की क्षमा याचना के लिये अपनी माता को भेजना चाहता है। सुल्तान अब्दुल्ला कुतुब शाह की बूढ़ी मां ने अपने बेटे की ओर से क्षमा माँगी। औरंगज़ेब ने यह वायदा किया कि यदि सुल्तान अब्दुल्ला अपनी लडकी की शादी राजकुमार मोहम्मद से कर देगा और युद्ध-क्षति के रूप में एक करोड़ रुपया तथा पिछला शेष कर अदा कर दे तो उसे गोलकुंडा का राज्य

वापिस मिल जावेगा। जब दक्षिण में औरंगज़ेब की यह संधि-वार्ता चल रही थी उस समय आगरा में सुल्तान के दूत दारा और जहान आरा के द्वारा शाहजहां तक अपनी प्रार्थनाएं पहुँचवा रहे थे। इसीलिये ठीक उस समय जब कि औरंगज़ेब घेरे को कड़ा करने वाला था, उसे शाहजहाँ का संदेश मिला कि वह गोलकुंडा से लौट आये और गोलकुंडा के सुल्तान को क्षमा कर दे। औरंगज़ेब ने बादशाह की आज्ञा को गुप्त रक्खा और घेरा डाले रहा। उसने केवल उस समय घेरा उठाया जब सुल्तान ने मीर जुमला की सम्पत्ति लौटा दी और सारे बकाया 'कर' साफ़ करने तथा अपनी लड़की की शादी मोहम्मद से करने का वचन दे दिया। मीर जुमला ने राजकुमार औरंगज़ेब से भेंट की और राजकुमार ने उसका शानदार स्वागत किया। सुल्तान की लड़की की शादी मोहम्मद के साथ बड़ी धूमधाम से की गई और १० लाख रुपये का दहेज दिया गया। गोलकुंडा के साथ एक नई सन्धि तय की गई। सुल्तान ने कुरान की साक्षी देकर सौगन्ध खाई कि वह भविष्य में कभी भी मुग़ल सम्राट की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा। इस पर उसे क्षमा कर दिया गया। उसे १५ लाख रुपया दंड रूप में देना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार सुल्तान ने मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली। मीर जुमला को जिसके कारण उसके मालिक को इतना नीचा देखना पड़ा था, मुग़ल दरबार में एक अच्छे पद पर नियुक्त कर दिया गया और वज़ीर सादुल्ला खाँ की मृत्यु के उपरान्त उसे साम्राज्य का प्रधान मंत्री बना दिया गया।

गोलकुंडा की सफलता के बाद औरंगज़ेब की दृष्टि बीजापुर पर पड़ी जो कि पिछले बीस वर्ष से पूर्ण स्वतन्त्रता का आनन्द उठा रहा था। बीजापुर का सुल्तान मोहम्मद आदिल शाह एक योग्य शासक तथा भविष्य-द्रष्टा था और देहली के सम्राट से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। उसने समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था तथा उसे सुदृढ़ बना कर उसकी आमदनी काफ़ी बढ़ा ली थी। उसकी सफलता को देख कर शाहजहाँ ने उसे उसके दुस्साहस के लिये बुरा भला कहा। सुल्तान बीजापुर बादशाह से लड़ना नहीं चाहता था इसलिये उसने बादशाह से क्षमा-याचना कर ली, तथा अपने ठाट-बाट में, जिसके कारण शाहजहाँ उससे अप्रसन्न हो गया था, काफी सुधार कर डाला। आदिल शाह नवम्बर १६५६ ई० में मर गया और उसकी जगह पर अली आदिल शाह द्वितीय, जो उस समय केवल १८ वर्ष का था, गद्दी पर बैठा।

बीजापुर में इस शासन-परिवर्तन से कुछ गड़बड़ पड़ गई। राज दरबार में कई पार्टियाँ हो गईं और रियासत के पूर्वी इलाके में विद्रोह हो गया। औरंगज़ेब ने इन परिस्थितियों से लाभ उठा कर बीजापुर के कुछ असन्तुष्ट सरदारों को अपनी

ओर मिला लिया। औरंगज़ेब ने शाहजहाँ से यह बहाना करके कि अली आदिल शाह द्वितीय मृतक राजा का असली पुत्र न होकर संदिग्ध सन्तान है बीजापुर पर हमला करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। वास्तव में बीजापुर एक स्वतन्त्र रियासत थी और उसके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार बादशाह को नहीं था और विशेष रूप से गद्दी के अधिकारी का निर्णय करना बीजापुर निवासियों का स्वयं का कार्य था। इसलिये औरंगज़ेब का यह हस्तक्षेप केवल अन्यायपूर्ण अत्याचार था। उसका उद्देश्य केवल एक रियासत को मटियामेट कर देना था।

मीर जुमला की सहायता से, जो कि बीजापुर की भौगोलिक परिस्थिति इत्यादि से पूर्णतया परिचित था, औरंगज़ेब ने बीजापुर पर हमला कर दिया और बीदर के किले पर, जो एक सुदृढ़ पहाड़ी पर स्थित था तथा जहाँ पर काफी गोला-बारूद भी था, अधिकार कर लिया। सिद्दी मरजान ने, जो दुर्ग का प्रधान रक्षक था, वीरतापूर्वक उसका सामना किया परन्तु आक्रमणकारियों ने दुर्ग के चारों ओर खुदी हुई खाई को पाट दिया और गोलाबारी करके किले की दीवारों को काफी आघात पहुँचाया। औरंगज़ेब के सौभाग्य से दुर्ग में एक भयानक विस्फोट हुआ और उसमें सिद्दी मरजान घायल हो गया। मुगलों ने तेजी से किले पर धावा बोला और अपने झंडे उस पर गाड़ दिये। मरते समय सिद्दी मरजान ने दुर्ग की कुंजी औरंगज़ेब के पास भेज दी। इस प्रकार २७ दिन के घेरे के बाद दुर्ग का पतन हो गया।

इस सफलता के पश्चात् औरंगज़ेब ने गुलबर्गा में एकत्रित बीजापुर सेना का सामना करने के लिए महावत खाँ को भेजा। महावत खाँ के साथ १५,००० सुसज्जित घुड़सवारों की सेना थी। बीजापुर सेना परास्त हुई और तितर-बितर हो गई। अब औरंगज़ेब कल्याणी तक बढ़ने में समर्थ हुआ। कल्याणी बीदर से ४० मील पश्चिम में स्थित चालुक्यों की प्राचीन राजधानी थी। नगर का घेरा डाला गया, मुगलों का कड़ा मुकाबला हुआ। यहाँ तक कि उनके संवाहन-मार्गों की सुरक्षा तक संकट में पड़ गई। परन्तु अंत में औरंगज़ेब के योग्य सेनापतित्व तथा अथक प्रयत्न के कारण, अगस्त १६५७ ई० के एक आक्रमण में बीजापुरी सेना बुरी तरह परास्त हुई। बीजापुर राज्य को पूर्णतया विनष्ट कर देने के लिए राजकुमार सैनिक तैयारियों में संलग्न ही था कि उसे सम्राट का एक आदेश प्राप्त हुआ। इसके द्वारा राजकुमार को इस सैनिक संघर्ष को समाप्त कर देने की आज्ञा दी गई। शाहजहाँ की इस आज्ञा के कई कारण थे। इनमें दिल्ली स्थित बीजापुरी प्रतिनिधियों का दुराग्रह, दारा का औरंगज़ेब से द्वेष तथा सम्राट का दिनों दिन बिगड़ता स्वास्थ्य विशेष उल्लेखनीय हैं। राजकीय आदेशानुसार संधि की बातचीत शुरू हो गई। बहुत शीघ्र ही शर्तें तय हो गईं। इनके अनुसार सुल्तान युद्ध-क्षति के रूप में

डेढ़ करोड़ रुपया नक़द तथा बीदर, कल्याणी, पारिन्दा, कोंकण और वेन्गी के दुर्ग देने पर राजी हो गया। शाहजहाँ ने इन शर्तों की स्वीकृति प्रदान की और दयावश हर्जाने में से आधा करोड़ रुपया की छूट सुल्तान को दे दी। औरंगज़ेब बीदर लौट आया और निकट भविष्य में होने वाले उत्तराधिकार-संघर्ष का सामना करने की तैयारी करने लगा। शाहजहाँ का दिन प्रतिदिन गिरता स्वास्थ्य इस संघर्ष को अवश्यम्भावी बना रहा था। बीजापुर के सुल्तान ने बदली हुई राजनैतिक परिस्थिति का लाभ उठाया। उसने १६५७ ई० की सन्धि की शर्तों का पालन करने से इन्कार कर दिया।

जिस समय औरंगज़ेब गोलकुंडा और बीजापुर से उलझा हुआ था, मराठे क्रमशः महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त करते जा रहे थे। उनका युवक नेता शाहजी भोंसला का सुपुत्र शिवाजी भोंसला अपने स्वतन्त्र तथा गौरवपूर्ण जीवन में प्रवेश कर रहा था। शाहजी बीजापुर राज्य में फिर नौकरी करने लगा था। शिवाजी की आँखें बीजापुर के राज्य के एक भाग पर लगी हुई थीं। इसको जीत लेने की छूट प्रदान करने के बदले उसने मुग़लों को बीजापुर के विरुद्ध सैनिक सहायता का आश्वासन दिया था। मुग़लों ने शिवाजी की प्रत्याशित सहायता नहीं की, फलस्वरूप शिवाजी भी उनकी आवश्यकता के समय अलग ही रहा। बल्कि जिस समय औरंगज़ेब दोनों दक्षिणी राज्यों से जूझ रहा था उसने जुन्नार पर अधिकार प्राप्त कर लिया और अहमदाबाद के पश्चिम में मुग़ल प्रदेश में घुस गया। अत: औरंगज़ेब अपने पश्चिमी पार्श्व में गड़बड़ मचाने वाले शिवाजी का प्रबन्ध करने को विवश हो गया। मुग़ल सेना के एक दस्ते ने शिवाजी को परास्त भी किया पर उसके मुग़ल प्रदेश पर होने वाले आक्रमण कम न हुए। किन्तु जब औरंगज़ेब की बीजापुर से सन्धि हो गई और उसकी सेना भी युद्ध से निवृत्त हो कर लौट गई तो शिवाजी ने मुग़लों से सन्धि करना ही ठीक समझ उनकी अधीनता स्वीकार कर ली।

उत्तराधिकार के लिए संघर्ष

सितम्बर १६५७ ई० में शाहजहाँ बीमार पड़ गया। शीघ्र ही उसके मरने की अफ़वाह फैल गई। अपना अन्त समय निकट जान शाहजहाँ ने अपनी वसीयत लेखनीबद्ध करा दी, जिसके अनुसार उसने साम्राज्य का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र दारा को सौंपा। सम्राट की रुग्णता के समय में भी दारा को ही सम्राट के नाम से शासन करने को कहा गया किन्तु पिता की रुग्ण दशा की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर शाहजहाँ के अन्य पुत्रों ने गद्दी के लिए संघर्ष करने की ठान ली। दारा के अतिरिक्त शाहजहाँ के तीन लड़के और थे शुजा, औरंगज़ेब तथा मुराद बख़्श। ये सभी युवा

थे और प्रान्तों के शासक थे। इनके अतिरिक्त सभी साधन-सम्पन्न थे तथा प्रत्येक के अनुयाइयों की संख्या भी काफी थी। पिता की बिमारी के समय दारा दिल्ली और पंजाब का शासक था पर वह प्राय: अपने पिता के साथ रहा करता था जो कि जलवायु परिवर्तन की दृष्टि से अक्तूबर १६५७ ई० में आगरे चला गया था। शुजा, औरंगज़ेब और मुराद क्रमश: बंगाल, दक्षिण तथा गुजरात के शासक थे। एक ही माता से जन्म लेने पर भी इनके आपसी सम्बन्ध सहृदयतापूर्ण नहीं थे। प्रत्येक दिल्ली के सिंहासन को हथियाना चाहता था। तीनों छोटे भाई बड़े ईर्ष्यालु थे। दारा से सब बहुत ईर्षा करते थे क्योंकि ज्येष्ठ होने के नाते शाहजहाँ की इच्छानुसार वही साम्राज्य का उत्तराधिकारी समझा जाता था। सम्राट के पश्चात् सिंहासन पर उसका अधिकार सब भाँति निश्चित था। दारा के धार्मिक विचार बड़े उदार थे। हिन्दुओं तथा राजपूतों के सरदारों का वह प्रिय था। शुजा का झुकाव शिया धर्म की ओर था जबकि औरंगज़ेब कट्टर सुन्नी था और ग़ैर मुसलमानों से घृणा करता था। मुराद की अपनी स्वयं की विशेषताएं थीं, वह औरंगज़ेब के समान सुन्नी होने पर भी धार्मिक कट्टरता का पोषक नहीं था। धर्म की ओर वह उदासीन था।

पिता की घातक रुग्णता का समाचार पाते ही शुजा, औरंगज़ेब तथा मुराद ने दारा के विरुद्ध जो कि रुग्ण पिता के निकट आगरे में रहता था, युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। सर्व प्रथम मुराद ने अपने मंत्री अलीनक़ी को कत्ल कर गुजरात में अपने आप को सम्राट घोषित कर दिया और अपने नाम के सिक्के ढलवाये। शुजा ने भी जो काफी समय तक बंगाल का सफल शासन कर चुका था, एक बड़ी सेना लेकर दारा के विरुद्ध आगरे पर धावा बोल दिया। उसकी भी इच्छा सम्राट बनने की थी। अतः वह दारा को अपना पथ-कंटक समझता था। दोनों ने औरंगज़ेब से सहयोग के लिए पत्र-व्यवहार किया। औरंगज़ेब ने चतुरतापूर्वक अपनी हार्दिक अभिलाषा को छुपाया और शुजा तथा मुराद पर यह प्रगट न होने दिया कि वह अन्य सभी भाइयों को मार कर अपना मार्ग साफ करने की चिन्ता में है। अपनी चतुराई से उसने उन दोनों का अपने हित के लिए उपयोग किया। अपनी बहिन रोशन आरा तथा अपने गुप्त दूतों के द्वारा वह शाही दरबार (आगरा) के सभी परिवर्तनों और तैयारियों का ज्ञान प्राप्त करता रहता था। नर्मदा की नावों पर पहरा बिठा कर उसने अपनी तैयारियों को गुप्त रखा। उसके कूच का समाचार भी उत्तरी भारत नहीं पहुँच सका। इस सब कार्य में मीर जुमला औरंगज़ेब का दाहिना हाथ था। इनका सारा ध्यान अफसरों और सैनिकों को अपनी ओर मिलाने तथा युद्ध-सामग्री जुटाने में लगा हुआ था। वह शुजा और मुराद की तरह खुले आम अपने बाप और भाई से बिगाड़ना भी नहीं चाहता था। उसने आगरा जाने का उद्देश्य रुग्ण पिता के

दर्शनों की इच्छा ही प्रकट किया। अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए औरंगज़ेब ने बीजापुर और गोलकुंडा को भी सन्तुष्ट करने का प्रयास किया।

औरंगज़ेब ने मुराद से पत्र-व्यवहार प्रारम्भ कर उसे सावधानी से कार्य करने को लिखा तथा खुले रूप में विद्रोह की हानियों से भी सचेत कर दिया। उसने मुराद की गुजरात की कार्यवाही, सूरत का घेरा तथा सम्राट् बनने की घोषणा सब दोष-पूर्ण बताईं। दोनों भाइयों में यह समझौता हुआ कि मिल कर सम्मिलित शक्ति से विधर्मी दारा को नष्ट किया जाय और साम्राज्य को आपस में इस प्रकार बाँट लिया जाय कि पंजाब, अफ़ग़ानिस्तान, काश्मीर तथा सिन्ध मुराद को मिलें और शेष औरंगज़ेब के अधिकार में आ जाय। यह भी तय पाया कि लूट के माल में मुराद को एक तिहाई तथा औरंगज़ेब को दो तिहाई भाग मिले। दोनों भाइयों ने अपने अपने राज्यों से चल कर सम्मिलित रूप से आगरे पर आक्रमण करने को ही श्रेयस्कर समझा और इसी के अनुरूप कार्यक्रम निर्धारित किया।

इस ओर औरंगज़ेब और मुराद सम्मिलित आक्रमण के कार्यक्रम बना रहे थे और दूसरी ओर बंगाल का शासक शुजा राजमहल में अपने राज्यारोहण की रस्म पूरी कर रहा था। यह रस्म पूरी करके वह आगरे की ओर बढ़ा और फरवरी सन् १६५८ ई० के प्रारम्भ में बनारस पहुँचा। दारा की योजना यह थी कि पहिले मुराद और शुजा को दबाया जाय और तब औरंगज़ेब से डट कर टक्कर ली जाय। अतः उसने शुजा का सामना करने के लिए अपने पुत्र सुलेमान शिकोह और आमेर के राजा जयसिंह को भेजा। इस सेना की मुठभेड़ शुजा की सेना से २४ फरवरी १६५८ ई० को बनारस के ५ मील उत्तर-पूर्व स्थित बहादुरपुर नामक स्थान पर हुई। घोर युद्ध हुआ। शुजा हार गया और उसे भारी जन-हानि उठानी पड़ी। पराजित शुजा बंगाल की ओर भाग गया। राजा जयसिंह ने बंगाल की सीमा तक उसका पीछा किया और लौट आया।

इसी बीच औरंगज़ेब अपना कार्यक्रम बना चुका था। उसने न केवल गोलकुन्डा और बीजापुर को सन्तुष्ट कर दिया वरन् दक्षिण में कुछ भूमि दान कर शिवाजी को भी मित्र बना लिया था। दारा का ध्यान बटाने के लिए उसने ईरान् के शाह को प्रोत्साहित कर साम्राज्य के एक प्रदेश अफ़ग़ानिस्तान पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन दिया। फरवरी १६५८ ई० तक उसकी तैयारियाँ पूर्ण हो गईं। यहाँ तक कि अब उसकी सेना को यूरोपियन गोलंदाजों की भी सेवाएँ सुलभ हो गई थीं। उसने औरंगाबाद से कूच बोल दिया और एक मास बुरहानपुर में बिता कर नर्मदा को पार किया। दीपालपुर पहुँच कर वह मुराद की सेना के साथ आ मिला। यह

सम्मिलित सेना औरंगज़ेब और मुराद की अधीनता में धरमत की ओर बढ़ी जो कि उज्जैन से १४ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है।

गुजरात और दक्षिण से चढ़ाई का समाचार पाते ही दारा ने महाराज जसवन्तसिंह और कासिमखाँ को औरंगज़ेब व मुराद का सामना करने के लिए भेजा। इन सेनापतियों को यह भी आदेश दिया गया कि यदि सम्भव हो तो आक्रमणकारी राजकुमारों को समझा कर ही उनके प्रदेशों (गुजरात तथा दक्षिण) को लौटा दिया जाय पर शाही सेना जिसका सेनापतित्व संयुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं था, विद्रोही राजकुमारों पर यथेष्ट प्रभाव नहीं डाल सकी। औरंगज़ेब ने जसवन्तसिंह को लौट जाने के लिए लिखा और यह प्रगट किया कि उसका आगमन केवल पिता के दर्शनार्थ है। जसवन्तसिंह ने औरंगज़ेब की सेना की ओर बढ़ना जारी रखा। आगे बढ़ने पर उसे ज्ञात हुआ कि औरंगज़ेब अकेला नहीं है वरन् मुराद भी सदल उसके साथ है। यह समय सन्धि-चर्चा का नहीं था। सन्धि का समय हाथों से निकल चुका था। २५ अप्रैल १६५८ ई० को धरमट में दोनों सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। राजपूतों ने बड़ी बहादुरी से आक्रमण किया। पर वे विद्रोही राजकुमारों की संयुक्त सेना पर विजय प्राप्त न कर सके। सुसञ्चालन और सुसङ्गठन के अभाव में राजपूत सेना के बहुत से सरदार मारे गये। महाराजा जसवन्तसिंह स्वयं भी बुरी तरह घायल हुए, और हितैषी सरदारों ने बलपूर्वक उन्हें मैदान से हटाया।

कासिमखाँ की सेना को केवल एक उच्च अफ़सर की क्षति उठानी पड़ी और दूसरे दिन उसके कई अफ़सर औरंगज़ेब से जा मिले। जसवन्तसिंह के जोधपुर लौटने पर एक अद्भुत घटना घटी। शूरवीर रानी ने उन्हें दुर्ग में प्रवेश नहीं करने दिया, क्योंकि वे शत्रु को पीठ दिखा कर युद्धस्थल से भाग आये थे।

धरमट की विजय से औरंगज़ेब का सिक्का जम गया। सर्वत्र उसका यश फैल गया। उसने इस विजय की स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए धरमट के पास ही फतहाबाद नामक नगर बसाया। आगरा पहुँचने के लिए तब वह ग्वालियर की ओर बढ़ा। उसने चम्बल पार की और सामूगढ़ नाम के ग्राम में, जो आगरे से ८ मील पूर्व में स्थित है, पहुँचा। धरमट की पराजय और इतनी शीघ्र आगरे के निकट औरंगज़ेब की उपस्थिति से युवराज दारा के होश उड़ गये। अधिक से अधिक सम्भव सेना एकत्र कर और पिता की आज्ञा लेकर दारा अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए सामूगढ़ की ओर बढ़ा। इसकी सेना का आमुख भाग विश्वासपात्र राजपूत सरदारों की संरक्षता में तथा दक्षिण और वाम विभाग क्रमशः खलीलुल्लाखाँ और सिपहर शिकोह की अधीनता में था। सिपहर शिकोह दारा का छोटा पुत्र था, एक

ऊँचे हाथी पर सवार होकर दारा स्वयं सेना के बीच में उपस्थित था। सदा की भाँति संचालन में साम्य और सहयोग के अभाव से दारा की सेना अपनी शक्ति से कार्य न कर सकी। औरंगज़ेब की कूटनीति ने दारा की सैन्य-शक्ति को क्षीण कर दिया था। उसने बहुत से मुस्लिम अफ़सरों को अपनी ओर तोड़ लिया।

दारा ने एक बड़ी भूल और की। औरंगज़ेब की सेनायें निरन्तर चलते रहकर सामूगढ़ पहुँची थीं। फलतः वे थकावट से चकनाचूर थीं। एक ही प्रबल आक्रमण में वे नष्ट-भ्रष्ट हो जातीं। पर दारा ने एक दम आक्रमण न कर उन्हें एक दिन का अवकाश दे दिया। एक रात पूर्णतया आराम कर औरंगज़ेब की सेना ने नया जीवन और नई शक्ति प्राप्त कर ली। ८ जून १६५८ ई० को युद्ध प्रारम्भ हुआ। दारा ने तोपें छोड़ने की आज्ञा दी। मार से बाहर होने के कारण विरोधी सेनाओं को दारा की तोपों से कोई क्षति न पहुँची। इसके बाद शाही सेना के वाम भाग ने विरोधी सेना के दक्षिणी भाग पर ज़ोरदार आक्रमण किया, जिसको तोपों की बाढ़ से लौटा दिया गया क्योंकि औरंगज़ेब की सेना की तोपें अभी तक चलाई नहीं गई थीं। दूसरा आक्रमण मध्य भाग पर किया गया, जिसको औरंगज़ेब की स्वयं की सुरक्षित सेना ने रोका। शाही सेना के वाम भाग की पराजय हुई। इसका सेनापति रुस्तमखाँ मारा गया। दारा के दक्षिणी भाग ने, जो शत्रु से मिला प्रतीत होता था, खलीलुल्लाखाँ की अधीनता में निरुत्साहपूर्वक मुराद पर आक्रमण किया। मध्य भाग के राजपूतों ने उसके साथ सहयोग किया। उन्होंने मुराद पर ज़ोरदार आक्रमण किया। मुराद के चेहरे पर तीर के तीन घाव आये और उसका सारथी मर कर गिर पड़ा। अन्त में मुराद को पीछे ढकेल दिया गया और आगे बढ़ कर राजपूतों ने औरंगज़ेब द्वारा संचालित एक दस्ते पर आक्रमण किया। परन्तु राजपूत हार गये। पर उनकी शूरता से औरंगज़ेब अत्यन्त प्रभावित हुआ और अपने चंगुल में आये वीर शत्रुओं को भी नष्ट नहीं किया। इस प्रकार जब दारा का दायाँ भाग बुरी तरह कट-पिट कर मैदान से बाहर ढकेला जा रहा था, वह सेनापति-विहीन वाम भाग को सहायता देने में लगा हुआ था। रुस्तमखाँ वाम भाग का सेनापति था। मध्य से निकल कर वह दक्षिण भाग के आमुख भाग में आ डटा। उसकी उपस्थिति से सेना को अपनी तोपें बन्द कर देनी पड़ीं। लड़ते लड़ते वह मैदान के एक कोने में जा पहुँचा। फलतः शेष सेना से उसका सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया। इस प्रकार औरंगज़ेब ने अपनी सुरक्षित तोपों को अग्नि वर्षा का आदेश दिया। दारा ने विचित्र और ख़तरनाक परिस्थिति में अपने आपको पाया। एक ओर शत्रु की तोपें उसे घेरने के लिए आगे आ रही थीं और दूसरी ओर भारी हथियारों से लदे उसके सैनिक कड़ी गर्मी से तथा कठोर परिश्रम से पसीने पसीने हो रहे थे। वह स्वयं एक

ऊँचे हाथी पर सवार था, जहाँ कि उसे शत्रु की तोपें सुगमता से निशाना बना सकती थीं। अपने अफ़सरों की सलाह से वह घोड़े पर सवार हो गया। हाथी की खाली अम्बारी से भाँति-भाँति के अनुमान लगाये जाने लगे। यह धारणा उसके सैनिकों में घर कर गई कि उसकी मृत्यु हो गई है। गर्मी और युद्ध भूमि के श्रम से थके सिपाहियों के दिल टूट गये और वे सुरक्षा के लिए व्याकुल, व्यूह की स्थिति छोड़ कर भागने लगे। दारा हताश हो युद्ध भूमि से भाग निकला। इस युद्ध में उसके १०,००० सैनिक काम आये। इनके अतिरिक्त श्रम और उष्णता ने भी बहुतों के प्राण ले डाले। आगरा पहुँच कर शर्म के कारण दारा अपने पिता से भेंट के लिए भी नहीं गया। अपने कुटुम्ब और चुने हुए साथियों सहित वह दिल्ली के लिए चल पड़ा। उसकी इच्छा थी कि यहाँ ठहर कर पुनः युद्ध की तैयारी करे और यदि सम्भव हो तो अपने भाइयों को हरा कर साम्राज्य प्राप्त करे।

विजयी औरंगज़ेब ने विजय का सेहरा मुराद के सिर बाँधा। उसके घावों की मरहम-पट्टी कराई गई और यह घोषणा की गई कि मुराद सम्राट बना दिया गया है। उसका राज्य अविलंब प्रारम्भ हो गया। अब दोनों भाई आगरे आए और नगर की दीवार के बाहर पड़ाव डाला। अधिकांश सरदार और दरबारी दारा का पक्ष छोड़ कर विजयी राजकुमारों के पक्ष में जा सम्मिलित हुए। शाहजहाँ ने मिलने के लिए औरंगज़ेब को बुलाया। पहिले तो वह मिलने को तैयार हो गया किंतु अविश्वासी स्वभाव के कारण उसने समझा कि उसके प्राण लेने के लिए कोई जाल रचा गया है और इस कारण उसने अपने पिता से मिलने की अनिच्छा प्रकट की। उसने नगर पर अधिकार कर दुर्ग की ओर सैनिक चौकियाँ बैठा दीं। प्राणों को संकट में जान शाहजहाँ ने दुर्ग के फाटक बंद कर बचाव की तैयारी आरम्भ कर दी। औरंगज़ेब ने दुर्ग का घेरा डाल दिया और तोपचियों को आज्ञा दी कि वे दुर्ग की दीवारें भूमिसात् कर दें। किन्तु तोप की मार दुर्ग की प्राचीरों को कुछ भी क्षति न पहुँचा सकी और दुर्ग आक्रमण के समक्ष अजेय सिद्ध हुआ। "खोने के लिए समय नहीं है" यह समझ कर औरंगज़ेब ने यमुना से दुर्ग की जल-प्राप्ति रोक दी। उसे आशा थी की जल के अभाव से व्याकुल पिता शीघ्र आत्मसमर्पण कर देगा। दुर्ग के भीतर के कुओं का अस्वस्थ्यकारी जल शाही कुटुम्ब और सैनिकों को कष्ट उत्पन्न करता था। शाहजहाँ ने पुनः औरंगज़ेब के पितृ-प्रेम को उद्बुद्ध करना चाहा और आपसी झगड़े को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने का महत्व समझाने की भी चेष्टा की। उत्तर में औरंगज़ेब ने स्वामि-भक्ति का विश्वास दिलाया। इस पर शाहजहाँ ने दुर्ग के फाटक खोल दुर्ग को औरंगज़ेब के ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद के अधीन कर दिया। राजकुमार मुहम्मद ने दुर्ग से शाहजहाँ के अनुयाइयों को हटा दिया। जहान आरा

की मध्यस्थता से बाप और बेटे के मिलने का प्रबन्ध किया गया जिसमें शाहजहाँ ने साम्राज्य को चारों भाइयों में बाँट देने का प्रस्ताव रखा। औरंगज़ेब ने पिता से मिलने के लिए दुर्ग में प्रवेश किया, किन्तु मार्ग से ही क्रुद्ध हो कर लौट आया। बात यह हुई कि मार्ग में ही उसके कर्मचारियों ने शाहजहाँ का एक पत्र उसे दिखाया। पत्र दारा के नाम था और यह सिद्ध करता था कि बूढ़े शाहजहाँ का हृदय अब भी दारा के साथ था और औरंगज़ेब के विरुद्ध। इसके पश्चात् पिता और पुत्र फिर नहीं मिले। औरंगज़ेब ने एक शानदार दरबार किया और मुहम्मद को आगरे में छोड़ दिया और दारा का पीछा करने के लिए निकल पड़ा।

दिल्ली के मार्ग में ही औरंगज़ेब और मुराद के सम्बन्धों में कुछ शिथिलता आ गई। मुराद ने अनुभव किया कि औरंगज़ेब ही सब कुछ है। वही एकाधिकारी शासक के समान प्रत्येक कार्य करता है और मुराद की ओर से उदासीन सा रहता है। इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता नाम के सम्राट मुराद को एक आँख न भाई और उसने नई भर्ती आरम्भ कर दी। कुटिलता और निर्दयता में दक्ष औरंगज़ेब ने बड़ी चतुराई से दारा का पीछा करने में सहायता देने के लिए मुराद को कुछ रुपया दिया तथा एक दावत में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। कुछ दिन तक मुराद आने में हिचकिचाता रहा। पर औरंगज़ेब के क्रीत-दास अपने एक अफसर के कहने से उसने आना स्वीकार कर लिया। भोजन और मद्यपान के अनन्तर औरंगज़ेब ने मुराद से एक डेरे में जा कर मृगया (शिकार) से उत्पन्न श्रम दूर करने की प्रार्थना की। मुराद के तंबू में एक नौकरानी पैरों की मालिश करने भेजी गई। मुराद के गहरी नींद सो जाने पर उसे निशस्त्र कर दिया गया। औरंगज़ेब ने अवसर देख मुराद को बंदी बना दिल्ली के दुर्ग में भेज दिया। रुपये से अन्धा कर मुराद की सेना को भी उसने अपनी ओर मिला लिया। यह घटना मथुरा के पास की है।

इतने समय में दारा एक बड़ी सेना भर्ती करने में सफल न हो सका, अतः वह राजधानी को छोड़ कर लाहौर पहुँचा। वहाँ अपनी स्थिति को दृढ़ कर उसने औरंगज़ेब की प्रगति रोकने का विचार किया। सतलज की नावों की रक्षार्थ तथा शत्रुओं की गति-विधि से सजग और सचेत रहने के लिए दारा ने सतलज के किनारे अपनी कुछ सेना तैनात कर दी। वह सोचता था कि औरंगज़ेब की थकी-माँदी सेना उसे पकड़ने के लिए शीघ्रतापूर्वक लाहौर नहीं पहुँच सकती। इस प्रकार समय प्राप्त कर वह अपनी स्थिति को औरंगज़ेब का सामना करने के योग्य बना सकेगा। परन्तु उसकी यह धारणा ग़लत सिद्ध हुई। मुराद से मुक्ति पा कर औरंगज़ेब ने दिल्ली पर धावा बोल दिया और सहज ही उस पर अधिकार पा लिया। यहाँ से उसने दो सेनाएँ भेजीं, एक दारा को पकड़ने के लिए लाहौर की ओर और दूसरी दारा के

बड़े लड़के सुलेमान शिकोह तथा भाई शुजा को परास्त करने के लिए इलाहाबाद की ओर। दिल्ली में उसने अपना राज्य-तिलक कराया और अपने आपको सम्राट घोषित किया। इस प्रकार से शाहजहाँ का शासन काल समाप्त हुआ और वह बादशाह से बंदी बना दिया गया। उसने अपना शेष जीवन आगरे के दुर्ग में व्यतीत किया। उसका स्वर्ण-जटित संगमरमर कक्ष उसका बंदीगृह बना। इस महल में रहते हुए वह ताजमहल पर दृष्टिपात कर सकता था जो अभी निर्मित हो रहा था।

इस प्रकार औरंगज़ेब उत्तराधिकार-संघर्ष में विजयी हुआ। दारा लाहौर में भी औरंगज़ेब का सामना करने की शक्ति एकत्र नहीं कर सका अतः वहाँ से भाग कर वह गुजरात पहुँचा। गुजरात के शासक ने अहमदाबाद में उसका भव्य स्वागत किया और १० लाख रुपये की भेंट दी। इसी रुपये की सहायता से एक बड़ी सेना तैयार कर उसने औरंगज़ेब के साथ अन्तिम संघर्ष की तैयारी की। राजा जसवंतसिंह के बुलाने पर वह जोधपुर के लिए चल पड़ा। किन्तु अजमेर पहुँच कर उसे यह जान कर बड़ी निराशा हुई कि आमेर नरेश जयसिंह ने जसवंतसिंह को औरंगज़ेब के पक्ष में कर लिया है। इसी बीच में औरंगज़ेब द्वारा भेजी गई सेना ने दारा को अजमेर के निकट देवरा के दर्रे में युद्ध करने को विवश कर दिया। दारा पुनः परास्त हुआ और उसने भाग कर प्राण बचाये। अहमदाबाद लौटने पर वहाँ के शासक ने उसे नगर में घुसने तक की भी आज्ञा नहीं दी। अफ़गानिस्तान की ओर मुँह करने के अतिरिक्त दारा के पास अब कोई चारा न था। मार्ग में उसने मलिक जीवन नामक एक बलूची सरदार के यहाँ, जिसकी उसने एक बार शाहजहाँ के क्रोध से रक्षा की थी, शरण ली। इसी मलिक जीवन के घर पर दादर नामक स्थान पर वह ठहरा। दारा अपनी बेग़म नादिरा से अत्यधिक प्रेम करता था। वह सदा उसके सुख-दुख की साथी रही थी। पराजय पर पराजय प्राप्त कर जब दारा भाग्य की ठोकरें खाता डोल रहा था तब भी रुग्ण बेग़म छाया की भाँति सदा उसके साथ रही। दादर आकर बेग़म ने भी दारा का साथ छोड़ स्वर्ग की राह ली। बेग़म के दुखद वियोग की असह्य चोट खा दारा स्वयं भी रोग-शैया पर पड़ गया। रोग ने भयानक रूप धारण कर लिया। इधर मलिक जीवन ने विश्वासघात कर उसे औरंगज़ेब के हाथ सौंप दिया। अपने छोटे बेटे सिपहर शिकोह के साथ बन्दी बना कर दिल्ली भेज दिया गया, जहाँ १ सितम्बर १६५९ ई० को औरंगज़ेब के अधिकार में दे दिया गया। औरंगज़ेब को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। दारा का बड़ा निरादर और अपमान करने के लिए मैले कुचैले कपड़े पहना कर और एक गन्दे हाथी पर बिठा कर उसे नगर की सब सड़कों पर घुमवाया गया। तदनन्तर दारा को बांध कर एक तहख़ाने में डाल दिया और उसे क्या दंड दिया जाय इस पर विचार किया जाने लगा। परन्तु उसे क्या दंड दिया जाय इस पर सब दरबारी

एकमत न हो सके। दानिशमंद खाँ ने इस महान बंदी की प्राण-रक्षा के लिए प्रार्थना की तो दारा की बहिन रोशन आरा तथा शाइस्ता खाँ ने मृत्युदंड को ही काफ़िर दारा के लिए उपयुक्त ठहराया। औरंगज़ेब ने एक विशेष न्यायमंडली की योजना की। इसका अध्यक्ष एक उच्च धार्मिक विद्वान् बनाया गया। इस न्यायमंडली को दारा पर लगाये गये विधर्मी होने के अपराध की जाँच का कार्य-भार सौंपा गया। इसने दारा को अपराधी घोषित किया और उसका सर क़लम करने का दण्ड निश्चित किया। दारा का ज्येष्ठ पुत्र सुलेमान शिकोह गढ़वाल से बन्दी बना कर दिल्ली भेजा गया। उसे ग्वालियर के क़िले में रखा गया, जहाँ विष के प्रभाव से उसका जीवन दीप बुझने लगा। औरंगज़ेब ने शुजा को भी चैन की सांस नहीं लेने दी। शुजा ने बहादुरपुर के युद्ध के पश्चात् मुंगेर में शरण ली थी। उत्तर प्रदेश में स्थित फतहपुर जिले के खजुआ नामक स्थान पर औरंगज़ेब ने उसे परास्त कर दिया। इसके बाद उसने बंगाल का रास्ता लिया। आतंक के मारे बंगाल में न ठहर वह आराकान पहुँचा जहाँ उसे माघ जाति के लोगों ने मार डाला। अपने छोटे भाई मुराद को भी, जो दिल्ली दुर्ग में बंदी था, समाप्त कर औरंगज़ेब ने अपने आप को निरापद कर लिया। इस प्रकार उत्तराधिकार के संघर्ष के अपने सभी प्रतिद्वन्दियों का चिन्ह मिटा कर वह पूर्णरूपेण भारत सम्राट बना।

शाहजहाँ के अन्तिम दिन, १६६६

आगरा दुर्ग के शाह बुर्ज में आठ वर्ष तक शाहजहाँ ने बन्दी जीवन व्यतीत किया। यद्यपि उसको सर्व सुखदायक सामग्री सुलभ हो गई और उसकी प्रिय पुत्री जहान आरा सर्वदा उसकी सेवा में रहती रही तो भी उस पर सदा सशंक दृष्टि रखी जाती थी। बाहरी सम्पर्क का अवसर उसे नहीं दिया जाता था। कोई भी उससे पत्र-व्यवहार नहीं कर सकता था। उससे भेंट करने के लिए सरकारी आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी। भेंट के समय औरंगज़ेब के दूतों की उपस्थिति रहती थी। शाहजहाँ के अमूल्य हीरे जवाहरात पर भी औरंगज़ेब की दृष्टि पड़ी किन्तु उन्हें वह देने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसी बीच में पिता और पुत्र में एक अत्यन्त कटुतापूर्ण पत्र व्यवहार हुआ। इसमें औरंगज़ेब ने पिता पर दारा के पक्षपात का दोष लगाया और अपने आपको ईश्वरीय प्रकोप के सम्मुख समर्पित करने के लिए कहा। भूतपूर्व सम्राट इन लाँछनों की चोट से तिलमिला उठा और उत्तर में उसने लुटेरा तथा परधनापहारी शब्दों से औरंगज़ेब को सम्बोधित किया। उसने औरंगज़ेब को पाखंडी तक कहा। दारा और मुराद की निर्मम हत्या तथा शुज़ा के हृदयविदारक दुर्भाग्य से बूढ़े पिता की वेदना और भी तीव्र हो उठी। उसने अपना सारा समय प्रार्थना में व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। जनवरी १६६६ में वह बीमार पड़ गया और अपनी अन्तिम इच्छा

प्रकट कर ३१ जनवरी १६६६ को ७४ वर्ष की अवस्था में इस लोक से विदा हुआ। कहा जाता है कि अपने अन्तिम क्षण तक वह ताजमहल की ओर अपलक नेत्रों से ताकता रहा। कठोर औरंगज़ेब मृत्यु उपरान्त भी वैर को न भूला और उसने शाही ठाठ से बादशाह की क्रिया-कर्म करने की आज्ञा नहीं दी। बादशाह की अर्थी साधारण नौकरों और हिजड़ों द्वारा ले जाई गई। ताजमहल में ही अपनी प्रियतमा मुमताज़ महल के पार्श्व में उसको दफ़नाया गया।

व्यक्तित्व तथा चरित्र

शाहजहाँ के चरित्र और सफलताओं के विषय में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। स्वर्गीय वी० ए० स्मिथ के मतानुसार शाहजहाँ मनुष्य और शासक दोनों ही रूपों में असफल रहा। उसके अनुसार उसके शासन काल को मध्यकालीन भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहना भ्रमपूर्ण है। शाहजहाँ के दरबार की भव्यता तथा इसके द्वारा निर्मित प्रासादों का रुचिकर व मोहक सौन्दर्य शाहजहाँ के विषय में उक्त भावना का मूल कारण है। तत्कालीन भारतीय इतिहासकारों एवं यूरोपीय यात्रियों का मत है कि शासक के रूप में शाहजहाँ महान् भी था और पूर्णतया सफल भी। वह प्रजा के हृदयों पर शासन करता था तथा प्रजा का पुत्रसम पोषण करता था। उसके शासन में प्रजा शान्ति और सम्पन्नता का अनुभव कर प्रसन्न रहती थी। किन्तु उपर्युक्त दोनों मत आंशिक रूप में ही सत्य हैं।

शाहजहाँ के व्यक्तित्व और चरित्र के दो पक्ष हैं। वह आंशिक रूप में उदार एवं प्रगतिशील था अतः अपने पिता एवं पितामह का योग्य उत्तराधिकारी था। इसके विपरीत कुछ बातों में वह अपने पुत्र औरंगज़ेब से साम्य रखता था और उसके द्वारा किये गये कार्यों के ही अनुरूप कार्य करने का भी विचार रखता था। इस विचार से वह निस्सन्देह एक प्रतिक्रियावादी था। स्मिथ का यह कथन है कि शाहजहाँ एक आज्ञाकारी पुत्र नहीं था, अक्षरशः सत्य है। उसने अपने पिता के विरुद्ध कई वर्षों तक विद्रोह का झंडा ऊँचा रखा था, परन्तु इस दोष का विचार करते समय इस तथ्य को भी दृष्टिगत रखना चाहिए कि अपनी सौतेली माँ के ईर्ष्यापूर्ण व्यवहार के कारण ही वह पिता के विरुद्ध विद्रोह करने को विवश हुआ। जैसा कि हम देख चुके हैं, नूरजहाँ की हार्दिक इच्छा अपने जामाता शहरियार के लिए सिंहासन का मार्ग निरापद करने की थी। फिर पिता के विरुद्ध विद्रोह की परम्परा शाहजहाँ को अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई थी। अतः इस कार्य के लिये शाहजहाँ को दोष देना अनुचित है। वह एक शक्तिसम्पन्न तथा महत्त्वाकांक्षी राजकुमार था। पिता के पश्चात् साम्राज्य का अधिकारी होने की उसकी तीव्र लालसा थी। इसकी पूर्ति के लिए उसने अनैतिक साधनों के अपनाने में हिचकिचाहट नहीं की। इसी प्रकार

स्मिथ का यह तर्क कि क्योंकि शाहजहाँ मुमताज़ महल की मृत्यु के बाद भी अन्य पत्नियां रखता था अत: उसे आदर्श पति नहीं कहा जा सकता, बहुत हल्का है। उसने शाहजहाँ के चरित्र को कसौटी पर कसते समय मुग़ल राजकुमारों की इस सामन्य चारित्रिक विशेषता पर ध्यान नहीं दिया कि वे सभी बहुपत्नीवादी थे और दाम्पत्य प्रेम के प्रति भक्ति की भावना नहीं रखते थे और फिर शाहजहाँ के पक्ष में तो यह भी कहा जा सकता है कि उसने २०-२५ वर्षों तक मुमताज़ के प्रति अपने प्रेम को अचल और पवित्र रखा। पिता के रूप में उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अन्य पुत्रों से अधिक महत्त्व दिया, जिसके कारण अपने कुटुम्ब पर उसका नियंत्रण नहीं रह पाया। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में वह सुशील, दयालु और सज्जन था तो भी उसमें मैत्री और दया भाव इतनी मात्रा में नहीं पाये जाते जितनी मात्रा में यह बाबर, अकबर और जहाँगीर के चरित्र में परिलक्षित हैं। शाहजहाँ के पूर्वज, किसी मित्र अथवा निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने पर कई-कई दिन तक भोजन को छूते भी नहीं थे। हुमायूँ ने अपने साथ दग़ा करने वाले भाइयों को दण्ड देने में जो हिचकिचाहट दिखाई उसका अंश भी शाहजहाँ में नहीं मिलता। उसने अपने आपको निरापद करने के लिए अपने सभी पुरुष सम्बन्धियों का वध करवा डाला था। स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित इन कुछ कार्यों को यदि ध्यान में न लाया जाय तो शाहजहाँ में हमें एक सुसंस्कृत सज्जन पुरुष के सभी गुण मिलते हैं। वह विद्वान् और सुरुचि सम्पन्न था। वह नम्र था और ध्यानपूर्वक दूसरों की बातें सुनता था। उसे प्रकृति से मधुर स्वभाव और दयालु दृष्टि प्राप्त हुई थी। शाहजहाँ को साहित्य और ललित कलाओं से अत्यधिक प्रेम था। जैसे कि संगीत, चित्रकला तथा स्थापत्य कला से विद्वज्जन उससे आदर पाते और पुरस्कृत होते थे। दरबार में हो अथवा यात्रा में, वह सर्वदा इन कला-प्रेमियों से घिरा रहता था। फ़ारसी के साथ ही साथ हिन्दी तथा संस्कृत भी उसका संरक्षण पा फली फूली। दरबारी इतिहासकार अब्दुलहमीद लाहौरी लिखता है कि गंगाधर तथा गंगालहरी के प्रसिद्ध लेखक जगन्नाथ पंडित शाहजहाँ के राज कवि थे। बादशाह उनकी रचनाओं को प्रेमपूर्वक सुनता तथा उचित पुरस्कार देता था। संस्कृत और हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् कवीन्द्र आचार्य सरस्वती (बनारसी) तथा उन्हीं की कोटि के अन्य संस्कृत विद्वान् राज दरबार की शोभा बढ़ाते थे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि राजाश्रय के कारण ही अनेक ग्रन्थ-रत्नों की रचना इन विद्वानों द्वारा सम्भव हो सकी। हिन्दी काव्य की ओर भी शाहजहाँ उदासीन न रहा। "सुन्दर शृङ्गार", "सिंहासन बत्तीसी" और "बारहमासा" के रचयिता प्रसिद्ध कवि सुन्दरदास उपनाम महाकवि 'राय' के अतिरिक्त, जो सम्राट का मित्र तथा विशेष कृपापात्र था, हिन्दी के सामयिक सर्वश्रेष्ठ कवि चिन्तामणि पर भी शाहजहाँ की विशेष कृपा थी। शाहजहाँ फलित ज्योतिष में विश्वास रखता था। अतः अनेकानेक ज्योतिषी

राजवंशजों की कुण्डलियाँ तैयार करने, विवाह के लिये शुभ लग्न तथा सैनिक स्थान के लिए शुभ मुहूर्त निकालने में व्यस्त रहते थे। अपने पूर्वजों की भाँति शाहजहाँ ने बसन्त तथा दशहरा आदि हिन्दू त्योहारों को मनाने और तुलादान करने की प्रथायें जारी रक्खीं। तुलादान सोना, चाँदी तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं से कराया जाता था। तुलादान के ये पदार्थ साधुओं, ब्राह्मणों तथा अन्य धार्मिक पुरुषों में वितरण कर दिये जाते थे। उसने हिन्दुओं को उच्च पदों पर आसीन करने की प्रथा भी जारी रक्खी। इसमें शाहजहाँ ने अपने पिता तथा पितामह का पूर्ण अनुकरण किया।

शाहजहाँ अपने पिता की अपेक्षा अधिक उत्तम सैनिक तथा सेनानायक था। शरीर तथा मस्तिष्क की अपूर्व प्रतिभा से विभूषित शाहजहाँ अपनी वृद्धावस्था तक स्वयं युद्ध की योजनायें बनाता तथा स्वयं सैन्य संचालन करता रहा। उसने सेना का पुनः संगठन कर उसे सैनिक संघर्ष के अधिक उपयुक्त बनाया। परन्तु इस सबके होते हुये भी वह फारस के बादशाह से कंधार वापिस न ले सका और उसके तीनों प्रयास निराशा तथा जन, धन व मान हानि में ही समाप्त हुए। उसके मध्य एशियन संघर्ष भी अधिक सफल न हुए। अतः हम कह सकते हैं कि उसके सैनिक सुधारों तथा उच्च आकांक्षाओं के होते हुये भी शाहजहाँ के समय मुग़ल सेना की दशा इतनी अच्छी न थी जितनी अकबर के समय में थी।

शाहजहाँ काल भारत के मध्य कालीन इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध है। यह केवल कला और कला में भी वास्तु कला की दृष्टि से ही सत्य कहा जा सकता है। शाहजहाँ द्वारा निर्मित विशाल भवन तथा सुन्दर इमारतें मुग़ल वास्तु कला की पराकाष्ठा प्रकट करती हैं। दिल्ली का लाल क़िला तथा उसके संग-मरमर के सुन्दर भवन तथा जामा मसजिद, आगरे के किले की मोती मसजिद, दीवाने आम व दीवाने ख़ास, सर्व श्रेष्ठ ताजमहल कथा अन्य अनेक स्थानों पर शाहजहाँ द्वारा निर्मित इमारतें हिन्दू-मुस्लिम शैली का अद्भुत नमूना हैं। तख़्त ताऊस नामक शाहजहाँ का रत्नजटित सिंहासन जिसके निर्माण में सात वर्ष लगे तथा विश्वविख्यात कोहनूर उसके दरबार को विशेष आभा प्रदान कर अवर्णनीय बनाते थे। शाहजहाँ की संरक्षता में संगीत ने विशेष प्रगति की। चित्रकला को और भी विशेष ध्यान दिया गया परन्तु समालोचकों के अनुसार शाहजहाँ काल की चित्रकला में मौलिकता का अभाव है। सत्य है कि उसके समय फारसी तथा हिन्दी साहित्य में विशेष उन्नति हुई परन्तु फारसी में अबुलफज़ल तथा हिन्दी में सूरदास व तुलसीदास जैसी प्रतिभा का कोई कवि इस समय नहीं हुआ।

संस्कृत साहित्य भी उन्नति की ओर अग्रसर हुआ और शाहजहाँ ने उसे भी विशेष प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार साहित्य और कला की सर्वतोमुखी उन्नति शाह-

जहाँ काल की विशेष देन है। परन्तु स्मरण रहे कि यद्यपि शाहजहाँ भवन-निर्माण कला में अन्य सम्राटों से कहीं आगे निकल गया, उसका राज्य-काल चित्रकला में जहाँगीर काल से तथा साहित्य, संगीत और मूर्तिकला में अकबर काल की समता न कर सका।

शाहजहाँ एक कुशल प्रबन्धक तथा उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ था। उसकी प्रतिभा में मौलिकता का अभाव परन्तु सौन्दर्य का बाहुल्य था। उसने सम्पूर्ण राज्य प्रबन्ध विशेषतया सैनिक प्रबन्ध अर्थात् मनसबदारी प्रथा में विशेष संशोधन कर उसे दोषरहित बनाने का प्रयत्न किया। उसने मनसबदारों का वेतन भी कम करने का प्रयास किया तथा उन्हें अपने पदानुसार सेना की एक निश्चित संख्या रखने के लिये बाध्य किया। इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष में उसने घोषणा की कि प्रत्येक मनसबदार को जिसे भारत में जागीर प्राप्त है अपने पद की एक तिहाई तथा जिसे भारत से बाहर जागीर प्राप्त है उसे अपने पद की एक चौथाई सेना रखना अनिवार्य होगा। कुछ समय पश्चात् दूसरी दशा के मनसबदारों को अपने पद की १/५ सेना रखना अनिवार्य कर दिया गया। शाहजहाँ के समय में ६,००० ज़ात तथा ६,००० सवार का मनसब सर्वोच्च था, जो उसके श्वसुर आसफ़ खाँ को प्राप्त था। परन्तु राजकुमारों का पद और भी ऊँचा हो सकता था। उदाहरणस्वरूप दारा का मनसब ४०,००० ज़ात तथा २०,००० सवार का था। उसने मालगुजारी उपज के १/३ भाग के बदले १/२ भाग कर दी। इससे राजकीय आय ४ करोड़ के बदले कहीं अधिक हो गई। उसने अकबर काल की "ज़ब्ती" की प्रथा को स्थगित कर दिया। अपने साम्राज्य का ७/१० भाग ठेके पर देकर उसने ख़ालसा भूमि, जिसका सरकार स्वयं प्रबन्ध करती थी, कम कर दी। इस प्रकार कृषकों का भार अधिक हो गया। इसका कारण केवल यही नहीं था कि उनकी मालगुजारी उपज के १/३ के बदले १/२ कर दी गई थी, वरन् अब उन्हें जितनी भूमि उनके अधिकार में होती थी उस सबकी मालगुजारी देनी पड़ती थी, न कि केवल उसकी जो उनकी जोत में हो। अतः कृषक वर्ग की दशा जो समस्त देश की जन-संख्या का ७५ प्रतिशत थे अकबर तथा जहाँगीर काल की दशा की अपेक्षा ख़राब हो गई। शाहजहाँ ने भी अपने पूर्वजों की भांति अन्तिम न्यायाधीश का कार्य करना जारी रक्खा। वह दुष्ट मनुष्यों को कठोर दण्ड देने तथा निष्पक्ष न्याय करने के लिए प्रसिद्ध है। अपनी धर्मान्धता तथा कर वृद्धि की नीति का अनुसरण करते हुये भी वह एक जनप्रिय शासक था। अत्यन्त परिश्रमी, सहनशील, कर्तव्यनिष्ठ शाहजहाँ ब्राह्म मुहूर्त में उठता तथा सूर्योदय के समय झरोका दर्शन दे अपने पितामह अकबर की भांति राज-कार्य में व्यस्त हो जाता था। प्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "स्टडीज़ इन मुग़ल इण्डिया" में शाहजहाँ के दैनिक कार्यक्रम का

जो वर्णन दिया है उससे प्रगट होता है कि शाहजहाँ ठाठबाट का शौकीन तथा आमोदप्रिय शासक होते हुए भी अत्यन्त परिश्रमी सम्राट् था। तो भी उसके राज्य-काल में मुग़ल वंश की अवनति का बीजारोपण हुआ। उसकी धर्मान्धता तथा अनुदारता औरंगज़ेब के कट्टर शासन की अग्रदूत थी। विधर्मियों के प्रति उसकी असहिष्णुता ने प्रगट कर दिया कि शियाओं को उसके दरबार में उचित स्थान न था। उसकी धन-लोलुपता ने उसे जनता का कर-भार बढ़ाने के लिये बाध्य किया, जिससे जनता के कष्ट में विशेष वृद्धि हुई। उसकी भेंट तथा उपहार स्वीकार करने की प्रथा ने एक प्रकार से रिश्वत को प्रोत्साहन दिया और भेंट तथा उपहार देना राजकीय दरबार में ही नहीं वरन् राजकीय परिवार तथा अमीरों व सामन्तों में एक प्रथा का रूप धारण कर गई। इससे राज्य-प्रबन्ध में भ्रष्टाचार फैल गया। अपने वाह्य ठाठबाट के कारण वह जनता से अनुचित रूप से धन एकत्रित करने के लिये बाध्य हुआ तथा उसकी विलासप्रियता के कारण जनता का नैतिक स्तर बहुत नीचा हो गया।

विशेष अध्ययन के लिए पुस्तकें

(अ) फ़ारसी

१. बादशाह नामा (पाँडुलिपि) लेखक मिर्ज़ा अमीनई रज़वीनी

२. बादशाह नामा (पाँडुलिपि) लेखक जलालुद्दीन तबताबाई।

३. बादशाह नामा (पाँडुलिपि) लेखक मुहम्मद वारिस।

४. बादशाह नामा (पाँडुलिपि) लेखक मुहम्मद सादिक़।

५. बादशाह नामा (फारसी में R. A. S. Bangal द्वारा १८६७ में Bibliotheca Indica Series में प्रकाशित) लेखक अब्दुल हमीद लाहौरी।

६. 'अमले सलीह' (Bibliotheca Indica Series में फारसी में कलकत्ता में प्रकाशित) लेखक मुहम्मद सलीह काँबू।

७. ज़फरनामाए आलमगीरी (पाँडुलिपि) लेखक मीर खाँ।

८. तुज़ुके आलमगीरी, रोगर्स तथा बेवरिज द्वारा अँग्रेजी में दो भागों में अनुवादित।

९. इक़बाल नामा जहाँगीरी (Bibliotheca Indica Series में फ़ारसी में कलकत्ता में प्रकाशित) लेखक मुतामिद खाँ।

१०. मकज़ाने अफग़ाना (पाँडुलिपि) लेखक नियामतुल्ला। १८२९ में प्रकाशित 'History of the Afghans' में बी० डॉर्न द्वारा अंग्रेज़ी में अनुबादित।

(ब) अंग्रेज़ी

१. English Factories in India डब्ल्यू० फॉस्टर द्वारा संपादित (केवल सम्बन्धित भाग)।

२. The Travels of Peter Mundy रिचर्ड टैम्पल द्वारा सम्पादित।

३. The Travels of Sebastian Manrique सी० ई० लुआई तथा एच० हॉस्टन द्वारा सम्पादित।

४. Travels in the Mughal Empire लेखक फ्रैंकोयस बर्नियर। ए० कौन्स्टेबल द्वारा अंग्रेजी में अनूदित।

५. Travels in India लेखक जीन बैप्टिस्ट टैवर्नियर। वी० बॉल द्वारा अंग्रेजी में अनूदित।

(स) आधुनिक पुस्तकें

१. History of Shah Jahan of Delhi लेखक बनारसी प्रसाद सक्सेना, १९३२।

२. From Akbar to Aurangzeb लेखक डब्ल्यू० एच० मोरलैंड, १९२३।

३. Cambridge History of India भाग चार, अध्याय सात।

अध्याय ८

औरंगज़ेब, १६५८—१७०७

प्रारम्भिक जीवन

मुहीउद्दीन मोहम्मद औरंगज़ेब का जन्म ३ नवम्बर सन् १६१८ को दोहाद के निकट उज्जैन में हुआ था। उस समय उसका बाबा जहाँगीर दक्षिण से आगरा लौट रहा था। अपने पिता शाहजहाँ के बिद्रोह काल में औरंगज़ेब और उसके बड़े भाई दारा को बहुत कष्ट सहना पड़ा। इन दोनों को नूरजहाँ के पास बंधक के रूप में रखा गया और जब शाहजहाँ ने समर्पण कर दिया और उसे क्षमा कर दिया गया, तो इन दोनों को मुक्त किया गया। इन सब बातों के कारण उसकी शिक्षा १० वर्ष की आयु में योग्य शिक्षकों के संरक्षण में प्रारम्भ की गई। वह बहुत प्रखर बुद्धि तथा परिश्रमी विद्यार्थी था। वह कुरान और हदीस, जैसी धार्मिक पुस्तकों का पंडित हो गया। अल्पायु में ही वह अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञाता हो गया और साथ में उसने तुर्की तथा हिंदी भी सीख ली। उसे धार्मिक विषयों के अध्ययन में विशेष रुचि थी, परन्तु चित्रकला, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं की ओर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। इसके साथ साथ उसे सैनिक शिक्षा का भी उचित ज्ञान कराया गया और वह शीघ्र ही कुशल सैनिक बन गया। सन् १६३४ के अंत में उसे दस हज़ार ज़ात और चार हजार सवार के पद पर मनसबदार नियुक्त किया गया। ओरछा के जूझर सिंह के विरुद्ध बुन्देल आक्रमण का भार उसे ही सौंपा गया। वहाँ पर उसने कूटनीति और युद्ध का पहिला अनुभव प्राप्त किया। इसके बाद उसे दक्षिण का राज्यपाल बनाया गया जहाँ वह १६३६ से १६४४ तक रहा। यहाँ अपने कार्यों के कारण वह एक कुशल सैनिक, प्रबंधक तथा कूटनीतिज्ञ माना जाने लगा। १८ मई सन् १६३७ को फारस के राज्य-घराने के शाहनवाज़ की पुत्री दिलरास बानू बेग़म के साथ औरंगज़ेब का पाणिग्रहण संस्कार हुआ। अपने बड़े भाई दारा से विचार-भेद हो जाने के कारण १६४४ में उसे दक्षिण के राज्यपाल की नौकरी से त्यागपत्र देना पड़ा। परन्तु फरवरी १६४५ में उसे क्षमा कर दिया गया और गुजरात का राज्यपाल नियुक्त किया गया। यहाँ वह १६४७ तक रहा, जहाँ से उसे बल्ख के आक्रमण का भार संभालना पड़ा। कुशल सेनापति होते हुए भी औरंगज़ेब ट्रांस ऑक्सियाना विजित न कर सका। सम्राट ने उसे वापस

बुला लिया और मुलतान का राज्यपाल नियुक्त किया जिस पद पर वह १६४८ से १६५२ तक कार्य करता रहा। इसी बीच उसे १६४९ और १६५२ में दो बार कंधार को पुनर्विजित करने के लिये भेजा गया परन्तु इन दोनों आक्रमणों में वह असफल रहा। इन असफलताओं के कारण शाहजहाँ बहुत अप्रसन्न हुआ और १६५२ में उसे पुनः दक्षिण का राज्यपाल बना कर भेज दिया। औरंगज़ेब इस बार दक्षिण भारत में १६५२ से १६५८ तक राज्यपाल रहा।

अपने राज्यपाल काल में औरंगज़ेब ने उच्च कोटि की प्रबंध शक्ति तथा कर्तव्यपरायणता का उदाहरण दिया। परन्तु इसके साथ साथ वह अपने दल का शक्तिशाली संगठन करके अपने पिता का सिंहासन प्राप्त करने की चेष्टा में भी लगा रहता था। कट्टर सुन्नी होने के कारण वह हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतों को नापसंद करता था। धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन करके उसने खुल्लमखुल्ला राजपूतों को अपमानित भी किया। बीजापुर और गोलकुन्डा के युद्ध में जब विजयश्री उसके चरण चूमने वाली थी तभी उसने अपने पिता शाहजहाँ की बीमारी और मृत्यु की अफवाहें सुनीं। यह सुनते ही उसने भी उत्तराधिकारी होने तथा सिंहासन प्राप्त करने का इच्छुक होने के नाते उत्तराधिकार युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस युद्ध में वह किस प्रकार सफल हुआ और उसने एक एक करके अपने भाइयों को किस तरह समाप्त किया, यह पिछले अध्याय में बताया जा चुका है।

राज्याभिषेक

आगरा दुर्ग को विजित कर तथा अपने पिता को उसमें बंदी बना कर मुराद बख्श के सिंहासन प्राप्त करने के दावों को समाप्त करने के बाद ३१ जुलाई सन् १६५८ को हड़बड़ी में औरंगज़ेब का राज्याभिषेक हुआ। उसने अबुल मुज़फ़्फ़र मुहीउद्दीन मुज़फ़्फ़र औरंगज़ेब बहादुर आलमगीर पादशाह गाज़ी की उपाधि ग्रहण की। परन्तु क्योंकि उसे दारा का पीछा करके शुजा के साथ युद्ध में फैसला करना बाकी था इसलिए उसने उत्सव तथा जश्न स्थगित कर दिये। खजुआ और अजमेर पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् १५ मई सन् १६५९ को सम्राट औरंगज़ेब ने दिल्ली में एक शानदार जुलूस के साथ प्रवेश किया। शाहजहाँ के भव्य महल में बहुत ठाठ और धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक संस्कार सम्पन्न हुआ। १५ मई १६५९ को ज्योतिषियों द्वारा बताए हुए समय, सूर्योदय से ३ घंटे १५ मिनट उपरान्त, उसने मयूर सिंहासन पर आसन ग्रहण किया। राज्य में कई दिनों तक खुशियां मनाई गई और उत्सव हुए। औरंगज़ेब चाहता था कि उसका राज्याभिषेक इतनी शान से

मनाया जाय, जैसा कि किसी भी मुग़ल बादशाह के समय में न हुआ हो, इस कारण इस अवसर पर दिल खोल कर रुपया खर्च किया गया। बड़ी बड़ी दावतें की गईं तथा वृहत्त पैमाने पर रोशनियाँ की गईं। अनेक सामन्तों तथा सरदारों की वृद्धि दी गई तथा अनेक नए अफसर भी नियुक्त किये गये।

प्रारम्भिक कार्य : धार्मिक असहिष्णुता

उत्तरी भारत में उत्तराधिकार की लड़ाई से देश को जो हानि हुई तथा उससे शासन प्रबन्ध में जो ढील तथा कमजोरी आगई थी, औरंगज़ेब ने उसे ठीक करके सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक कदम उठाए। सबसे पहिले नये सम्राट ने देश में व्यवस्था स्थापित की और राज्यपालों तथा अन्य उच्च अफसरों को, नियन्त्रण में लाकर देश में शान्ति की स्थापना की। इसके अलावा कई अनुचित करों को जिनमें मुख्यतम आन्तरिक परिवाहन कर (राहदारी) तथा ऑक्टरोई चुंगी (पानडारी) थे, को हटाकर जनता की सहायता की। ये कर खाने पीने की उस सामग्री पर वसूल किये जाते थे, जो शहर में बिकने के लिए आती थी। केवल खालसा भूमि में ही इन करों के हटाने से सरकार को २५ लाख रुपयों की हानि हुई थी। तीसरे प्रकार के कर, जो निर्मूल किये गए थे, वे थे 'अबवाब' अथवा अन्य प्रकार के कर जो भूमि के लगान तथा चुंगी कर के अलावा वसूल किये जाते थे। यद्यपि इन करों की वसूली पूर्व सम्राटों ने बार-बार बन्द की थी, परन्तु थोड़े समय बाद इनकी वसूली पुन: प्रारंभ कर दी जाती थी। जो कर 'अबवाब' कहलाते थे उनमें मुख्य थे स्थानीय वस्तुओं के प्रयोग पर चुंगी, भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यापारों के लाइसेन्स, अफसरों द्वारा भेंट तथा शुल्क की वसूली, तथा वह शुल्क और कमीशन जो राज्य के लिए वसूल किये जाते थे। इनके अलावा कुछ ऐसे भी कर थे जो केवल हिन्दुओं से वसूल किये जाते थे, जैसे गंगा में मृत हिन्दुओं के फूल विसर्जन करने का टैक्स, जो तीर्थ यात्रा कर कहलाता था तथा हिन्दू घराने में बालक का जन्म होने पर भी टैक्स लगता था। परन्तु औरंगज़ेब ने इन करों को हटा दिया। यद्यपि बड़े-बड़े शहरों में तो कर निर्मूलन हो गया होगा, परन्तु ख्वाफी खाँ के कथनानुसार, दूरस्थ प्रान्तों में इनकी वसूली होती रही होगी।

अत्यन्त कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के नाते औरंगज़ेब ने राज्य में ऐसे कानून बनाए ताकि मुसलमान लोग कुरान में बताए हुए मार्ग का कट्टरतापूर्वक अनुसरण करें। उसने सिक्कों पर कलमा का खुदवाया जाना और फारस के नववर्ष-दिवस का मनाया जाना बन्द करवा दिया क्योंकि मुसलमान धर्म इसका निषेध

करता है। उसने समस्त साम्राज्य में भांग के प्रयोग पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। सभी बड़े-बड़े शहरों में जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करने के लिए सरकारी अफसरों (मोहतसिब) नियुक्त किए गए जो जनता को कुरान के नियमों पर चलने का आदेश देते थे तथा मद्यपान, जुआ और वैश्यागमन को रोकते थे। मोहतसिबों का यह भी काम था कि वे देखें कि मुसलमान लोग दिन में पाँच बार नमाज़ पढ़ें और रोज़े रखें। धर्म विरोधियों और इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देना भी 'मोहतसिब' ही का काम था। सम्राट ने सूफी लोगों को उदार धार्मिक विचार रखने तथा विश्वदेवतावाद मानने के कारण ही दंड दिया था। दारा के साथी सरमद को इस्लाम की निन्दा करने (तथा नास्तिक होने) के कारण मृत्यु दंड दिया गया। इसी प्रकार कई शिया मुसलमानों के सर केवल इसलिए कलम कर दिये गये थे, क्योंकि उन्होंने प्रथम तीन ख़लीफाओं को कुछ अपशब्द कहे थे। इसी प्रकार मुसलमान धर्म में दीक्षित अनेक नए मुसलमानों को अपना पुराना धर्म पुन: अंगीकार कर लेने के संदेह मात्र पर अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा था। औरंगज़ेब के हाथ रक्तरंजित यातनाएँ भोगने वाली मुसलमान जनता में गुजरात की इस्माइलिया अथवा बोहरा जाति प्रमुख थी।

विजयें

सबसे पहले औरंगज़ेब ने आसाम पर विजय प्राप्त की, जहाँ मंगोल वंश का राजा राज्य करता था। राज्यप्राप्ति संघर्ष के समय कूच-बिहार और आसाम के शासकों ने मुग़लों के ज़िले क़ामरूप पर, जो उनके राज्यों के बीच में स्थित था, कब्जा कर कर लिया था। सम्राट ने मीर जुमला को बंगाल का राज्यपाल नियुक्त किया और मुग़ल इलाके को पुनः प्राप्त करने का उसे आदेश दिया। कुछ ही दिनों के पश्चात् मीर जुमला ने कूच-बिहार की राजधानी विजित कर ली और उसे मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया। अब वह आसाम पर आक्रमण करने को बढ़ चला। वहां का शासक वर्ग शान वंशज अहोम जाति के थे जिन्होंने तेरहवीं शताब्दी में आसाम के पूर्वी और मध्य आसाम पर अपना अधिकार जमा लिया था। थोड़े से संघर्ष के पश्चात् अहोम सेनाएँ ब्रह्मपुत्र नदी के पास वापस लौट गईं। १३ मार्च सन् १६६२ को मीर जुमला ने उन्हें जल युद्ध में परास्त किया, और वहाँ की राजधानी गढ़गाँव पर कब्जा कर लिया। यहाँ उसे बहुत सा धन हाथ लगा। उसने राजधानी में एक सेना भी रख दी, परन्तु आसाम की विजय मुग़लों के लिए लाभदायक होने की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध हुई। वर्षा ऋतु में वहाँ बाढ़ आ गई, आवागमन के सभी मार्ग बन्द हो गए और मुग़लों की चौकियाँ अलग-अलग हो गईं। सहस्रों मुग़ल सैनिक भूख से

तड़प-तड़प कर मर गए परन्तु आवागमन के राह बन्द होने के कारण उन तक भोजन-सामग्री नहीं पहुँच सकी। इसी बीच अहोम लोगों ने मुग़लों की कुछ सीमांत चौकियों पर कब्जा कर लिया और मुग़ल सेना तथा जलसेना के बीच आवागमन के सभी साधनों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उन लोगों ने मुग़लों पर आक्रमण भी किया, परन्तु परास्त हो गये। परन्तु अन्त में मुग़ल लगभग बिल्कुल अरक्षणीय हो चुके थे। अधिक परिश्रम तथा आसाम के खराब जलवायु के कारण १० अप्रेल सन् १६६३ को मीर जुमला का देहावसान हो गया। उसके स्थान पर शाइस्ता खाँ को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने १६६३ में चटगाँव को विजित करके पुर्तगालियों को ब्रह्मपुत्र के डेल्टे से निकाल बाहर किया। उसने अराकान के राजा को भी परास्त कर दिया। चार साल तक आसाम मुग़लों के अधीन रहा, परन्तु अहोम राजा चक्रध्वज ने पुनः आसाम पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उसने गोहाटी को भी जीत लिया। इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य की सीमा मोनास नदी तक रह गई। यद्यपि १६७९ में मुग़लों ने गौहाटी पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया, परन्तु दो वर्ष बाद वे इसे फिर खो बैठे। इस प्रकार कामरूप मुग़ल साम्राज्य का अंग नहीं रहा। अधिक संघर्ष के बाद अन्त में कूच-बिहार नरेश ने मुग़लों की अधीनता स्वीकार कर ली।

दूसरा महत्वपूर्ण कार्य जो शाइस्ता खाँ करना चाहता था, वह था बंगाल के समुद्री डाकुओं (पुर्तगालियों) का दमन। ये लोग लगातार बंगाल को लूटते रहते थे और वहाँ के लोगों को ले जाकर दास के रूप में भारतीय बन्दरगाहों में बेच देते थे। शाइस्ता खाँ ने ३०० नौकाओं का एक समुद्री बेड़ा बनाया, सैंडविप के द्वीप को जीता तथा चटगाँव पर अधिकार प्राप्त करके वहाँ मुग़ल सेना नायक का प्रमुख केन्द्र स्थापित कर दिया। उसने सहस्त्रों बंगाली किसानों को जो पुर्तगालियों के पास गुलाम थे, छुड़ा कर उन्हें स्वतंत्र किया।

औरंगज़ेब के शासन के प्रथम अर्धकाल में अनेक छोटी मोटी विजयें प्राप्त की गईं। १६६१ में पटना के राज्यपाल दाऊद खाँ ने पालामऊ को जीत कर उसे दक्षिण बिहार में सम्मिलित कर लिया। छोटी तिब्बत अथवा लदाख के नरेश ने मुग़लों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया, जहाँ पर लदाख के जीवन में पहिली बार एक मस्जिद बनवाई गई।

औरंगज़ेब के शासन के प्रथम अर्धकाल में साम्राज्य में कुछ विद्रोह भी हुए, परन्तु उन्हें सहज ही में दबा दिया गया। बुन्देलखन्ड के चम्पतराय तथा उसके पूर्वजों के साथ ओरछा में अन्याय किये जाने के कारण उसने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। परन्तु १६६१ में उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। काठियावाड़ में नवानगर के रामसिंह

ने भी १६६३ में विद्रोह कर दिया, परन्तु उसे भी आत्मसमर्पण करना पड़ा। बीकानेर नरेश करनसिंह ने खुल्लमखुल्ला औरंगज़ेब का विरोध किया, परन्तु बाद में क्षमायाचना करने पर उसे क्षमा कर दिया गया। मथुरा तथा आगरे के जिलों में जाटों तथा पंजाब में सिखों ने भीषण विद्रोह खड़ा कर दिया। यह विद्रोह काफी समय तक चला। इन सब विद्रोहों को छोड़ कर औरंगज़ेब के शासन के प्रथम ३५ वर्षों में उत्तरी भारत में अन्य कोई विद्रोह नहीं हुआ और इस भाग में आन्तरिक शान्ति रही।

सीमान्त जातियों से युद्ध

यद्यपि औरंगज़ेब बहुत कट्टर मुसलमान था, परन्तु फिर भी उसे उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के अपने समान धर्मान्ध मुसलमान जातियों से युद्ध में टक्कर लेनी पड़ी। सीमान्त प्रदेश में रहने वाले अफ़गान लोग शुरू से ही दिन दहाड़े लूट मार करके अपना जीविकोपार्जन करते आए हैं। क्योंकि उनका प्रदेश पहाड़ी तथा बंजर है, इसलिए ये लोग मैदानों में आकर लोगों को लूटते थे। इसके अलावा जो व्यापारी भारत आते या जाते समय उनके प्रदेश के दर्रे से हो कर निकलते थे, ये लोग उनको भी लूटा करते थे। मुग़ल सम्राट इन अफग़ान लोगों को बलपूर्वक विजय और वश में न कर सके। इस कारण मुग़ल सम्राट इन लोगों को शांत रहने तथा सीमान्त रास्ते खुले तथा सुरक्षित रखने के लिए घूस दिया करते थे। औरंगज़ेब सीमान्त प्रदेश की सीमा के सरदारों को इस हेतु घूस के रूप में ६ लाख रुपया वार्षिक देता था। परन्तु सरदारों को इस प्रकार घूस देना सदा सफल नहीं होता था क्योंकि उन लोगों में प्रायः नए सरदार उत्पन्न हो जाते थे और वे मुग़ल सीमा में लूटमार किया करते थे। पेशावर के उत्तर में स्वात तथा बाजौर ज़िलों के युसुफज़ई गिरोह का सरदार भागू १६६७ में मुहम्मद शाह के झूठे नाम से गिरोह का नकली राजा बन बैठा। उसने अटक के पास सिंधु नदी को पार किया और मुग़लों के हज़ारा ज़िले पर धावा बोल दिया। यूसुफज़ई जाति के अन्य गिरोहों ने पेशावर तथा अटक के ज़िलों को लूटा और हरून के पास सिंधु नदी के घाट पर अधिकार करने की चेष्टा भी की ताकि मुग़ल सेना सीमान्त प्रदेश में प्रवेश न कर सके। परन्तु अप्रैल सन् १६६७ ई० में अटक के सेना नायक कामिल खाँ ने उन्हें परास्त कर दिया। सेना-नायक शमशेर खाँ ने यूसुफज़ई सीमा में प्रवेश करके कबाइलों को परास्त किया। सितम्बर माह में सम्राट ने मोहम्मद अमीन खाँ को यूसुफज़ई लोगों को दंडित करने को भेजा और उसने उनको ऐसा मज़ा चखाया कि कुछ वर्षों तक वे लोग बिल्कुल शान्त रहे।

सीमान्त प्रदेश में सन् १६७२ ई० में एक और विद्रोह उठ खड़ा हुआ। अफ़्रीदी नेता सरदार अकमल खाँ स्वयं शासक बन बैठा। उसने मुग़लों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध की दुन्दुभी बजा दी तथा समस्त पठानों से सहयोग देने की प्रार्थना की। इन विद्रोहियों ने अफ़ग़ानिस्तान के राज्यपाल अमीन खाँ पर अली मस्जिद में हमला किया। मुग़ल सेना परास्त हो गई और मुहम्मद अमीन अपना कैम्प, समस्त सामान, यहाँ तक कि अपनी स्त्रियों को छोड़ कर भाग खड़ा हुआ, जिन्हें पठानों ने अपना गुलाम बना लिया। इस सफलता से विद्रोहियों को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला और विद्रोह समस्त सीमान्त प्रदेश में फैल गया। खट्टक जाति का कवि खुशाल खाँ भी विद्रोहियों से जा मिला। वह अपनी हृदयस्पर्शी कविताओं से विद्रोहियों में उत्साह का संचार करता था। औरंगज़ेब ने विद्रोही पठानों का दमन करने के लिये महाबत खाँ को अफ़ग़ानिस्तान का गवर्नर बना कर भेजा, परन्तु वह स्वयं गुप्तरूप से अफ़ग़ानों से जा मिला। फलस्वरूप ख़ैबर दर्रे का रास्ता बंद रहा। इस पर सम्राट अप्रसन्न हुआ और उसने शुजात खाँ को विद्रोहियों को दंडित करने को भेजा, परन्तु वह परास्त हुआ और ३ मार्च सन् १६७४ को मार डाला गया।

अब परिस्थिति अत्यन्त डाँवाडोल हो चुकी थी। स्वयं सम्राट को पेशावर के निकट हसन अब्दल जाने के लिए विवश होना पड़ा। वह वहाँ डेढ़ साल से अधिक रहा। महाबत खाँ को राज्यपाल के पद से हटा कर और पठानों से मोर्चा लेने के लिए एक नई सेना भेजी गई। इसके साथ साथ सम्राट ने भी कूटनीति से काम लिया। औरंगज़ेब ने सीमान्त प्रदेश के नेताओं को राजकीय नौकरियाँ प्रदान की तथा उन्हें घूस के रूप में रुपया भी दिया। फलस्वरूप कुछ जातियों ने शाही नौकरियाँ स्वीकार कर लीं और शान्तिपूर्वक आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु ग़ोरी, ग़िलज़ई, शीरानी तथा यूसुफज़ई पठानों आदि ने शाही प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस पर मुग़ल सेना ने उन्हें परास्त करके उनका दमन कर दिया। विद्रोही पठानों का दमन करने में मुग़ल सेना नायक युग़ीर खाँ का सक्रिय हाथ था और पठान जाति में उसकी वीरता की ऐसी धाक जम गई कि पठान स्त्रियाँ "अपने बच्चों को सुलाने के लिए युग़ीर खाँ के डरावने नाम का प्रयोग किया करती थीं।" दिसम्बर सन् १६७५ ई० तक समस्त सीमान्त प्रदेश में पुनः शान्ति स्थापित हो गई। इसलिए औरंगज़ेब हसन अब्दल के पास से दिल्ली के लिए रवाना हुआ। उसने अमीर खाँ को काबुल का राज्यपाल नियुक्त किया। अमीर खाँ ने युक्ति तथा कूटनीति से काम लिया। वह अफ़ग़ानों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके और उनकी सहायता से आने जाने का रास्ता खुला रखने

में सफल हुआ। अधिकांश रूप में इस सफलता का श्रेय उसकी पत्नी साहिब जी, जो कि अली मरदान खाँ की पुत्री थी, को जाता है। वह मृत्यु पर्यन्त १६६८ तक काबुल का राज्यपाल रहा।

सीमान्त सरदारों को धन की सहायता देकर अमीर खाँ उनमें फूट के बीज बोने में सफल हो गया जिसके फलस्वरूप अकमल खाँ के नेतृत्व में अफ़ग़ानों की एकता भंग हो गई। अकमल खाँ की मृत्यु के बाद अफरीदियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और सम्राट् से सन्धि कर ली। परन्तु खुशाल ख़ाँ खटक कुछ वर्ष तक युद्ध करता रहा, परन्तु उसके पुत्र ने उसके साथ विश्वासघात किया और उसे पकड़ कर बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार सीमान्त युद्ध का अन्त हो गया। परन्तु इस युद्ध में मुग़लों का बहुत धन व्यय हुआ। मुग़ल सम्राट की जन तथा धन हानि के अतिरिक्त इस विद्रोह के कारण सम्राट मराठों की ओर पूरा ध्यान न दे सका। मराठा नरेश शिवाजी ने इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाकर कर्नाटक पर विजय प्राप्त कर ली।

औरंगजेब का राजत्व आदर्श

औरंगज़ेब इस्लाम की राजत्व तथा राजसत्ता सम्बन्धी नीति का मानने वाला था। उसके शासन का आधार कुरान था। मुसलमान धर्म के न मानने वाले व्यक्तियों को मुसलमान धर्म में लाना इसका मुख्य उद्देश्य था। उसका पक्का विश्वास था कि उससे पूर्व के भारत के सम्राटों ने कुरान के कानून को न मान कर तथा शासन-प्रबन्ध को बिना किसी जाति तथा धर्म-भेद के चला कर बहुत बड़ी भूल की थी। अकबर ने इस्लाम को राजधर्म के पद से हटा दिया था तथा इस्लाम की राजत्व सम्बन्धी नीति को त्याग कर हिन्दुओं की राजत्व नीति को अपनाया था। औरंगज़ेब की दृष्टि में यह एक महान् त्रुटि थी। इस प्रकार औरंगज़ेब ने अपनी नीति के अनुसार अपने महान पूर्वज द्वारा किये गए सभी नवीन परिवर्तनों का अन्त कर दिया। उसने अपने शासन के प्रारम्भकाल में ही कट्टर सुन्नी धर्म की उन्नति करने के लिए क़दम उठाए। औरंगज़ेब ने इस्लाम को पुन: राजधर्म घोषित कर दिया और इस्लाम के प्रचार के लिए राज्य की ओर से प्रचारकों को सभी सुविधाएँ प्रदान कीं। उसने कुफ्र (बहु देवतावाद) को समाप्त करके भारत में जिहाद (धार्मिक युद्ध) करके, जो उसके विचार में काफिरों (दार-उल-हर्ब) का देश था, वहाँ के लोगों को इस्लाम धर्म में दीक्षित करना तथा राज्य का शासन प्रबन्ध कुरान के आदेश के अनुसार करके भारत को इस्लाम देश (दार-उल-इस्लाम) में परिवर्तित करना अपने जीवन का मुख्य ध्येय बना लिया था। और जब तक वह समस्त देश पर विजय

प्राप्त करके, उसकी समस्त प्रजा जब तक इस्लाम धर्म में दीक्षित नहीं हो जावेगी, वह उन गैर मुसलमानों को राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों से वंचित रखेगा ताकि प्रतिदिन उन्हें अपनी हीनता का ध्यान रहे, और अन्त में लाचार होकर वे अपने पूर्वजों का धर्म त्याग कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लें।

सबसे पहले सम्राट ने इस्लाम को दरबार और देश में उस अवस्था पर पहुँचाया जिस पर वह अकबर से पूर्व प्रतिष्ठित था। इसके पश्चात् समस्त गैर मुस्लिम रीति-रिवाजों पर प्रतिबन्ध लगा कर उसने मुसलमानी कानून को फिर से जारी किया। उसने सिक्कों पर कलमा का लिखा जाना, फारस के नववर्ष दिवस पर उत्सव का मनाना तथा भाँग की खेती को बन्द कर दिया। उसने देश के समस्त बड़े बड़े नगरों में मुहतासिबों (धर्म निरीक्षक) की नियुक्ति की, जो शहर में कुरान के कानूनों को लागू करते थे। उसने अपने दबार में गाना बजाना बन्द करवा दिया तथा अपने जन्म दिवस के अवसर पर सम्राट को सोना, चाँदी तथा हीरे, जवाहरातों से तौले जाने की (तुलादान) प्रथा को भी बन्द करवा दिया। उसने सूर्योदय से पहले झरोखा दर्शन देना भी बन्द कर दिया। राज्य के हिन्दू ज्योतिषियों को पदच्युत कर दिया गया, जबकि मुसलमान ज्योतिषी अपने पद पर आसीन रहे। समय समय पर सम्राट उनसे काम भी लेता रहा। उसने पुराने मन्दिरों की मरम्मत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके कुछ समय पश्चात् उसने प्रांत के राज्यपालों को "काफिरों के मन्दिरों तथा पाठशालाओं को, धार्मिक तथा पवित्र स्थानों को तोड़ फोड़ डालने तथा उनके धार्मिक तथा विद्या के प्रचार को रोकने का कठोर आदेश दिया। मुहतासिब लोगों को अपनी सीमा के हर भाग में जाकर समस्त हिन्दू मन्दिरों तथा पुण्य स्थानों को नष्ट भ्रष्ट करना पड़ा।" "मन्दिर तोड़ने के लिये नियुक्त किये गए सरकारी कर्मचारियों की इतनी अधिक संख्या थी कि उनको आदेश देने तथा देखने भालने के लिए एक दरोगा की नियुक्ति करनी पड़ी थी।" संसार प्रसिद्ध बनारस के विश्वनाथ, मथुरा के केशवदेव तथा पाटन के सोमनाथ तक के पवित्र मन्दिरों को गिरा दिया गया। यहाँ तक कि मुग़लों के मित्र हिन्दू नरेशों के राज्य के मन्दिरों, जैसे जयपुर तक को नहीं छोड़ा गया। कभी-कभी तो मूर्तियों को तोड़ने के साथ-साथ अनियंत्रित भ्रष्टता का कार्य तक सम्पन्न हुआ, जैसे देवालय में गौओं का वध करना, मूर्तियों को एक चलती जनता के पैरों द्वारा कुचला जाना।

"इस्लाम का प्रसार करने तथा काफिरों को नीचा दिखाने के लिए" सम्राट ने १२ अप्रेल सन् १६७९ की आज्ञा द्वारा हिन्दुओं पर पुन: ज़िज़िया कर लगा दिया। यह एक विनिमय कर था जो मुआफी तथा जागीरों तथा सरकारी प्रांत में रहने वाले हिन्दुओं से मुसलमान धर्म अंगीकार न करने के कारण वसूल किया जाता

था। चाहे वे सरकारी नौकरी में हों, या निजी खेती बाड़ी ही क्यों न करते हों, उन्हें यह कर अपने हाथ से नम्रतापूर्वक देना पड़ता था। ज़िज़िया की जाँच तथा वसूली के लिए समस्त ग़ैर मुस्लिम जनता को तीन श्रेणियों में बांटा गया था, जिसमें प्रथम श्रेणी वाले ४८ डरहम, द्वितीय श्रेणी वाले २४ तथा तृतीय श्रेणी वाले १२ डरहम वार्षिक ज़िज़िया के रूप में दिया करते थे। एक डरहम चार आने से कुछ अधिक मूल्य का होता था। स्त्री, बच्चे, भिखारी, गुलाम तथा अन्य कंगाल लोग ज़िज़िया कर से मुक्त थे। वे पुजारी लोग जो धनी पूजागृहों के नहीं होते थे, वे भी 'कर' मुक्त थे। इस 'कर' का हिंदुओं पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। मनूची लिखता है कि अनेक हिंदू जो 'कर' देने की अवस्था में नहीं होते थे, "वसूली करने वालों द्वारा अपमानित न होने" तथा कर मुक्त होने के कारण मुसलमान हो जाते थे। इससे औरंगज़ेब बहुत प्रसन्न हुआ। वह हिन्दुओं के विरोध की सदा उपेक्षा करता रहा तथा उसने तीर्थ स्थानों पर नहाने का कर पुनः लगा दिया। प्रत्येक हिंदू को प्रयाग में गंगास्नान करने के लिए ६ रुपये ४ आने यात्रा कर के रूप में देने पड़ते थे। इसी प्रकार अन्य तीर्थ स्थानों पर भी हिंदुओं को इसी प्रकार कर देना पड़ता था। सम्राट ने मुसलमान व्यापारियों पर से चुंगी वसूली बंद कर दी, परन्तु हिन्दू व्यापारियों को उसी प्रकार ५ प्रतिशत चुंगी देनी पड़ती थी। यह सब हिंदुओं पर दबाव पहुँचाने के लिए किया गया था। उसने इस बात की घोषणा करदी कि जो हिन्दू मुसलमान धर्म अंगीकार कर लेंगे उन्हें वेतन तथा पुरस्कार मिलेंगे। यहाँ तक कि उसने धर्म परिवर्तित हिन्दुओं को सरकारी नौकरियाँ दीं, तथा हिन्दू कैदियों को मुसलमान हो जाने पर मुक्त कर देने का भी लालच दिया। पंजाब में कुछ मुसलमानों के पास अभी तक सरकारी नियुक्ति पत्र सुरक्षित हैं, जिनमें उनके हिन्दू पूर्वजों को मुसलमान बन जाने पर पुरस्कार रूप में कानूनगो नियुक्त किये जाने का आदेश है। जब कभी किसी जायदाद के बारे में दो मनुष्यों में झगड़ा हो जाता था, सम्राट वह जायदाद उस मनुष्य को देता था जो मुसलमान धर्म अंगीकार कर लेता था। सन् १६७१ ई० में औरंगज़ेब ने सभी प्रान्तों में हिन्दू लगान वसूली करने वालों को पद-च्युत कर दिया। परन्तु क्योंकि योग्य मुसलमान पर्याप्त संख्या में प्राप्त नहीं थे, इसलिये कुछ प्रान्तों में हिन्दुओं को अपने स्थान पर काम करने दिया गया। सन् १६८८ ई० में उसने धार्मिक मेलों के लगने तथा त्योहारों को मनाये जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसी वर्ष उसने राजपूतों के अलावा अन्य हिन्दुओं का पालकियों, हाथियों या अच्छे घोड़ों पर सवारी करना तथा अपने साथ कोई अस्त्र ले जाना निषेध घोषित कर दिया। इस प्रकार औरंगज़ेब ने हिन्दुओं को हर प्रकार से क्लेश पहुँचा कर मुसलमान हो जाने के लिए बाध्य

किया। कभी कभी तो वह जबरदस्ती भी लोगों को मुसलमान बना लेता था (देखें शर्मा, Religious Policy of the Mughals पृष्ठ १६२)। उसने इस कार्य में राजनैतिक बुद्धि पेच का भी प्रयोग किया तथा औरंगज़ेब ने इस्लाम के प्रचार को अपने शासनप्रबन्ध का मुख्य ध्येय बना लिया। इस प्रकार उसके समय में मुग़ल साम्राज्य एक धर्म प्रचारक संस्था बन गई।

जाटों का विद्रोह, १६६८–१६८९

भारत को एक मुसलमानी देश बनाने की औरंगज़ेब की नीति का राजस्थान, मालवा, बुन्देलखंड तथा ख़ानदेश में विरोध हुआ। वहाँ पर कई मन्दिरों से परिणत अनेक मस्जिदों को तोड़-फोड़ डाला गया तथा मुसलमानों की नमाज़ की पुकार को भी बन्द कर दिया गया। कुछ स्थानों पर तो ज़िज़िया की वसूली करने वालों को पीटा गया तथा उनकी दाढ़ी नोच कर उन्हें भगा दिया गया। परंतु औरंगज़ेब की उत्पीड़न नीति के विरुद्ध संगठित प्रथम हिंदू विद्रोह मथुरा के ज़िले में हुआ जहाँ पर पुष्ट जाटों ने अपने नेता गोकुल की अध्यक्षता में सन् १६६९ ई० में स्थानीय प्रान्तीय अधिकारी अब्दुल नबी को, जो सम्राट की आज्ञानुसार मंदिरों तथा मूर्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा था, मार डाला। इस मुग़ल अधिकारी ने पवित्र मथुरा शहर के बीच में हिंदू मन्दिरों को तोड़कर उनके स्थान पर एक मस्जिद खड़ी कर दी। दारा द्वारा केशव राय मन्दिर को भेंट किये हुए पत्थर के जंगले को, जिसमें खोद कर चित्र बनाये गये थे, वह उठा ले गया। वह हिन्दू कन्याओं का बलपूर्वक अपहरण भी किया करता था। जाटों ने उसे मार कर सादाबाद के परगने को खूब लूटा। सम्राट द्वारा भेजी गई अनेक मुग़ल फौजी टुकड़ियों से मोर्चा लेने के बाद, तिलपत के स्थान पर भयानक युद्ध में जाट लोग परास्त हुए। जाटों का सरदार गोकुल अपने परिवार सहित कैद करके आगरा लाया गया। यहाँ पर पुलिस चौकी की दालान पर उसके अंगों के टुकड़े टुकड़े कर डाले गये और उसके परिवार को जबरदस्ती मुसलमान बना लिया गया। परन्तु फिर भी जाटों का विद्रोह चलता रहा, और १६८६ में सिन्सानी के राजाराम तथा सोघर के रामचेरा ने सरदारों का पद सम्हाला। इन लोगों ने अपने जाति भाइयों (गिरोह के आदमियों) के साथ खुले आम युद्ध किया। ये लोग जंगलों में अगम्य स्थानों पर मिट्टी के किले बनाते थे, और आगरा शहर तक खूब लूट-पाट किया करते थे। सन् १६८७ में प्रसिद्ध मुग़ल सेना नायक युग़ीर खाँ को हराने तथा उसे मार लेने और महाबत खाँ नामक मुग़ल सामन्त मीर इब्राहीम को लूट लेने के कारण, राजाराम अब प्रसिद्ध हो चुका था। उसने सिकन्दरा में अकबर के मकबरे तक को लूटा और इमारत को काफी हानि पहुँचाई तथा जैसा कि मनूची लिखता

है, उसने महान् सम्राट अकबर की हड्डियों को खोद कर उन्हें जला भी दिया। इससे औरंगज़ेब सावधान हो गया और उसने सन् १६८८ ई० में अपने पौत्र बिदार बख़्त को उसके सहायक आमेर के राजा विशनसिंह के साथ, जो मथुरा ज़िला का अधिकारी था, जाटों का दमन करने के लिए भेजा। जुलाई सन् १६८८ में राजाराम परास्त हुआ तथा मारा गया। कठिन युद्ध के बाद, जिसमें मुग़लों के ६०० तथा जाटों के १,५०० सैनिक काम आए, मुग़ल सेना ने सिनसानी को कैद कर लिया। राजाराम के बाद उसके भतीजे चूरामन ने जाटों का नेतृत्व सम्हाला और औरङ्गज़ेब की मृत्यु तक विद्रोह जारी रखा। उसने शक्तिशाली सेना तैयार कर ली, और वर्तमान भरतपुर के राजपरिवार की स्थापना की। अन्त में जाटों का उत्थान मुग़ल साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण हो गया।

सतनामियों का विद्रोह

औरंगज़ेब के शासन काल का दूसरा भीषण विद्रोह नारनौल तथा मेवात के जिलों में सतनामियों का विद्रोह था। सतनामी लोग शांतिप्रद धार्मिक लोग थे, जो एकेश्वरवाद में विश्वास रखने थे और खेती करते थे। वे अपना सिर, चेहरा, तथा भौंहें तक मुँड़वाने थे, इसलिए मुन्दियास कहलाते थे। यह विद्रोह एक सतनामी किसान और स्थानीय लगान वसूल करने वाले मुग़ल अधिकारी के प्यादे में व्यक्तिगत झगड़े के कारण हुआ था। सैनिक के अनुचित व्यवहार से सतनामी लोगों को क्रोध आगया और इस झगड़े ने बढ़ कर, मुग़लों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध का रूप ले लिया। यह क्रिया बहुत जल्दी ही फैल गई। उन लोगों में यह अफवाह फैल गई थी कि एक वृद्ध जादूगरनी (भविष्य वक्ता) ने सतनामियों को गोली के लिए अभेद्य बना दिया है। इस अफवाह से इस क्रिया को बहुत काफी प्रेरणा मिली। स्थानीय सरदारों की मुग़ल सेना पर अनेक विजयें प्राप्त कर लेने के कारण उन लोगों का पक्का विश्वास हो गया कि वे गोलियों के लिए अभेद्य हो गए हैं। उन्होंने नारनौल शहर तथा ज़िले को लूटा और उस पर अधिकार जमा लिया। विवश होकर औरंगज़ेब को रदन्दाज़ खां के नेतृत्व में तोपखाने से सुसज्जित एक सेना भेजनी पड़ी। उसने काग़ज़ों पर जादू टोने के मंत्रों को लिख कर सेना के झंडों में बाँध दिया ताकि वे शत्रु के जादू टोने से बच सकें। सतनामी बहुत साहस से लड़े, परन्तु परास्त हुए। २,००० सतनामी युद्ध भूमि में काम आए और शेष ने आतंकित होकर आत्मसमर्पण कर दिया।

औरंगज़ेब और सिख

औरंगज़ेब की धार्मिक उत्पीड़न नीति से सिख लोगों ने उत्तेजित होकर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। सिखों का विद्रोह आगे चल कर मुग़ल साम्राज्य के

पतन का प्रमुख कारण बना। सिख सम्प्रदाय १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में गुरु नानक द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था। यह वास्तव में पवित्र धार्मिक भाई-चारा था जिसके अनुयायी एकेश्वरवाद तथा ईश प्रार्थना, आत्म संयम तथा सुकर्मों द्वारा निर्वाण प्राप्ति में विश्वास रखते थे। नानक ने मूर्तिपूजा का खंडन किया, जाति भेद भाव तथा ब्राह्मणों अथवा मुल्लाओं की श्रेष्ठता को खुले आम धिक्कारा। उसके प्रथम तीन उत्तराधिकारी उसी के पद-चिह्नों पर चले, परन्तु चौथे गुरु रामदास ने सर्व प्रथम आत्मिक तथा साथ ही साथ सांसारिक प्रभुत्व प्राप्त करने का अपना लक्ष्य बनाया। उसके उत्तराधिकारी गुरु अर्जुन, जो सन् १५८१ में गद्दी पर बैठे, ने गुरु ग्रन्थ साहब का सम्पादन किया, अमृतसर का स्वर्ण मन्दिर बनाया तथा सिखों को एक ठोस सम्प्रदाय के रूप में संगठित किया। इसके अलावा गुरु ने मसन्द नामक अफसरों को समस्त सिखों से दशांश कर तथा भेंटें वसूल करने के लिए नियुक्त करके अपने लिए व्यवस्थित आय का प्रबंध कर लिया। उसने विद्रोही ख़ुसरो को आशीर्वाद दिया था, इस कारण जहाँगीर ने उसे कैद कर लिया तथा सन् १६०६ ई० में यातना दे कर मार डाला गया। गुरु अर्जुन के सुपुत्र हरगोविन्द ने सैनिक शिक्षा प्राप्त की और कुशल योद्धा बन गया। शिकार के शाही रक्षा स्थान को हथिया लेने तथा सम्राट द्वारा भेजी गई मुग़ल सेना को परास्त कर देने के कारण, उसे शाहजहाँ से टक्कर लेनी पड़ी। शाहजहाँ ने अमृतसर में हरगोविन्द के घर तथा जायदाद को छीन लेने की आज्ञा दी। इस कारण गुरु ने जा कर कीरतपुर में शरण ली और सन् १६४५ में स्वर्ग सिधार गए। हर राय उसके उत्तराधिकारी बने, जिसकी मृत्यु के पश्चात् हर कृष्ण गुरु बना। इसके बाद तेग बहादुर गुरु बने, जिसने अपना निवास स्थान आनन्दपुर बनाया। इसी बीच औरंगज़ेब सम्राट बन गया और उसने धार्मिक उत्पीड़न की नीति बरतनी प्रारम्भ कर दी। सम्राट ने सिखों के गुरुद्वारों को नष्ट करने तथा मसन्दों को शहरों से बाहर निकाल देने की आज्ञा दी। गुरु तेग बहादुर ने इस नीति का खुल्लमखुल्ला विरोध किया, इस कारण उसे कैद करके दिल्ली ले जाया गया। वहाँ पर उसे इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने को कहा गया, परन्तु गुरु के इन्कार करने पर पाँच दिन तक उसे घोर यातना देने के बाद मार डाला (दिसम्बर १६७५) गया।

औरंगज़ेब की धर्मान्धता तथा जनता को मुसलमान होने के लिए बाध्य करने की उसकी नीति के कारण सिखों और मुसलमानों में एक असंधेय विश्वास भंग हो गया। इससे तंग आकर तेग बहादुर के सुपुत्र गोविन्द सिंह को अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने का दृढ़ निश्चय करने पर बाध्य होना पड़ा। उसने सिखों को सैनिक सम्प्रदाय में परिवर्तित करके उसका नाम 'ख़ालसा' रख दिया। खालसा लोगों को साधारण जनता से भिन्न वस्त्र धारण करने पड़ते थे और अपने साथ 'क' से शुरू

होने वाली पाँच चीज़ें, केश, कृपाण, कच्छा, कड़ा और कंघी, रखनी पड़ती थीं। इसके अलावा उनमें जाति भेद तथा खान पान के सभी भेद छोड़ने पड़ते थे। खालसा दल में प्रविष्ट करने के लिये एक नई विधि निर्दिष्ट की गई और इसके अनुगामियों को इस बात का विश्वास करा दिया गया कि वे उत्तम तथा चुने हुए लोग हैं। इस प्रकार गुरु गोविन्द सिंह का सिख धर्म यथार्थ में औरंगज़ेब के इस्लाम धर्म के विरुद्ध विनाशकारक सिद्ध हुआ। गुरु गोविन्द सिंह के नेतृत्व में खालसा लोगों ने धर्मान्धता का जवाब धर्मान्धता से देने की नीति का अनुसरण किया।

उत्तरी पंजाब में गुरु गोविन्द सिंह को उन मुसलमान अफसरों तथा हिन्दू नरेशों से लड़ना पड़ा, जिन्हें औरंगज़ेब ने विद्रोही सिखों का दमन करने के लिए भेजी गई शाही सेना को सहयोग देने का आदेश दिया था। गुरु ने उन लोगों को कई बार हराया। उसके अनुयायी दिन प्रति दिन बढ़ते ही गए। आनंदपुर में गुरु के घर का पाँच बार घेरा डाला जा चुका था, इस कारण उसने उस स्थान को छोड़कर मैदान में जाकर शरण ली। मुग़लों ने उसका पीछा किया। स्थान स्थान पर उसकी खोज की गई और पीछा किया गया। अन्त में वह बीकानेर होकर दक्षिण में जा पहुँचा। युद्ध में उसके दो पुत्र काम आए तथा शेष दो को सरहिंद के फौजदार ने मौत के घाट उतार दिया (१७०५)। औरंगज़ेब की मृत्यु का समाचार पाकर गुरु पुनः उत्तरी भारत में आ पहुंचा। उसने बहादुर शाह के साथ मिलकर उसके भाइयों के विरुद्ध मोर्चा लिया, और उसी के साथ दक्षिण की ओर बढ़ चला। गोदावरी नदी के किनारे नादिर के स्थान पर जब ये लोग डेरा डाले हुए थे, उसके एक अफ़ग़ान अनुयायी ने सन् १७०८ में छुरा भोंक कर उसका काम तमाम कर दिया।

गोविन्द सिंह सिखों के दसवें तथा अन्तिम गुरु थे। मृत्यु से थोड़े समय पहिले ही उसने गुरु की प्रथा को समाप्त कर दिया था और अपने अनुयाई सिख सम्प्रदाय को प्रजासत्तात्मक सैनिक रूप देने का आदेश दिया। वह कहता था कि "जहाँ कहीं भी ५ सिख होंगे मैं वहीं पर उपस्थित रहूँगा।" गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के समय तक सिख एक ऐसा विद्रोही सम्प्रदाय बन चुका था, जिसने मुग़लों के अत्याचारों का अन्त करने का व्रत लिया था।

राजपूत नीति

मुग़ल साम्राज्य का प्रमुख हिंदू सामन्त, जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह, जो औरंगज़ेब से धरमत के मैदान में लड़ा था और जिसने खजुवा में उसके डेरों को खूब लूटा था, २० दिसम्बर सन् १६७८ को जामरूद में स्वर्गलोक सिधार गया। सम्राट ने अफ़गानिस्तान में जामरूद में उसे मुग़ल चौकियों की रक्षा करने के लिए

नियुक्त किया था। औरंगज़ेब राजपूतों से घृणा करता था, परन्तु जब तक भारत में मिर्ज़ा राजा जयसिंह तथा महाराजा जसवन्तसिंह जैसे शक्तिशाली नरेश जीवित रहे, वह हिंदुओं को नष्ट करने की अपनी नीति को खुल्लमखुल्ला व्यवहार में न ला सका। इस कारण जोधपुर नरेश की मृत्यु पर सम्राट को प्रसन्नता हुई और उसने मारवाड़ को मुग़ल साम्राज्य में संयुक्त कर लेने की आज्ञा दी। इस भय से कि कहीं राठौड़ लोग राष्ट्रीय विद्रोह न खड़ा कर दें, उसने अजमेर के लिए प्रस्थान किया। मारवाड़ जैसे शक्तिशाली हिंदू राज्य का मुग़ल साम्राज्य में मिलाया जाना, सम्राट की भारत को मुस्लिम साम्राज्य में परिवर्तित करने की नीति को सफल बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। सम्भव था कि स्वतंत्र मारवाड़ सम्राट की नीति का विरोध करके उसे असफल बना दे। मारवाड़ पर आधिपत्य प्राप्त करके औरंगज़ेब १२ अप्रैल सन् १६७९ को दिल्ली लौट आया और उसने उसी दिन हिंदुओं पर 'ज़िज़िया कर' पुनः लगा दिया, जिससे एक शताब्दी से कुछ समय पहिले अकबर ने हिंदुओं को मुक्त कर दिया था। इसी बीच महाराजा जसवन्तसिंह का परिवार जब जामरूद से दिल्ली आ रहा था, तो लाहौर में उसकी दो रानियों के फ़रवरी १६७९ में दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से एक तो जन्म के बाद ही मर गया और दूसरा पुत्र बड़ा होकर महाराजा अजीतसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जून १६७९ में अजीतसिंह अपनी माता सहित दिल्ली जा पहुँचा। औरंगज़ेब ने उसे शाही हरम के सुपुर्द किये जाने की आज्ञा दी तथा उसे जोधपुर का राज्य इस शर्त पर वापस देने को कहा, जब वह इस्लाम-धर्म स्वीकार कर ले। यही शर्त १७०३ में औरंगज़ेब ने मराठा राजा शाहू के सामने आगे चलकर रक्खी थी। राठौर लोगों के लिए यह बहुत बड़ा अपमान था। इस कारण राठौरों ने मिलकर अपने नन्हे राजा अजीतसिंह को कष्ट से बचाने का उपाय सोच निकाला। उन्होंने अपने नेता दुर्गादास के साथ मिलकर रानी के स्थान पर नौकरानी और नन्हे राजा के स्थान पर नौकरानी के पुत्र को रख दिया और राठौर योद्धाओं का एक जत्था मुग़लों की उस फ़ौज से भिड़ पड़ा जो रानी और अजीतसिंह को पकड़ने के लिए भेजा गया था और जिसने इसी कारण जसवन्तसिंह के निवास स्थान को घेर लिया था। इधर तो राठौर योद्धाओं ने मुग़ल सेना को युद्ध मे जुटाए रक्खा और उधर दुर्गादास कुछ राठौर योद्धाओं के साथ रानियों को पुरुषों जैसी वेष भूषा पहिनाकर, तथा राठौरों के राजपरिवार के अन्य सदस्यों सहित ९ मील का रास्ता तय कर चुका था। जब सम्राट को इस बात का पता लगा तो उसने दुर्गादास से युद्ध करके रानी और उसके नन्हे पुत्र अजीतसिंह को वापस ले आने के लिए एक सेना भेजी। राठौर लोग मुग़ल सेना के साथ बहादुरी से लड़े और उन्हें तीन बार हराया और वापस भगा दिया। इस प्रकार अजीतसिंह मारवाड़ सुरक्षित पहुँच गया। इस

उपाय में भी असफल हो जाने के कारण औरंगज़ेब ने अजीतसिंह के स्थान पर एक ग्वाले के बच्चे को रख दिया। उसे इस्लाम धर्म में दीक्षित करके उसका नाम मुहम्मद राज रखा और इस बात की घोषणा करदी कि दुर्गादास का शरणागत राजा नकली नरेश है। सम्राट ने नागौर नरेश इन्द्रसिंह को, जिसे मुग़लों का वफादार अनुयायी होने के कारण मारवाड़ का राज्य मिला था, गद्दी से उतार दिया और जोधपुर को जो उस समय मुग़ल सेना नायक के अधिकार में था, यथाविधि मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। सम्राट पुनः अजमेर को रवाना हो गया और वहाँ से अपने पुत्र अकबर को एक विशाल सेना सहित मारवाड़ को पुनर्विजित करने को भेजा, क्योंकि जनता ने मुग़ल आततायियों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया था। काफी समय तक लड़ने के बाद शाही सेना मारवाड़ पर विजय प्राप्त कर सकी। शाही सेना ने समस्त नगरों में लूटपाट की और मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया परंतु राठौर लोग, जो पहाड़ियों में जा छुपे थे, उन लोगों को लगातार तंग करते रहे।

अब औरंगज़ेब मेवाड़ की ओर अग्रसर हुआ। उसने महाराणा राजसिंह से समस्त राज्य पर जिज़िया कर देने को कहा। परन्तु राजसिंह समझ गया था कि वास्तव में औरंगज़ेब राजपूत राज्यों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहता है। महाराणा अजीतसिंह का पक्ष लेते हुए मुग़लों से जोरदार टक्कर लेने के लिए तैयार होगया। औरंगज़ेब ने महाराणा का इरादा भांप लिया और हसनअलीखां के नेतृत्व में ७,००० चुने हुए सैनिकों को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस पर महाराणा अपनी राजधानी उदयपुर को छोड़ कर पहाड़ियों पर भाग निकला। चित्तौड़ और मेवाड़ पर अधिकार कर लेने के बाद हसनअलीखाँ ने वहां के मंदिरों को तोड़ना शुरू कर दिया। राजसिंह का पीछा करके उसने उसे १ फरवरी सन् १६८० को हरा दिया। राजकुमार अकबर को चित्तौड़ का भार सौंप कर सम्राट अब अजमेर को वापस चला गया। अब राजसिंह ने मुग़ल चौकियों पर आक्रमण करके उनके यातायात का मार्ग बंद कर दिया। एक रात कुछ राजपूत सैनिक अचानक चित्तौड़ के निकट अकबर के खेमे के पास जा पहुंचे और कई मुग़ल सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। इस प्रारम्भिक सफलता के पश्चात् राजसिंह बेदनौर की ओर बढ़ चला। वहाँ उसने अकबर को करारी हार दी और उसको महान् हानि पहुँचाई। औरंगज़ेब ने अकबर को बदल कर उसके स्थान पर राजकुमार आज़म की नियुक्ति चित्तौड़ में कर दी। सम्राट ने मेवाड़ पर पुनः आक्रमण करने की भी योजना बना ली जिसके अनुसार तीन मुग़ल सेनाओं को तीन भिन्न दिशाओं से मेवाड़ की पहाड़ियों पर एक साथ आक्रमण करना था। पूर्व दिशा से आक्रमण करने वाली सेना आज़म की अध्यक्षता में थी जिसे देवबाड़ी दर्रे से होकर उदयपुर पर आक्रमण करना था।

मुअज़्ज़म की अध्यक्षता में दूसरी सेना को उत्तर से राजसमुद्र झील की ओर से प्रवेश करना था। परंतु इनमें से प्रथम दो सेनापति मेवाड़ तक अपनी सेना सहित नहीं पहुँच पाए। अकबर नाडौल पहुंच गया और वहाँ दो माह ठहर कर देवसूरी दर्रे की ओर अग्रसर हुआ। परंतु वह भी इससे आगे नहीं बढ़ सका और राजसिंह को, जो इसके डेरे के दक्षिण में केवल आठ मील की दूरी पर कुम्भलगढ़ में डेरा डाले था, वहां से भगाने में सफल न हो सका। अब तक राजकुमार निराश हो चुका था। अपने पिता की विरोधी नीति की तुच्छता (निस्सारता) समझ लेने के कारण उसने राजपूतों से संधिवार्ता प्रारम्भ कर दी। राठौरों और सीसोदिया लोगों के सहयोग से उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और ११ जनवरी १६८१ को अपने आपको भारत का सम्राट घोषित कर दिया।

कुछ सप्ताह पहिले राजपूतों ने अकबर के सामने प्रस्ताव रखा कि वह उन लोगों की सहायता से राज्य पर अधिकार करके स्वयं को सम्राट घोषित कर दे और राठौर तथा सीसोदिया राजपूत इस कार्य के लिए अपनी सेनाएँ उसकी सेवा में भेज देंगे। यह भी तय हुआ कि अकबर अपना राज्यारोहण विधिपूर्वक मना कर औरंगज़ेब के विरुद्ध अग्रसर होगा। इन सब बातों तथा प्रस्तावों के कारण अकबर ने यह महत्वपूर्ण निर्णय किया था। अकबर यह भली भाँति जानता था कि औरंगज़ेब की धर्मान्धता की नीति न केवल देश के ही लिए वरन् मुग़ल सत्ता के लिए भी हानिकर थी। इस कारण अकबर दुर्गादास और महाराणा राजसिंह की इच्छानुसार काम करने को राजी हो गया। परन्तु १ नवम्बर सन् १६८० ई० को महाराणा की मृत्यु हो जाने तथा उसके पुत्र जयसिंह के राज्यारोहण के कारण औरंगज़ेब पर आक्रमण करने की योजना को कार्यरूप में परिणत करने में अधिक समय लग गया। ज्योंही मेवाड़ का नया महाराणा अपनी सेना अकबर की सेवा में भेजने को तैयार हो गया वैसे ही उसने चार मुसलमान उलेमाओं द्वारा हस्ताक्षरित एक 'फ़तवा' लिखवाया, जिसमें लिखा था कि औरंगज़ेब ने कुरान के नियम का उलंघन किया है, इस कारण वह राज्यगद्दी से वंचित हो गया है। इसके बाद ११ जनवरी सन् १६८१ को राजकुमार ने अपना राज्याभिषेक किया। सीसोदिया और राठौरों की सेनाओं सहित उसने १२ जनवरी को अपने पिता के विरुद्ध, जो अजमेर में डेला डाले हुए था, प्रस्थान किया। सम्राट के हृदय में अकबर के प्रति पिता का प्रेम था। इस कारण ऐसी चोट खाकर पहिले तो वह भौचक्का रह गया परन्तु शीघ्र ही सम्हल गया और थोड़ी सेना होने के बावजूद भी उसने अजमेर से ८ मील दूर जाकर दोराहा के स्थान पर मोर्चा जमा लिया। छोटी सेना होने के कारण अकबर के साथियों को अपनी तरफ फोड़ लेने के लिए सम्राट ने चतुर कूटनीति से काम लिया। उसने अकबर के पक्के अनुयायी तहव्वर खाँ को

उसके ससुर से इस आशय का पत्र लिखवाया कि यदि वह शाही नौकरी स्वीकार कर लेगा तो उसे माफ कर दिया जायगा और यदि वह इस बात को अस्वीकार कर देगा तो उसके समस्त परिवार को जो उस समय शाही डेरे के साथ था नष्ट कर दिया जायगा। अपनी स्त्री और बालबच्चों की कुशलता के मोह में आकर एक रात तहव्वर खाँ बिना अकबर या किसी राजपूत सामन्त को बताए हुए, औरंगज़ेब के डेरे में जा पहुँचा, जहाँ पर उसे औरंगज़ेब के सेवकों ने मार डाला। इसके बाद सम्राट ने अकबर को इस आशय का एक पत्र लिखा कि तुमने अपनी और मेरी सेनाओं के बीच प्रमुख राजपूतों को लाने का जो प्रयत्न किया है वह सराहनीय है। यह पत्र जानबूझ कर राजपूत सरदारों के डेरे के पास डलवाया गया। जब दुर्गादास ने इस पत्र को पढ़ा तो वह भौचक्का रह गया और सीधे अकबर के पास गया और इस षड्यन्त्र के बारे में उससे पूँछताछ की। अकबर के नपुंसक सेवकों ने दुर्गादास को बताया कि वह सो रहा है। अब दुर्गादास तहव्वर खाँ के खेमे में गया, तो उसे मालूम हुआ कि वह रात में गुप्त रूप से औरंगज़ेब से जा मिला था। अब राजपूतों को पूरा विश्वास हो गया कि अकबर ने अपने पिता के साथ मिलकर उन लोगों को नष्ट कर देने के लिए यह षड्यन्त्र रचा है। इस कारण उन्होंने अकबर के डेरे पर धावा बोल दिया, उसको लूटा और उसे छोड़कर मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया। पथ-भ्रष्ट अकबर की सेना के बहुत से सैनिक भी उसे छोड़कर औरंगज़ेब की सेना में जा मिले। जब अकबर जगा तो उसके साथ केवल ३५० घुड़सवार बच रहे थे। राजपूतों के साथ रहने ही में अपनी भलाई समझकर वह अपनी कुछ स्त्रियों, बच्चों और ख़ज़ाने का कुछ भाग लेकर मेवाड़ की ओर लौट पड़ा। दूसरे दिन औरंगज़ेब ने अकबर के डेरे पर अधिकार प्राप्त कर लिया और उसके साथियों को, तथा विशेषकर उन चार मुल्लाओं को जिन्होंने उसके विरुद्ध फतवा लिखा था, दण्ड दिया।

दुर्गादास को शीघ्र ही इस बात का पता लग गया कि अकबर और राजपूतों के मेल मिलाप का असफल होना अकबर के विश्वासघात के कारण नहीं वरन् औरंगज़ेब के छल के कारण हुआ था। अब उसने अकबर को अपने संरक्षण में रखा और राजपूताना तथा खानदेश की खतरनाक यात्रा करके उसे शिवाजी के पुत्र शम्भूजी के दरबार में पहुँचा दिया। शम्भूजी ही केवल ऐसा भारतीय नरेश था जो भगोड़े राजकुमार को अपने दरबार में शरण देने का साहस कर सकता था।

इससे पहिले कि अकबर मराठों की सहायता प्राप्त करके राज्य की शान्ति को भङ्ग कर सके सम्राट ने उदयपुर के महाराणा से सन्धि कर ली। उसके बाद वह दक्षिण की ओर इस इरादे से अग्रसर हुआ कि वह भारत का सम्राट बनने के अकबर के सुनहले स्वप्नों को भङ्ग कर दे। महाराणा जयसिंह, जिसके राज्य को सदा शाही सेना के

हमले का भय बना रहता था, भी सम्राट से सन्धि करने को उतना ही उत्सुक था। इस कारण जून १६८१ ई० को उन दोनों में सन्धि हो गई। अपने राज्य पर लगाए जिजिया के एवज में महाराणा ने सम्राट को मादलपुर और बिदनौर के परगने दे दिये। सम्राट ने महाराणा को अपने राज्य में स्थायी बनाकर 'राणा' के पद से विभूषित किया तथा उसे ५,००० का मनसबदार नियुक्त किया। परन्तु मारवाड़ ने सम्राट से सन्धि नहीं की और वह अगले २७ वर्ष तक मुग़ल सम्राट से लड़ता रहा। इस युद्ध के कारण वफादार सीसोदिया और राठौरों की मुग़ल सम्राट के प्रति सहानुभूति नहीं रही। हाड़ा और गौड़ राजपूतों ने भी उनकी नीति का अनुसरण किया जिसने उत्तरी भारत में मुग़ल सत्ता की जड़ खोद डाली। औरंगज़ेब एक विशाल सेना सहित दक्षिण की ओर अग्रसर हुआ। नवम्बर माह में वह बुरहानपुर पहुँचा और औरंगाबाद में १ अप्रेल १६८२ में पहुँचा।

जब तक औरंगज़ेब दक्षिण में न रहा, तब तक मारवाड़ में विद्रोह शांत नहीं हुआ। देशभक्त राठौर लोग जिन्होंने पहाड़ियों और मरुभूमि पर अधिकार जमा रखा था, अक्सर मैदान में आकर मुग़ल चौकियों पर हमला करते रहते थे और उनके आमदरफ्त तथा रक्षा के मार्गों को बन्द कर देते थे। इस प्रकार ये लोग जोधपुर के मुग़ल राज्यपाल को तंग करते रहे और उसे राज्य पर पूर्णरूप से अधिकार जमाने का समय तक ही नहीं दिया। राठौरों के स्वतन्त्रता संग्राम को तीन भागों में बाँटा जा सकता है: (१) सन् १६८१ से १६८७ तक यह जन संग्राम रहा क्योंकि अजीत सिंह उस समय बच्चा था, और प्रसिद्ध राठौर योद्धा दुर्गादास दक्षिण में था। राठौरों में कोई ऐसा केन्द्रीय अधिकारी नहीं था जो अकेला मुग़लों से टक्कर लेता, वरन् गुरिल्ला दस्ते अनेक स्थानों पर एक साथ मुग़लों पर आक्रमण कर देते थे। इस कारण मुग़ल राज्यपालों को नियमित शासन प्रबन्ध स्थापित करने को न तो समय ही मिल पाता था और न ही कभी विश्राम। (२) सन् १६८७ से १७०१ ई० तक दुर्गादास ने, जो दक्षिण से लौट आया था, राठौरों का नेतृत्व किया। बूँदी के दुर्जन साल हाड़ा के सहयोग से उसने मारवाड़ के मैदान साफ कर दिये और मेवात तथा दिल्ली तक मुग़ल सीमाओं पर आक्रमण किया। यद्यपि १६६० में उसने अजमेर के राज्यपाल को हरा दिया, परन्तु मारवाड़ का नया राज्यपाल शुजात खाँ, जो योग्य आदमी था, ने स्थानीय राठौर सरदारों से गुप्त संधि कर रखी थी, जिसके अनुसार वह उन्हें चौथ अर्थात् चुङ्गी करों की सरकारी आय का चौथाई भाग देता था। इस कारण दुर्गादास मारवाड़ को पुनः प्राप्त न कर सका। परन्तु बाद में दुर्गादास ने सम्राट से संधि कर ली, जिसके अनुसार उसे अकबर की पुत्री शफीयातुन्निसा (१६६४) तथा पुत्र बुलन्द अख़्तर (१६६८) को सम्राट के हाथ सौंपने को राजी कर लिया गया। इसके

बदले में सम्राट ने दुर्गादास को ३,००० का मनसबदार तथा गुजरात में पाटन का सेना नायक नियुक्त किया। अजीत सिंह को झालोर, सन्चोद और सीवाना के परगने जागीर के रूप में दे दिये गए तथा उसे शाही नौकरी में एक पद दे दिया गया। परन्तु उसे अपने राज्य में बहाल नहीं किया गया। (३) इस संग्राम का तीसरा दौर सन् १७०१ से १७०७ ई० तक रहा। इसके अन्त समय में अजीत सिंह ने मारवाड़ पुनः प्राप्त करके, अपने को स्वतंत्र शासक बना लिया। सन् १७०१ ई० में आज़मशाह को जोधपुर का मुग़ल राज्यपाल नियुक्त किया गया। उसने वहाँ के राठौरों को नाराज़ कर दिया। सम्राट राठौर योद्धा दुर्गादास को कैद करना या मरवा डालना चाहता था। इस कारण वह मारवाड़ भाग गया, जहाँ अजीत सिंह ने उसका साथ दिया और उन दोनों ने मिलकर विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। इस बार फिर औरंगज़ेब को मजबूर होकर अजीतसिंह के साथ संधि करनी पड़ी। सम्राट ने उसको मेरटा जागीर के रूप में भी दिया। दुर्गादास ने भी थोड़े ही समय बाद आत्मसमर्पण कर दिया। सम्राट ने उसे गुजरात में उसके पद और नौकरी पर बहाल कर दिया। परन्तु १७०६ ई० में जब मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया, तो अजीत सिंह और दुर्गादास ने पुनः मुग़ल सम्राट के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। दुर्गादास को कोली राज्य में भगा दिया गया, परन्तु मुग़ल सम्राट के वफादार अधीनस्थ नागौर नरेश मुहकम सिंह को हरा देने के कारण अजीत सिंह ने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। इसी बीच औरंगज़ेब की मृत्यु का समाचार राजस्थान पहुंचा, तो अजीत सिंह ने मुग़ल राज्यपाल पर आक्रमण किया और उसे मारवाड़ से बाहर निकाल भगाया। सोजात, पाली तथा मेरटा को भी मुग़लों से पुनः छीनकर सन् १७०७ ई० में उसने अपने आपको मारवाड़ का महाराजा घोषित कर दिया।

१६८१ ई० के बाद उत्तरी भारत के अन्य भागों की दशा

उत्तरी भारत से औरंगज़ेब की दीर्घकालीन अनुपस्थिति, दक्षिण के असीम युद्धों में पैसे का पानी की तरह बहना और मनुष्यों के काम आने, तथा उत्तर भारतीय प्रान्तों को मध्यम श्रेणी के सरदारों के हाथों में थोड़ी सेना के दस्तों सहित सौंप देने तथा आय के सीमित साधनों के कारण देश में अशान्ति और अव्यवस्था फैल गई। इसके अलावा मारवाड़ में राठौरों का स्वतंत्रता संग्राम, मेवाड़ तथा राजस्थान के कुछ अन्य भागों में शाही अधिकारियों को तुच्छ मानना और उनका कठिन मुकाबला होने के साथ साथ मालवा, बिहार और बुन्देलखंड में हिन्दुओं ने कठिन विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। बंगाल में सन् १६८६ ई० में अङ्गरेज़ व्यापारियों ने विद्रोह कर दिया तथा गोंडवाना का जंगली प्रदेश सतरहवीं शताब्दी के अन्तिम २५ वर्षों में अत्यंत व्याकुल रहा। औरंगज़ेब की धार्मिक उत्पीड़न नीति से तंग होकर तथा राज्य पाने

के लालच में देवगढ़ तथा चंदा, जिन दो भागों में गोंडवाना बँटा हुआ था, के राज-परिवारों ने इस्लाम अंगीकार कर लिया, परन्तु फिर भी वे लोग अपने राज्य बनाने में असफल रहे। सतरहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से ही मराठा लोग गुजरात तथा मालवा पर आक्रमण करके वहाँ के लोगों को तंग किया करते थे। मराठों ने मालवा पर प्रथम धावा कृष्ण सावन्त के नेतृत्व में नवम्बर सन् १६६६ में किया, जिसने धामोनी के निकट लूट पाट की। इसके पश्चात् भी मराठे बरार पर आक्रमण करते रहे तथा स्थानीय ज़मीदारों के सहयोग से उन्होंने ख़ानदेश और मालवा को लूटा। मार्च सन् १७०६ ई० में धानाजी यादव ने गुजरात में प्रवेश करके मुग़लों की सेना के दो दस्तों को हरा कर दो सेना नायकों सफ्दर खाँ बाबी और नज़रअलीखाँ को कैद कर लिया। अब उसने प्रांत के सहायक राज्यपाल अब्दुलहमीद खाँ को परास्त करके उसको तथा उसके प्रमुख अधिकारियों को कैद कर लिया। उसने उनके समस्त डेरे को खूब लूटा। इस्माइलिया तथा दाऊदी बोहरों के धार्मिक नेताओं को, जो शिया थे, कैद करके औरंगज़ेब ने गुजरात की जनता को रुष्ट कर दिया था। उसकी इस निर्बुद्धि नीति से प्रान्त में असन्तोष फैल गया।

बुन्देलखंड स्थित ओरछा के राजा चम्पतराय का पुत्र छत्रसाल उत्तरी भारत में औरंगज़ेब का महा पराक्रमी तथा सफल शत्रु था। जब सन् १६६१ ई० में केवल शाही शक्ति के कारण चम्पतराय को मजबूर होकर आत्मसमर्पण करना पड़ा, उस समय छत्रसाल ने मुग़ल सम्राट के यहाँ एक क्षुद्र कप्तान के रूप में नौकरी शुरू की थी। दक्षिण में वह राजा जयसिंह के नेतृत्व में लड़ा भी। शिवाजी द्वारा मुग़लों का विरोध करने से उसे प्रेरणा मिली और उसने अपनी समस्त सेवाएँ मराठा योद्धा शिवाजी को मुग़ल साम्राज्य की शक्ति को नष्ट करने के लिए अर्पित करदीं। परन्तु शिवाजी ने उसे अपने ही प्रांत बुन्देलखंड में जाकर बलवा भड़काने के लिए सलाह दी, ताकि मुग़लों का ध्यान कई तरफ बँट जावे। छत्रसाल बुंदेलखन्ड लौट गया। औरंगज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति से तंग आई हुई हिन्दू जनता ने उसका स्वागत किया। अधिक संख्या में लोग उसके साथ मिल गए और उन्होंने छत्रसाल को बुन्देलखंड का राजा निर्वाचित किया। उसने धामोनी तथा मिरौंज पर आक्रमण करके मुग़ल सेनाओं को परास्त किया। अब वह आसपास के मुग़ल साम्राज्य के ज़िलों से 'चौथ' भी वसूल करने लगा। कुछ ही वर्षों में छत्रसाल ने कालिंजर और धामोनी पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उसने समस्त मालवा को ध्वंस कर दिया। उसने इतनी महान् सफलता प्राप्त कर ली थी कि सन् १७०५ ई० में विवश हो कर औरंगज़ेब को उसके साथ सन्धि करनी पड़ी। छत्रसाल को ४,००० का मन्सबदार नियुक्त किया तथा दक्षिण की सेना में एक पद भी दिया गया। सन् १७०७

ई० में सम्राट की मृत्यु हो जाने पर, छत्रसाल अपने को स्थिर स्वतन्त्र शासक बनाने के लिए बुन्देलखन्ड लौट आया।

औरंगज़ेब की दक्षिण नीति

अपने शासन के प्रथम अर्द्धकाल में औरंगज़ेब ने दक्षिण के काम-धंधों को अपने राज्यपालों के हाथों में ही छोड़ रखा था, जिन्हें बीजापुर और गोलकुंडा के राज्यों के साथ व्यवहार करने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि ये दोनों राज्य उस समय ह्रास की हालत में थे। गोलकुंडा की अपेक्षा बीजापुर अधिक संघर्षकारी तथा शक्तिशाली था। इस कारण बीजापुर के विरुद्ध अनेक बार शाही सेनाओं को मोर्चा लेना पड़ा था। गोलकुंडा नरेश अब्दुल्ला कुतुबशाह (१६२६-७२ ई०) अकर्मण्य तथा विलासप्रिय राजा था, जो अपना समय अधिकतर स्त्रियों के सत्संग में व्यतीत करता था। उसने राज्य का शासन प्रबन्ध अपने कृपापात्र अधिकारियों के हाथों में सौंप रखा था। उसका उत्तराधिकारी अबुल हसन भी उसी प्रकृति का राजा था। उसके राज्य का शासन प्रबंध मदन और अकन नामक दो ब्राह्मण मंत्रियो के हाथ में था। उसने अपनी रक्षा के लिए शिवाजी के साथ एक संधि करली जिसके अनुसार उसने शिवाजी को ५ लाख रुपये प्रतिवर्ष देने का वचन दिया।

ज्योंही औरंगज़ेब उत्तराधिकार के संघर्ष से मुक्त हुआ, उसने सन् १६६५ ई० के प्रारम्भकाल में जयपुर नरेश जयसिंह को, बीजापुर नरेश को अगस्त सन् १६५७ ई० की संधि की शर्तों को पूरा करने में टालमटोल करने के लिए, दण्ड देने को भेजा। जयसिंह को शिवाजी का दमन करने के लिए भी भेजा गया था। सबसे पहिले राजपूत सेनापति जयसिंह ने शिवाजी को एक लड़ाई में नीचा दिखाया जिसके फलस्वरूप उन्हें पुरन्दर का समर्पण जून सन् १६६५ ई० में करना पड़ा। अब जयसिंह ने शिवाजी के सहयोग से, जो अब मुग़लों का मित्र बन गया था, बीजापुर पर आक्रमण किया। प्रारम्भिक लम्बी लड़ाई में बीजापुरी सेनाओं ने मुग़लों को गुरिल्ला युद्ध में बहुत तंग किया तो भी जयसिंह आगे बढ़ता गया और बीजापुर के क़िले के १२ मील निकट पहुँच गया। बीजापुर के सुल्तान ने अपनी राजधानी में सभी रक्षात्मक साधनों का प्रयोग करके अपना मोर्चा काफी मज़बूत बना लिया था। उसने आस पास छै मील तक के प्रदेश का बिल्कुल सत्यानाश कर दिया था ताकि बढ़ते हुए सैनिक को खाने पीने का कोई साधन प्राप्त न हो सके। जयसिंह की योजना, बीजापुर के दुर्गम दुर्ग को अचानक आक्रमण करके विजय करने की थी, परन्तु बीजापुरी सेना की सतर्कता के कारण यह सम्भव नहीं था। परिणामस्वरूप जयसिंह ने लौटने का निश्चय किया। परंतु बीजापुरियों ने उस पर आक्रमण किया और जयसिंह को दो लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, जिसमें उसे बहुत हानि उठानी पड़ी। इसके साथ-साथ मुग़लों का मित्र

शिवाजी पनहाला के दुर्ग पर अधिकार प्राप्त करने में असफल हो गया। बड़ी भारी हानि उठाने के बाद जयसिंह औरंगाबाद लौट आया। इस विजय से बीजापुर की शक्ति बढ़ गई और गोलकुंडा ने भी उसके साथ मेल कर लिया। औरंगज़ेब ने जयसिंह पर इस पराजय का दोष लगा कर उसे दरबार में वापस बुला लिया। इससे महान् दुखी हो कर जयसिंह लौटते समय राह ही मे बुरहानपुर में १२ जुलाई सन् १६६६ ई० में स्वर्ग सिधार गया।

लगभग दस वर्ष तक बीजापुर पर मुग़लों ने कोई भी आक्रमण नहीं किया। उस समय अली आदिलशाह द्वितीय बीजापुर का सुल्तान था। उसने अबुल मोहम्मद नामक एक योग्य मंत्री के हाथ प्रशासन का भार सौंप दिया, जिससे राज्य में सुख और शांति का राज्य छा गया। सुल्तान की मृत्यु पर दिसम्बर सन् १६७२ ई० में सिकंदर आदिलशाह नामक चार साल का बच्चा राजा बनाया गया। बीजापुर के सामन्त दो दलों में विभक्त हो गए। एक दल तो अफ़ग़ानों का था और दूसरे दल में दक्षिणी और अबीसीनिया के लोग सम्मिलित थे। इस प्रकार सामंतों में गृह युद्ध फैल गया। इस अवसर से लाभ उठा कर मुग़ल राज्यपाल बहादुर खाँ ने १६७६ ई० में बीजापुर पर आक्रमण किया, परंतु परास्त हुआ। इस पर सम्राट अत्यंत अप्रसन्न हुआ। सम्राट ने बहादुर खाँ को वापस बुला लिया और उसके स्थान पर दिलेर खाँ को दक्षिण का राज्यपाल नियुक्त किया। दिलेर खाँ ने बीजापुर के मंत्री सिद्दी मसूद के साथ षड्यंत्र करके बीजापुर को मुग़ल साम्राज्य की वास्तविक अधीनता में लाने में सफल हो गया। औरंगज़ेब के पुत्र राजकुमार आज़म के साथ शादी होने के लिए सुल्तान ने अपनी पुत्री को दिल्ली भेज दिया। परंतु शिवाजी के साथ गुप्त संधि करके मसूद ने शीघ्र ही दिलेर खाँ को रुष्ट कर दिया। मसूद तो लड़ने को भी तैयार था परंतु मराठों की ओर से सैनिक सहायता न मिलने के कारण उसने दिलेर खाँ से पुनः संधि कर ली। दिलेर खाँ ने बीजापुर की सहायता के लिए तथा उसके सहयोग से भूपालगढ़ को मराठों से छीन लेने के लिए एक सेना भेजी। बीजापुर में सामन्तों के गृहयुद्ध के कारण वहाँ अराजकता का साम्राज्य छा गया था। इस अवसर से लाभ उठाकर दिलेर खाँ ने अपने मनोनीत के पक्ष में मसूद को मंत्री पद से अलग हो जाने को कहा। परंतु मसूद ने इसे मानने से इन्कार कर दिया, इस कारण सितम्बर सन् १६७९ ई० में दिलेर खाँ ने बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। परंतु दक्षिण में नियुक्त हुए नए राज्यपाल शाह आलम की शत्रुता तथा मराठों का मसूद को सहयोग प्राप्त होने के कारण, वह बीजापुर विजय करने में सफल न हो सका। जब सन् १६८१ ई० में औरंगज़ेब स्वयं दक्षिण में पहुँचा, उस समय बीजापुर की ऐसी अव्यवस्थित दशा थी।

दक्षिण में तीसरी शक्ति मराठों की थी, जिन्होंने अपने नेता शिवाजी की अध्यक्षता में प्रतिष्ठा प्राप्त की। शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले प्रारम्भ में अहमद नगर के सुल्तान के एक छोटे से जागीरदार थे, परन्तु अन्त में राज्य में वे सम्राट निर्माता के पद तक जा पहुँचे। सन् १६३६ ई० में शाहजहाँ ने शाहजी को परास्त किया। इसके पश्चात् शाहजी ने प्रमुख हिंदू सेनाध्यक्ष के रूप में बीजापुर के सुल्तान की नौकरी कर ली। शाहजी ने पूना की जागीर अपने पुत्र शिवाजी को दे दी। जबकि उसके पुत्र व्यन्कोजी को अर्काट ज़िले में शाहजी का राज्य (जागीर) कुल क्रम से प्राप्त हुआ। शिवाजी का उद्देश्य दक्षिणी हिंदुओं का महान् नेता बनकर उनके उद्धर्ता बनने का था। इसी कारण केवल बीस वर्ष की आयु में ही शिवाजी ने विजयें प्राप्त करनी प्रारम्भ कर दीं और बीजापुर से कई दुर्ग छीन लिये। जावली के राज्य को विजय कर लेने से उसका राज्य अब दूना हो गया। सन् १६५६ ई० में पहिली बार शिवाजी ने अहमदनगर और जुन्नार पर आक्रमण करके मुग़लों से टक्कर ली। परन्तु उस समय दक्षिण का राज्यपाल औरंगज़ेब था। उसने भी प्रत्यपकार में मराठों के गाँवों को ध्वंस करना शुरू कर दिया। सन् १६५७ ई० में बीजापुर ने मुग़लों से संधि कर ली। शिवाजी ने भी उसी समय आत्म-समर्पण कर दिया। इस पर औरंगज़ेब ने उसे ऊपरी दिल से क्षमा कर दिया, परन्तु सत्य तो यह था कि उत्तराधिकार के संघर्ष के समाप्त हो जाने के बाद औरंगज़ेब शिवाजी की शक्ति को समाप्त कर देना चाहता था।

दक्षिण में औरंगज़ेब की अनुपस्थिति के समय में शिवाजी ने कोनकन को विजय करने की योजना बनाई। उसने कल्यान, भिवण्डी तथा महूली पर अधिकार कर लिया। अन्त में बीजापुर राज्य ने शिवाजी की शक्ति को समाप्त करने के लिये भीषण तैयारी की और इस कार्य को पूरा करने के लिए अफ़ज़लखाँ को शिवाजी के विरुद्ध भेजा गया। परन्तु शिवाजी ने पहिले ही से भाँप लिया कि अफ़ज़लखाँ विश्वास-घात करके उस पर आक्रमण करेगा। शिवाजी ने भेंट के समय उसकी हत्या करदी और उसकी सेना पर आक्रमण करके मार भगाया। २० नवम्बर सन् १६५९ ई० को अफ़ज़ल की हत्या करके शिवाजी ने दक्षिण कोनकन और कोल्हापुर के ज़िलों पर अधिकार कर लिया। सन् १६६० ई० में बीजापुर राज्य ने शिवाजी को समाप्त करने के लिए उस पर पुनः आक्रमण किया। बीजापुर के सेनापति सिद्दी जौहर ने उसे पनहाला के दुर्ग में घेर लिया और उसे दुर्ग खाली कर देने को विवश कर दिया। ठीक इसी समय दक्षिण के मुग़ल वायसराय शाइस्ताखाँ ने पूना और चकन के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। शिवाजी ने शाइस्ताखाँ की सेना को उत्तरी कोनकन म पराजित किया और वह मुग़लों से दस वर्ष तक लड़ता रहा जिसमें उसने

विविध सफलताएँ प्राप्त कीं। १५ अप्रेल सन् १६६३ ई० की अर्द्धरात्रि में शिवाजी ने शाइस्ता खाँ के डेरे पर सहसा आक्रमण कर दिया। इसमें शाइस्ता खाँ घायल हुआ, उसका एक पुत्र, एक सरदार, ४० सेवक तथा छै स्त्रियाँ मार डाले गये, इनके अलावा उसके दो अन्य पुत्र तथा अनेक लोग घायल हुए। इस आक्रमण से शाइस्ता खाँ बहुत घबड़ा गया। औरंगज़ेब ने उसे दरबार में वापस बुला लिया। इस आक्रमण के पश्चात् शिवाजी ने सूरत को घेर लिया। यहाँ उसे लूट का बहुमूल्य माल प्राप्त हुआ, जो अनुमानतः एक करोड़ रुपये के लगभग रहा होगा। अब औरंगज़ेब ने जयसिंह को हिदायतें देकर शिवाजी को काबू में लाने के लिए भेजा। जयसिंह, जो एक महान् सेनानायक और कूटनीतिज्ञ था, यह कार्य करने में सफल हो गया। चतुर कूट-नीति से काम लेकर उसने अनेक प्रमुख दक्षिणी सामन्तों को शिवाजी का विरोध करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार जयसिंह ने शिवाजी के चारों तरफ उसके शत्रुओं का जमघट पैदा कर दिया। इसके बाद राजा जयसिंह ने पुरन्दर के दुर्ग पर घेरा डाल दिया, और इसके साथ-साथ उसने महाराष्ट्र के गाँवों को लूटने और जलाने के लिए भी एक सेना भेज दी। जब पुरन्दर की हार होने ही वाली थी, शिवाजी ने दुर्ग को मुग़ल अधिकारियों के हाथ सौंप दिया। जयसिंह से वार्ता करके शिवाजी ने २२ जून सन् १६६५ को एक संधि कर ली, जिसके अनुसार शिवाजी ने अपने साम्राज्य तथा दुर्गों का तीन-चौथाई भाग मुग़लों को सौंप कर अपने पास केवल एक चौथाई भाग रखा। उसने सम्राट की अधीश्वरता को स्वीकार कर लिया तथा मुग़ल सेना में नौकरी करने के लिए ५,००० घुड़सवारों की एक सेना भेजने का भी वादा किया। उसने मुग़लों को बीजापुर के आक्रमण में वफादारी के साथ सहयोग दिया। इस महान् सफलता के पश्चात् जयसिंह शिवाजी को बड़ी बडी आशाएँ दिलाकर आगरा जाकर सम्राट से भेंट करने के लिए राजी करने में सफल हो गया। २२ मई सन् १६६६ ई० को दीवाने-आम में शिवाजी का सम्राट से परिचय कराया गया और उसे उस लाइन में खड़ा करा दिया गया, जिसमें पाँच हज़ारी मनसबदार खड़े हुए थे। शिवाजी ने इस असम्मानजनक व्यवहार को अपना घोर अपमान समझा। उन्होंने खुले दरबार में इसके विरुद्ध ज़ोरदार विरोध प्रकाशन किया और गश खाकर गिर पड़ा। इस कारण उसे आगरे के जयपुर भवन में कैद कर लिया गया और दरबार उसके लिए निषिद्ध घोषित कर दिया गया। परन्तु तीन मास की कैद भुगतने के बाद वह अपने पुत्र शम्भूजी के साथ मिठाई के बड़े बड़े टोकरों में छुपकर भाग निकले और २५ दिन की कठिन यात्रा करके महाराष्ट्र जा पहुँचे। शिवाजी के भाग निकलने का समाचार पाकर औरंगज़ेब भौचक्का रह गया। उसने शिवाजी को पकड़ने के लिये सभी सम्भव साधनों का प्रयोग किया, परन्तु सफल न हो सका। महाराष्ट्र पहुँचकर शिवाजी ने

औरंगज़ेब से संधि कर ली, जिसके अनुसार सम्राट ने उसे स्वतन्त्र शासक स्वीकार कर लिया। तीन वर्ष तक शिवाजी ने मुग़ल सीमा पर आक्रमण नहीं किया। जनवरी सन् १६७० ई० में शिवाजी और मुग़लों में फिर लड़ाई हो गई, जिसके कारण शिवाजी ने अपने राज्य के समस्त भागों और दुर्गों पर पुनः अधिकार कर लिया, जो उसने पुरन्दर की १६६५ की संधि के अनुसार मुग़लों को सौंप दिये थे। उसने सन् १६७० ई० में सूरत में दूसरी बार लूट पाट की। इसके पश्चात् शिवाजी ने औरंगाबाद तथा मुग़लों के बाग़लान, ख़ानदेश तथा बरार के प्रान्तों पर आक्रमण किया और अनुभव-प्राप्त मुग़ल सेनानायकों की सेनाओं को भी अनेक बार परास्त किया। शिवाजी की इन साहसिक विजयों के कारण औरंगज़ेब अत्यन्त चिंतित हुआ। उसने बहादुर खाँ को, जो बाद में ख़ाने जहान के नाम से प्रसिद्ध हुआ, मराठों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए तथा यदि सम्भव हो सके तो शिवाजी का दमन करने के लिये दक्षिण का राज्यपाल नियुक्त किया। ख़ाने जहान पाँच वर्ष तक राज्यपाल रहा, परन्तु यह कार्य करने में सफल न हो सका। उधर शिवाजी एक के बाद एक विजय प्राप्त कर रहा था। उसने दक्षिण में मुग़ल साम्राज्य के नगरों से 'चौथ' भी वसूल की। उसने रामनगर और जौहर पर भी विजय प्राप्त कर ली। शिवाजी ने १६ जून सन् १६७४ ई० को रायगढ़ में स्वतन्त्र छत्रपति राजा के रूप में अपना राज्याभिषेक करवाया। इसके पश्चात् उसने कर्नाटक और मैसूर के कुछ भाग पर अधिकार प्राप्त किया। सन् १६७८ ई० में बीजापुर के सुल्तान के स्थान पर शासन करने वाले सिद्दी मसूद ने शिवाजी से संधि कर ली। शिवाजी ने बीजापुर को मुग़ल प्रदेश पर आक्रमण करने के लिए संधि के अनुसार पूरा सहयोग दिया। परन्तु रनमस्त खाँ ने शिवाजी को लगभग अपने जाल में फांस लिया और वह अपना लूट का सारा माल तथा ४,००० मनुष्यों को खोकर बच कर भाग निकलने में सफल हो सका। इस आक्रमण में उसका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। लौटते समय वह बीमार हो गया और १४ अप्रैल १६८० को स्वर्ग सिधार गया। उसका सबसे बड़ा जीवित पुत्र शम्भूजी बिना किसी विरोध के उसका उत्तराधिकारी बना।

शम्भूजी ने भी अपने पिता की भाँति दक्षिण में मुग़ल प्रदेश पर आक्रमण करने की नीति का अनुसरण किया। उसने सन् १६८१ ई० के प्रारम्भ काल में बुरहान-पुर पर आक्रमण किया और वहाँ लूट पाट की। जून में उसे शाहजादा अकबर का दुर्गा-दास राठौर के साथ आगमन का समाचार प्राप्त हुआ। उसने अकबर को शरण दी और दिल्ली का राज्यसिंहासन प्राप्त करने के लिए उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया। अकबर और शम्भूजी की प्रस्तावित संधि के विस्तृत विवरणों को निश्चित करने के लिए बातचीत चल रही थी। उसी समय औरंगज़ेब मेवाड़ नरेश

जयसिंह से संधि कर लेने के बाद बुरहानपुर पहुँच गया। उसने अपने पुत्र आज़म के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना अकबर का पीछा करने के लिए भेजी, और स्वयं जल्दी जल्दी २३ नवम्बर सन् १६८१ ई० को बुरहानपुर जा पहुँचा। सम्राट ने शम्भूजी पर जबरदस्त आक्रमण किया। उसने महाराष्ट्र पर आक्रमण करने के लिए चार सेनाओं को भिन्न भिन्न चार दिशाओं से एक साथ आक्रमण करने के लिए भेजा। सय्यद हुसैन अली खाँ को उत्तरी कोनकन, शहाबुद्दीन खाँ को नासिक, तथा रूह उल्लाह खाँ और शाहजादा शाहआलम को अहमदनगर के ज़िले में भेजा गया, ताकि यदि मराठा लोग उस ओर कोई आक्रमण करें, तो वे उस ज़िले की रक्षा करें। शाहजादा आज़म को मराठा लोगों की रसद बन्द करने और सुल्तान को मराठों को कोई भी सहायता देने को मना करने के लिए बीजापुर भेजा। परन्तु सन् १६८२ ई० में सम्राट को इससे भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, और अप्रेल सन् १६८३ ई० में समस्त सेनाओं को वापस बुला लेना पड़ा। सौभाग्यवश इसी समय शम्भूजी ने पुर्तगाली प्रदेश पर आक्रमण किया और उसने मुग़लों से संधि कर ली। शाहज़ादा अकबर को शम्भूजी की ओर से कोई विशेष सहयोग प्राप्त न होने के कारण निराशा हुई। उसने अपना निवास स्थान पाली को छोड़कर पुर्तगाली प्रदेश में जाकर, और वहाँ से जहाज़ में सवार होकर फारस के शाह के पास शरण लेने का निश्चय किया। परन्तु दुर्गादास और शम्भूजी के प्रधान मंत्री कवि कलश ने उसको विन्गुरला से लौट आने को राजी कर लिया, जहाँ पर उसने फारस जाने के लिये एक जहाज को खरीद भी लिया था और फारस के लिए यात्रा करने ही वाला था। अकबर ने एक और वर्ष (१६८४) आलस्य में खो दिया। शम्भूजी की ओर से पर्याप्त सहायता प्राप्त नहीं हो सकी। शम्भूजी के दरबार के मराठा सरदार प्रधान मंत्री कवि कलश से बहुत कलह रखते थे। यह उत्तर भारत का कान्य-कुब्ज ब्राह्मण था अतः मराठे उसे विदेशी समझ कर उससे घृणा करते थे। इस कारण शम्भूजी अकबर को कोई सहायता न दे सका और अकबर अपने पिता पर कोई आक्रमण नहीं कर सका।

औरंगज़ेब ने रायगढ़ के दरबार में फैली हुई अव्यवस्था से लाभ उठाकर सितम्बर सन् १६८३ ई० में पुनः आक्रमण करने की योजना बनाई। जन्जीरा के सिद्दी को अकबर की क्रियाओं का पूर्ण ज्ञान रखने का निर्देश दिया गया। शाह आलम के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना मराठा प्रदेश पर जोरदार आक्रमण करने के लिए दक्षिण कोनकन में भेजी गई। इसके साथ साथ पूना, नासिक तथा अकालकोट में लोगों पर आतंक जमाने और उन्हें मराठा छत्रपति की सहायता न करने देने के लिए, सेना के बड़े बड़े दस्ते नियुक्त किये। सावन्तवाड़ी में प्रवेश करके शाह आलम ने बिचोलिम पर अधिकार कर लिया। उसने विश्वासघात द्वारा गोआ पर अधिकार प्राप्त करने की

योजना बनाई। इससे पुर्तगाली लोग शाहज़ादा से रुष्ट हो गये और उन्होंने शाहजादे को अन्न देना बन्द कर दिया। मराठा गाँवों को लूटता और जलाता हुआ शाह आलम उत्तर की ओर बढ़ चला। परन्तु अकाल पड़ जाने के कारण विवश होकर उसे गोआ के उत्तर में लौट आना पड़ा। शाह आलम को रामघाट दर्रे में लौट आना पड़ा जहाँ पर उसकी लगभग एक तिहाई सेना और माल ढोने वाले पशु अधिक संख्या में महामारी के कारण नष्ट हो गए। विवश होकर शाहज़ादे को मराठों के विरुद्ध बिना कोई सफलता प्राप्त किये ही अहमदनगर लौट आना पड़ा। परन्तु अन्य स्थानों पर मुग़ल सेनाओं को महान् सफलताएँ प्राप्त हुईं। मुग़लों ने मराठों को एक से अधिक बार परास्त किया और फरवरी सन् १६८६ ई० में शाहज़ादे अकबर को निराश होकर राजापुर छोड़कर फारस के लिए रवाना होना पड़ा। जनवरी १६८८ ई० में अकबर फारस के राजदरबार में जा पहुँचा। मुक़र्रब खाँ के नेतृत्व में दूसरी मुग़ल सेना ने रत्नागीरी से २२ मील स्थित सन्गमेश्वर में जहाँ पर शम्भूजी ने जाकर शरण ली थी तथा शराब पीने तथा आनन्द-प्रमोद में मस्त था, शम्भूजी के डेरे पर सहसा आक्रमण कर दिया। ११ फरवरी सन् १६८९ ई० को शम्भूजी अपने मंत्री कवि कलश तथा २५ अफसरों सहित कैद कर लिया गया। इन लोगों को नक्काल की तरह कपड़े पहिना कर एक लम्बे जुलूस में, बाजों के साथ बहादुरगढ़ में औरंगज़ेब के शिविर में लाया गया। औरंगज़ेब ने शम्भूजी को इस शर्त पर कि वह अपने समस्त दुर्ग और पूरा खजाना सौंप दे, जीवन दान देने को कहा। परन्तु मराठा नरेश ने इसे अस्वीकार कर दिया। उसने खुले दरबार में औरंगज़ेब और उसके पैग़म्बर को बुरा भला कहा और उसकी पुत्री के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखा। इस कारण उसे घोर यातना दी गई, उसके अंगों को एक एक करके २४ दिन तक लगातार काटा गया, और अन्त में २१ मार्च सन् १६८९ ई० को उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये गये। इसी प्रकार कवि कलश को भी यातना देकर उसके शरीर के टुकड़े टुकड़े कर दिये गये।

बीजापुर साम्राज्य का विनाश, १६८६

मराठों के विरुद्ध युद्ध का निर्देशन करते समय औरंगज़ेब को यह अनुभव हुआ कि पहिले बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया राज्यों को पूर्णतया अधीन किये बिना मराठों को पराजित करना सर्वथा असम्भव सा है। बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्य मराठा नरेश शम्भूजी को प्रत्यक्ष रूप से अथवा परोक्ष रूप से सहायता पहुँचाते रहते थे। अन्त में कुछ काल तक शान्त रहने के पश्चात् सम्राट ने बीजापुर राज्य पर सुनिश्चित आक्रमण करने की योजना बनाई। शरज़ा खाँ के मंत्री काल में यह राजा अत्यंत निर्बल हो गया था। शाहज़ादा आज़म के नेतृत्व में बीजापुर शहर पर अप्रैल सन् १६८५ ई० में घेरा डाल दिया गया। दुर्ग की सेना पर मुग़ल सेना के १५ मास के

घेरे का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि दुर्ग पर पूरी तरह से घेरा नहीं पड़ा था तथा शम्भूजी, गोलकुन्डा का सुल्तान और बीजापुर का भूतपूर्व मंत्री मसूद दुर्ग में सैनिक सहायता और रसद भिजवाते रहे। मसूद अदोनी का स्वतन्त्र शासक बन बैठा था। शाही सेनाओं को रसद की बहुत कमी थी, परन्तु गाज़ी-उद-दीन फिरोज़ जंग ने शीघ्र ही उन्हें रसद पहुँचाई। फिर भी वे दुर्ग को विजित न कर सके। इस कारण १३ जुलाई सन् १६८६ ई० को स्वयं औरंगज़ेब ने बीजापुर की ओर प्रस्थान किया। उसके व्यक्तिगत निर्देशन में इस बार घेरा और भी मजबूत कर दिया गया। सम्राट स्वयं सब कामों की देखभाल करता और स्वयं उपस्थित होकर अपनी सेना को प्रोत्साहन देता था। बीजापुरी सैनिकों ने रसद की कमी होने के कारण निराश होकर २२ सितम्बर सन् १६८६ ई० को समर्पण कर दिया। आदिलशाही वंश का अन्तिम नरेश सुल्तान सिकन्दर औरंगज़ेब से मिला। सम्राट ने उसका भली प्रकार स्वागत किया। सुल्तान सिकन्दर से उसका राज्य छीन कर, उसे 'ख़ान' का पद देकर सम्राट ने उसे मनसबदार बना दिया। उसे १ लाख रुपये वार्षिक पेन्शन भी दी जाने लगी। सम्राट औरंगज़ेब ने २९ सितम्बर को बीजापुर के खाली नगर में प्रवेश करके आदिल-शाही महल की दीवारों पर लिखे सभी शिया लेखों और चित्रों को नष्ट करा दिया। सम्राट ने बीजापुर को मुग़ल साम्राज्य में संयुक्त कर लिया और सुल्तान सिकन्दर के सरदारों को अपनी सेवा में रख लिया।

गोलकुण्डा का पतन, १६८७

अब सम्राट ने बीजापुर की ओर, जिस पर ३० वर्ष से कोई मुग़ल आक्रमण नहीं हुआ था, अपना ध्यान आकर्षित किया। बीजापुर का सुल्तान नियमानुसार निश्चित 'कर' दे दिया करता था। कुतुबशाही वंश के अन्तिम शासक राजा अबुल-हसन ने प्रशासन अपने ब्राह्मण मन्त्री मदन के हाथ में सौंप दिया था और स्वयं अधिकतर अपना समय नाच गाने वाली नर्तकियों के संग में व्यतीत कर देता था। गोलकुण्डा में हिन्दुओं के प्रभाव का प्राबल्य तथा उस राज्य की मराठा नरेश शंभूजी के साथ मैत्री होना, औरंगज़ेब को विशेषकर अप्रिय लगा। युद्ध का तात्कालिक कारण सुल्तान का वह पत्र था जो उसने अपने दूत को लिखा था जो शाही शिविर में रहता था। सुल्तान कुतुब शाह ने उस पत्र में औरंगज़ेब को "सिकन्दर आदिलशाह जैसे अनाथ असहाय बच्चे पर आक्रमण करने पर नीच प्रवृत्ति का कायर मनुष्य" लिखा था। उसने आगे यह भी लिखा कि बीजापुर की सहायता करने के लिए वह एक शक्तिशाली सेना भेजेगा। सम्राट इस पत्र का बुरा मान गया। उसने जुलाई १६८५ में शाह आलम को हैदराबाद पर अधिकार करने के लिए भेजा। परन्तु मलखेद

में गोलकुण्डा की सेना ने शाहज़ादे का मार्ग रोक लिया। शाह आलम को कोई सफलता नहीं मिली। परन्तु मुग़लों ने गोलकुण्डा सेना के प्रधान सेनापति मीर मोहम्मद इब्राहीम को घूस दे दी, और मीर मोहम्मद सुल्तान को छोड़कर अक्टूबर में औरंगज़ेब से जा मिला। इस कारण सुल्तान को हैदराबाद छोड़कर गोलकुण्डा के दुर्ग में जाकर शरण लेनी पड़ी। शाह आलम ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। अपने को असहाय पाकर सुल्तान ने समर्पण कर दिया और इन शर्तों पर उसे क्षमा कर दिया कि (अ) दो लाख हून वार्षिक कर के अलावा वह १ करोड़ २० लाख रुपये मुग़लों को दे, (ब) मदन और अकन को राज्य की नौकरी से निकाल दे तथा (स) मालखेद और सेराम मुग़लों को सौंप दे। सुल्तान अबुल हसन कुछ समय तक मदन को पदच्युत करने में हिचकिचाया। इस कारण मुसलमान सामन्तों तथा दो विधवा रानियों ने मिलकर मदन और अकन को शहर की गलियों में मरवा डाला तथा उनके परिवारों और घरों को लूट कर नष्ट करा दिया। इसके पश्चात् गोलकुण्डा की समस्त हिंदू जनता पर आक्रमण किया गया। इससे संतुष्ट होकर मुग़लों ने गोलकुण्डा प्रदेश को खाली कर दिया।

औरंगज़ेब की पद्धति के अनुसार, गोलकुण्डा का स्वतंत्र रहना एक अपराध था। इस कारण बीजापुर को मुग़ल साम्राज्य में संयुक्त करने के पश्चात् उसने राजा अबुलहसन के विरुद्ध पुनः युद्ध प्रारम्भ कर दिया। सम्राट स्वयं ७ फरवरी सन् १६८७ ई० को गोलकुण्डा की चहारदीवारी के निकट पहुँच गया। उसने सुल्तान की सेना को जो चहारदीवारी के बाहर व्यूह बनाकर खड़ी हुई थी, परास्त किया और दुर्ग पर घेरा डाल दिया। शाहज़ादा शाह आलम ने सुल्तान द्वारा भेजे गए उपहार स्वीकार कर लिये और उसके अनुनय करने पर उसे सम्राट द्वारा क्षमा कराने को तैयार हो गया। इस गुप्त बातचीत का पता लग जाने के कारण, औरंगज़ेब ने शाह आलम और उसके परिवार को कैद कर लिया और उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लिया। सम्राट के कुछ सामन्त, विशेषकर शिया लोग, अन्य मुसलमान नरेशों के साथ युद्ध करने के विरोध में थे। गोलकुण्डा दुर्ग जो तोपों और गोला बारूद से काफी सुसज्जित था, की दीवारों से गोले बारूद की निरन्तर वर्षा होने के बावजूद भी, सम्राट ने सामन्तों की बातों पर ध्यान न देकर दुर्ग पर शक्तिशाली घेरा डाल दिया। परन्तु निरन्तर वर्षा होने और रसद की कमी होने के कारण शाही सेना के कार्य में बड़ी भारी बाधा आ पड़ी। दुर्ग की सेना ने मुग़लों की कठिनाइयों से लाभ उठाकर १५ जून की रात्रि को, मुग़लों के तोपख़ाने के अग्रभाग पर सहसा आक्रमण कर दिया और शाही तोपख़ाने के प्रधान ग़ैरत खाँ तथा १३ अन्य उच्च अधिकारियों को बंदी बना लिया। २६ जून को मुग़ल सेना ने अपने तोपख़ाने पर

पुन: अधिकार कर लिया। औरंगज़ेब ने दुर्ग के कोनों के बुर्जों के नीचे तीन सुरंगें खोद कर उनमें बारूद भर देने की आज्ञा दी। पहिली सुरंग में ३० जून को आग लगाई गई, परन्तु इसका ग़लत रुख हो जाने के कारण १,१०० शाही सैनिक मारे गए। इस बार दुर्ग की सेना ने बाहर निकल कर मुग़लों की खंदकों और चौकियों पर अधिकार कर लिया। परन्तु बाद में उन्हें परास्त करके पुन: दुर्ग में खदेड़ दिया गया। दूसरी सुरंग में आग लगाने पर भी पहिले जैसा भयानक परिणाम निकला। दुर्ग की सेना ने पुन: किले से निकल कर आक्रमण किया। इसके पश्चात् युद्ध हुआ जिसमें मुग़लों को बहुत भारी हानि पहुँची और पानी की बाढ़ आ जाने के कारण शाही सेना को लौटना पड़ा। इस प्रकार मुग़ल सेना दुर्ग पर अधिकार न कर सकी और घेरा चलता रहा। बार बार असफल होने, वर्षा तथा अकाल के कारण शाही सेना का नैतिक चरित्र अत्यन्त नीचा हो गया। भुखमरी के कारण सहस्रों शाही सैनिक मर गए। उधर गोलकुन्डा के सैनिक भी उन्हें चैन नहीं लेने देते थे। परन्तु औरंगज़ेब भयानक दृढ़ निश्चय के साथ, जो उसके चरित्र का अंग था, दुर्ग पर घेरा डाले रहा। उसने गोलकुन्डा का मुग़ल साम्राज्य में संयुक्त होने का एक घोषणा पत्र प्रकाशित किया और वहाँ के लोगों से माँग की कि वे अपने भूतपूर्व नरेश को जो दुर्ग में घिरा हुआ था, किसी प्रकार की सहायता न दें।

जब सम्राट को खुली लड़ाई में कोई विशेष सफलता नहीं मिली तो उसने सुल्तान के एक अफ़गान नौकर अब्दुल्ला पनी को घूस देकर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। अब्दुल पनी ने अपने मालिक के साथ विश्वासघात करके २ अक्टूबर सन् १६८७ को प्रात: काल ३ बजे दुर्ग का चोर दरवाजा खोल दिया। उसने मुख्य द्वार भी खोल दिया जिससे रुह उल्लाखाँ ने दुर्ग में प्रवेश किया। दुर्ग में प्रवेश करने वाली मुग़ल सेना के भाग का मुकाबला केवल गोलकुण्डा के सरदार अब्दुर रज़्ज़ाक लारी ने किया। परन्तु शीघ्र ही उसे दबाकर लगभग कुचल दिया गया। उसके शरीर पर ७० घाव लगे थे। रुह उल्लाखाँ ने सुल्तान अबुल हसन के महल में प्रवेश किया। सुल्तान शान्तिपूर्वक अपने भाग्य का सामना करने के लिए तैयार हो गया। जलपान करके और अपने परिवार के सदस्यों को ढाढ़स बँधा कर उसने अपने महल से प्रस्थान किया। शाहज़ादा आज़म ने सुल्तान का औरंगज़ेब से परिचय कराया। सम्राट ने सुल्तान को ब्राह्मणों को प्रोत्साहित करने, तथा हब्शियों को निरुत्साहित करके उनके धर्म और जाति का अपमान करने का कसूरवार ठहराया। इस कारण उसने सुल्तान को यह दंड देना उचित ठहराया था। उसे बंदी बनाकर गोलकुण्डा के दुर्ग में भेज दिया गया और उसे ५०,००० रुपये प्रतिवर्ष अलाउन्स देने की

अनुमति दी। सम्राट को गोलकुण्डा से बहुमूल्य वस्तुएँ, हीरे जवाहरात, आभूषण, सोना, चाँदी, बर्तन तथा सोने चांदी के बने हुए फर्नीचर के अलावा ७ करोड़ रुपये नक़द प्राप्त हुए। उसने बीजापुर और गोलकुण्डा के सम्पूर्ण प्रदेश और दुर्गों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठाए। उसने सागर, अदोनी, कारनूल, रायचुर, सेरा, बैंगलोर, बाँकापुर, बेलगॉम, वन्डीवाश तथा कोन्जेवीराम पर अधिकार कर लिया।

मरहठों का स्वतन्त्रता युद्ध, १६८६—१७०७

जैसा कि पहिले भी लिखा जा चुका है, बीजापुर और गोलकुण्डा के परास्त होने के बाद औरंगज़ेब ने मराठा नरेश शम्भूजी के विरुद्ध अपनी चेष्टाओं को द्विगुणित कर दिया, और उसे बंदी बनाकर मार्च १६८६ ई० में मृत्यु दंड दिया। मराठों की राजधानी रायगढ़ भी शीघ्र ही पराजित हुई। नवीन मराठा नरेश राजाराम, जो स्वर्गीय शम्भूजी का छोटा भाई था, साधु का वेश बनाकर १५ अप्रेल को बचकर भाग निकला और ११ नवम्बर को जिन्जी के दुर्ग में पहुँच गया। रायगढ़ २६ अक्टूबर को पराजित हुआ और शम्भूजी के परिवार के सदस्य, उसके पुत्र सात वर्षीय शाहू सहित, बंदी बना लिये गए। अब (१६८६ के अंत में) औरंगज़ेब दक्षिण भारत सहित समस्त भारत का सम्राट था, परन्तु उसकी विजय अल्पजीवी थी। कुछ ही वर्षों बाद मराठों ने न केवल उसके प्रभुत्व को ललकारा, वरन् उसके प्रदेश और शिविर पर असंख्यों हमले करके उसकी स्थिति खतरनाक कर दी। जिन्जी के दुर्ग में राजाराम को घेरने के लिए सम्राट ने एक सेना भेजी। परन्तु १८ जनवरी सन् १६६८ ई० से पहिले उस दुर्ग पर मुग़लों का अधिकार नहीं हो सका। राजाराम को आक्रमण की चेतावनी समय पर मिल गई थी, इससे वह बचकर वैलोर भाग गया। शम्भूजी के मृत्योपरान्त सम्राट ने मराठा शक्ति को विचार विन्दु बनाया। सन् १६६० और १६६१ में वह बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों पर अधिकार प्राप्त करने में लगा रहा। परन्तु शीघ्र ही, जब उसे जन विद्रोह का सामना करना पड़ा, तो उसे स्थिति की वास्तविकता का ज्ञान हुआ। मराठा नरेश की मृत्यु के पश्चात् रामचन्द्र बावदेकर, शंकरजी मल्हार, परशुराम त्रिम्बक, और प्रह्लाद नीराजी जैसे मराठा नेताओं ने मुग़लों के विरुद्ध अनेक रण स्थानों पर योग्य और साहसी सेना नायकों के नेतृत्व में विस्तृत युद्ध करने की योजना बनाई। रामचन्द्र बावदेकर महाराष्ट्र के सभी सरदारों और सेनानायकों के ऊपर, पूर्ण अधिकारों सहित, डिक्टेटर हो गया। उसने मुग़लों के विरुद्ध युद्ध संचालन के लिए धानाजी जादव और शान्ताजी घोरपदे नामक दो योग्य नायकों को नियुक्त किया। ये दोनों सेना नायक समस्त दक्षिण प्रायद्वीप में एक रणस्थल से दूसरे रणस्थल में आते जाते रहते थे, और गोरिल्ला युद्ध द्वारा इन लोगों ने शाही सेना को भारी

हानि पहुँचाई और मुग़लों में अत्यन्त घबराहट फैला दी। सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं, "मराठों में नरेश तथा केन्द्रीय सरकार के न रहने के कारण औरंगज़ेब की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गईं क्योंकि अब प्रत्येक तुच्छ मराठा कप्तान भी अपने अपने क्षेत्र में मुग़ल प्रदेशों पर आक्रमण करके उन्हें लूटता था। मराठा लोग अब केवल लुटेरे या स्थानीय विद्रोहियों की जाति मात्र नहीं रह गए थे, परन्तु अब दक्षिणी राजनीति में उनका बड़ा भारी हाथ था। ये लोग सम्पूर्ण भारतीय प्रायद्वीप में प्रोत्साहित, हवा जैसे परिहारी थे जो दिल्ली साम्राज्य के शत्रुओं के मित्र और ठट्ठा करने वाले थे।" मराठे समस्त दक्षिण में तथा मालवा, गोंडवाना और बुन्देलखंड तक में, जन शांति तथा प्रशासन को भंग करते रहते थे। हर स्थान पर तो शाही सेना अधिक संख्या में नहीं रखी जा सकती थी। इस कारण कुछ स्थानों पर मुग़लों को मुँह की खानी पड़ी।

शम्भूजी की मृत्यु के पश्चात्, जब मुग़लों ने मराठों की राजधानी पर घेरा डाला तो नवीन मराठा नरेश राजाराम जिन्जी भाग गया। इस केवल एक वर्ष के अल्प काल में मराठे चैतन्यरहित हो गए। परन्तु सम्राट को पराजित गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यों के प्रदेशों पर अधिकार करने में व्यस्त देखकर, उन लोगों ने अपने को आघात से सम्हाला। उन्होंने मुग़लों के विरुद्ध दो रणस्थलों पर महाराष्ट्र और कर्नाटक के मोर्चे संगठित किये। खास महाराष्ट्र का मोर्चा रामचन्द्र बावदेकर के नेतृत्व में था, जिसे डिक्टेटर के पूरे अधिकार दे दिये गए थे। दूसरा पूर्वी मोर्चा कर्नाटक का था, जो प्रह्लाद नीराजी के नेतृत्व में था। इसे भी डिक्टेटर के अधिकार प्राप्त थे। युद्ध सम्बन्धी कार्य तो धानाजी जादव और शान्ताजी घोरपदे के हाथ में था, जो "प्रायः युद्ध के एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे तक आते जाते रहते थे, और राह में मुग़ल प्रदेशों को भारी हानि पहुँचाते और उनमें अव्यवस्था फैला देते थे।"

सत्तरहवीं शताब्दी के मध्य में मुसलमानों ने पूर्वी कर्नाटक को विजित किया था। अब उसके दो भाग कर दिये गए, जो हैदराबादी और बीजापुरी प्रदेश कहलाते थे। सन् १६७७ ई० में शिवाजी ने जिन्जी और उसके अड़ौस पड़ौस के प्रदेशों पर विजित प्राप्त की थी। इस प्रकार अब कर्नाटक तीन स्वतंत्र भागों में विभक्त हो गया। शिवाजी का दामाद हीराजी कर्नाटक के मराठा प्रदेश का अधिकारी नियुक्त किया गया था। उसने पालार नदी के उत्तरी भाग के हैदराबादी कर्नाटक का अधिकतर भाग विजित कर लिया था। सितम्बर सन् १६८६ ई० में हीराजी के मृत्योपरान्त राजाराम ने जिन्जी प्रदेश पर अधिकार कर लिया। सन् १६६० ई० में सितम्बर के मध्य में जुल्फ़िक़ार ख़ाँ ने राजाराम को जिन्जी में घेर लिया। जिन्जी का दुर्ग लगभग अजेय समझा जाता था। दुर्ग का घेरा १८ जनवरी सन् १६६८ ई० तक पड़ा रहा। इसी दिन दुर्ग पर आक्रमण किया गया। राजाराम भागकर विशालगढ़ जा

पहुँचा। इस बीच में मुग़लों और मराठों, दोनों को भारी हानि उठानी पड़ी। परन्तु मराठों की अपेक्षा मुग़लों को अधिक क्षति पहुँची। विवश होकर ज़ुलफ़िक़ार ख़ाँ को एक से अधिक बार घेरा उठाना भी पड़ा था। अन्त में उसने राजाराम के साथ गुप्त संधि कर ली। जिन्जी की पराजय के पश्चात् युद्ध पूर्वी से पश्चिमी मोर्चे पर अर्थात् महाराष्ट्र वृत्त-खंड में होने लगा।

महाराष्ट्र प्रदेश में युद्ध ढीला-ढाला चलता रहा। मराठों ने ४ जून सन् १६६० ई० को शरज़ा खाँ पर विजय प्राप्त की और उसे उसके पूरे परिवार और सम्पूर्ण शिविर सहित सतारा के निकट बंदी बना लिया। इस युद्ध में शरज़ा खाँ के १,५०० सैनिक काम आए। यह मराठों की पहली सफलता थी। मराठों ने प्रतापगढ़, रोहिरा, रायगढ़ और तोरन पर शीघ्र ही पुनः अधिकार कर लिया। सन् १६६२ ई० में उन्होंने पनहाला पर भी पुनः अधिकार कर लिया। शान्ताजी और धानाजी घबराई हुई मुग़ल सेना पर आक्रमण करके उन्हें तंग करते रहते थे। शान्ताजी तो शाही प्रदेश मालखेद से चौथ वसूल करने में भी सफल हो गया। औरंगज़ेब ने क़ासिम ख़ाँ को शान्ताजी को आगे बढ़ने से रोकने के लिए भेजा। परन्तु शान्ताजी ने तेज़ चलकर मुग़ल सेनाध्यक्ष क़ासिम ख़ाँ पर सहसा आक्रमण करके उसे करारी हार दी और उसके शिविर को लूट लिया। क़ासिम ख़ाँ ने आत्म-हत्या कर ली और क़ासिम ख़ाँ की बची हुई सेना ने शान्ताजी को अपनी मुक्ति के लिये २० लाख रुपये देने का वादा किया। जनवरी सन् १६६६ ई० में शान्ताजी ने हिम्मत खाँ नामक एक अन्य मुग़ल सेनाध्यक्ष को हराकर उसका काम तमाम कर दिया और उसका सामान लूट लिया। शान्ताजी घोरपदे और धानाजी जादव दोनों योद्धा प्रधान सेनापति के पद प्राप्त करना चाहते थे। इस कारण इन दोनों में झगड़ा हो गया, जिसका अन्त एक युद्ध के रूप में हुआ। इस युद्ध में शान्ताजी मारा गया। शान्ताजी असाधारण योग्यता और टक्कर का सेनाध्यक्ष होने के साथ-साथ तेज़ मिज़ाज और अनाज्ञापालक सरदार था। राजाराम उससे बहुत अप्रसन्न था। मराठों में इस गृह-युद्ध के कारण मुग़लों को अस्थाई तौर पर लगभग एक वर्ष के लिए तनिक विश्राम मिल गया। सन् १६६७ तथा १६६८ ई० तक युद्ध चलता रहा। राजाराम जो भाग कर विशाल गढ़ चला गया था, परेंदा के निकट बन्दी होते होते बच गया। १२ मार्च सन् १७०० ई० को सिंहगढ़ में राजा-राम का देहावसान हो गया। राजसिंहासन प्राप्त करने के लिये शिवाजी तृतीय और शम्भूजी द्वितीय में छोटी सी लड़ाई हुई। अपनी माता ताराबाई की योग्यता और प्रभाव के कारण शिवाजी तृतीय को महाराष्ट्र का राजा बना दिया गया। मराठों में पद प्राप्त करने के लिये इस कलह के बावजूद मुग़ल सेना महाराष्ट्र तक में कोई

महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने में असफल रही। मुग़लों ने उत्तरी कोनकन में कल्यान तथा अन्य कुछ स्थानों पर अधिकार कर लिया। अन्त में औरंगज़ेब समझ गया कि मराठों की शक्ति को नष्ट करना असम्भव है। इस कारण मई सन् १६६५ ई० में उसने शाहज़ादे शाह आलम को पंजाब, सिंध, अफ़ग़ानिस्तान का गवर्नर बनाकर भेजा (का भार सौंपा)। बाद में सम्राट ने शाहज़ादे को उत्तरी भारत के कार्य की देख भाल करने को कहा। मराठों के साथ युद्ध जारी रखने के लिए स्वयं सम्राट ने ब्रह्मपुरी में महाराष्ट्र के मध्य में अपना शिविर लगाया परन्तु वह इसमें असफल रहा। मराठों की लगातार गुरिल्ला युद्ध-प्रणाली के कारण विवश होकर सम्राट को महाराष्ट्र और कनारा में अपनी रक्षा करनी पड़ी। शाही सरदार अब बहुत थक और भयभीत हो गए थे। उनमें से अनेक सरदारों ने मराठों के साथ गुप्त सम्बन्ध स्थापित कर रखा था और मुग़ल प्रदेश में प्राप्त लूट के माल का मराठों के साथ बँटवारा करते थे। इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है कि "मुग़ल प्रशासन का वास्तव में नाश हो चुका था, परन्तु सम्राट की उपस्थिति के कारण भ्रमात्मक ढंग से प्रशासन की गाड़ी खिंच रही थी।" इन परिस्थितियों में भी औरंगज़ेब ने स्वयं मराठा दुर्गों पर घेरा डालने की भ्रमात्मक (मायावाली) नीति का अनुसरण किया। परन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिली क्योंकि जब वह एक दुर्ग को विजय करता तो दूसरा उसके अधिकार से निकल जाता था। यह क्रम उसके जीवन भर चलता रहा। सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है "उसका शेष जीवन उसी पीड़ित कहानी का दुहरावमात्र है। अधिक पैसा, समय और काफी सैनिकों को खो कर सम्राट द्वारा अधिकृत पहाड़ी दुर्गों पर, मराठे सैनिक दुर्बल मुग़ल दुर्ग सेना पर आक्रमण करके कुछ महीनों बाद पुनः अधिकार कर लेते थे। साल या दो साल बाद सम्राट उस दुर्ग पर पुनः घेरा डाल देता था। बाढ़ आई हुई नदियों, कीचड़ से भरी सड़कों और टूटे-फूटे पहाड़ी रास्तों को पार करने में सम्राट के सैनिकों और शिविर के कर्मचारियों को अकथ कठिनाई का सामना करना पड़ा। मज़दूर भाग गए तथा सामान ढोने वाले पशु अधिक परिश्रम और भूख के कारण मर गये। मुग़लों को अन्न की तो सदा कमी रही थी ही, इसके साथ-साथ उन्हें मराठा और बेरद 'चोर' (जैसा वह कहा करता था) से भी सदा भय बना रहता था। उसके सेना नायकों में आपस की जलन के कारण उसके उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। पाँच कम प्रसिद्ध दुर्गों तथा सतारा, पारली, पनहाला, खेलना (विशालगढ़), कोंधना (सिंहगढ़) रायगढ़, तोरन और बाजिन्गेरा के आठ दुर्गों के युद्धों में सम्राट साढ़े पाँच साल (१६६६–१७०५) तक लगा रहा। इसके बाद ८८ साल का बूढ़ा जर्जर शरीर सम्राट सदा के लिए चैन की नींद सो गया।"

लगातार कठिन परिश्रम के कारण औरंगज़ेब का स्वास्थ्य गिर गया और आजिन्गेरा दुर्ग पर विजय प्राप्त करने के बाद वह सख्त बीमार पड़ गया। इससे उसकी सेना में बड़ी खलबली मच गई क्योंकि वे सोचने लगे कि न जाने शत्रु के देश में उनके भाग्य का क्या निर्णय होगा किन्तु सम्राट स्वस्थ हो गया और उसने धीरे-धीरे अहमदनगर के लिए यात्रा आरम्भ कर दी और ३१ जनवरी सन् १७०६ ई० को अहमदनगर पहुँच गया। उसने २५ वर्ष तक दक्खिन में लड़ाई जारी रक्खी थी जिससे दक्षिण-भारत की दशा बहुत बुरी हो गई थी। उसने दक्षिण में जो नीति अपनाई वह बिल्कुल असफल रही और उसकी इस नीति से मराठे और भी निर्भीक हो गए। जब औरंगज़ेब अहमदनगर की यात्रा कर रहा था तब मराठा सैनिकों ने उसका पीछा किया। उन्होंने उसकी रसद और युद्ध सामग्री रोक दी। उन्होंने उसके संरक्षकों पर हमला करके उसके शिविर पर हमला करने की भी धमकी दी। "जब मुग़ल सेना ने उन पर हमला किया तब वे कुछ पीछे हट कर तितर-बितर हो गए किन्तु हमलावर ज्योंही अपनी मुख्य सेना मे जा मिले त्योंही मराठे एक जगह इस तरह संगठित हो गए जैसे कि पतवार से अलग किया हुआ पानी फिर मिल जाता है।" मराठे केवल लूट-पाट करने वाले घुड़सवार ही नहीं थे बल्कि युद्ध की सभी सामग्री से सुसज्जित थे। उनके पास तोपख़ाना और नियमित सेना की सभी सामग्री थी। जब सम्राट अहमदनगर पहुंचा तब मराठों ने उसके शिविर का घेरा डाल दिया और मई १७०६ में वे घनघोर युद्ध के बाद ही वहाँ से खदेड़े जा सके। इस समय वे आस-पास के मुग़ल प्रान्तों जैसे गुजरात, ख़ानदेश और मालवा तक में घुस कर हमला करने लगे। धानाजी जादव ने बरार और ख़ानदेश पर हमला किया। मराठों ने एक शाही रक्षक सेना को रास्ते में लूट लिया जो औरंगाबाद से अहमदनगर जा रही थी। इन कठिनाइयों और विपत्तियों में फँसा हुआ औरंगज़ेब ३ मार्च १७०७ को स्वर्ग सिधार गया। वह दौलताबाद से चार मील पश्चिम शेखज़ैन-उलहक़ के मज़ार के पास दफ़ना दिया गया।

औरंगज़ेब की दक्खिन की नीति बिल्कुल असफल रही। मराठों के कुचलने के बजाय इस नीति ने उन्हें एक राष्ट्र के रूप में संगठित होकर सम्राट पर हमला करने के लिए बाध्य कर दिया। औरंगज़ेब को अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अपने साम्राज्य एवं वंश की बड़ी चिन्ता थी। अतः उसका यह काल बड़ा ही चिन्ताग्रस्त रहा। यद्यपि औरंगज़ेब अत्यन्त इच्छुक था कि साम्राज्य के प्रश्न को लेकर उसके पुत्रों में कोई लड़ाई न हो किन्तु शाहज़ादा आज़म ने अपने भाई कामबख्श का खात्मा करके स्वयं राजगद्दी हथियाने के लिए एक षड़यन्त्र रच लिया। औरंगज़ेब ने अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही उसे मालवा का राज्यपाल नियुक्त किया था किन्तु वह

अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुन कर मार्ग से ही लौट आया और अपने भाइयों के साथ युद्ध करने की तैयारी में लग गया। शाह आलम और कामबख़्श स्वयं सिंहासन लेना चाहते थे। इसका आदर्श स्वयं औरंगज़ेब ने उनके सामने रख दिया था।

शासन-व्यवस्था

औरंगज़ेब की शासन-व्यवस्था एक अनियन्त्रित राज्य की तरह बहुत अधिक केन्द्रित थी। राज्य के सारे अधिकार सम्राट ने अपने हाथ में ले रखे थे और वह फ्रांस के चौदहवें लुइस के समान प्रधान मन्त्री भी स्वयं ही था। अत्यन्त कठिन परिश्रमी होने के कारण वह शासन व्यवस्था के सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यौरे को स्वयं देखता था और आये हुए प्रार्थना पत्रों को स्वयं पढ़ कर या तो स्वयं हुक्म लिख देता था या स्वयं बोलकर दूसरों से लिखा देता था। उसके सभी अधिकारी और मन्त्री उसके कठिन नियन्त्रण में रहते थे। उनको शासन-व्यवस्था की नीति में दखल देने का कोई अधिकार नहीं था। औरगज़ेब को यह असह्य था कि उसके राज्य की शासन व्यवस्था में उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी हो। वह राजा के विशेष अधिकार रखने का अत्यन्त इच्छुक था और चाहता था कि उसकी आज्ञाओं का पालन अक्षरशः किया जाय। उसे एक बार जब यह सूचना दी गई कि बंगाल के राज्यपाल इब्राहीमखाँ ने काज़ी के साथ स्वयं कोच पर बैठकर और दूसरे अफसरों को बड़ी विनीतता से फर्श पर बिठाकर अपना दरबार लगाया था तब औरगज़ेब ने अपने वजीर से इब्राहीमखाँ को लिखवाया था कि "यदि वह किसी बीमारी के कारण जमीन पर बैठने में असमर्थ है तो वह स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करने तक कोच पर बैठ सकता है। उसे चाहिये कि वह अपने डाक्टरों पर शीघ्र नीरोग करने का दबाव डाले।" एक बार जब शाहज़ादा मुअज़्ज़म ने कनात लगा कर उसके अन्दर नमाज पढ़ी थी तब भी औरंगज़ेब ने उसे बहुत फटकारा था क्योंकि इस प्रकार नमाज पढ़ना केवल राजा का ही विशेषाधिकार था। वह कहा करता था "यदि एकतंत्र शासन की अवहेलना की जायगी तब राज्य के सारे नियम भंग हो जायँगे।" एक तो औरंगज़ेब ने शासन व्यवस्था को अपने ही हाथों में केन्द्रित कर रखा था दूसरे कर्तव्य के सम्बन्ध में उसके बहुत ही संकीर्ण विचार थे, अतः उसके मन्त्री केवल क्लर्क जैसे ही रह गये थे क्योंकि उसने किसी भी काम के कदम उठाने की या उत्तरदयित्वपूर्ण कार्यों को निर्भीकतापूर्वक करने की शक्ति उनमें नहीं छोड़ी थी। ऐसा करने का परिणाम यह हुआ कि सारी शासन-व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट होगई और उसकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गई। यह पहले ही बताया जा चुका है कि सम्राट इस्लामी राज्य के सिद्धान्त में दृढ़ता-पूर्वक विश्वास रखता था। इसी कारण वह शरियत की हर एक बात को मानता था चाहे फिर वह राजनैतिक हो, शासन-व्यवस्था सम्बन्धी हो और चाहे आर्थिक हो। वह शरियत के नियमों पर चलकर भारत को मुसलमान देश बनाने का पूर्ण प्रयत्न

करता था। यद्यपि औरंगज़ेब की शासन-व्यवस्था का बाहरी ढाँचा उसके पूर्वाधिकारियों के ही समान था किन्तु तो भी कार्य प्रणाली में महान अन्तर हो गया था।

सन् १७०७ में औरंगज़ेब की मृत्यु के समय मुग़ल साम्राज्य में इक्कीस प्रान्त थे और उनमें से चौदह उत्तरी-भारत में थे। एक भारत के बाहर अफ़ग़ानिस्तान में था और शेष छै भारत के दक्षिण में थे। इन प्रान्तों के नाम इस प्रकार थे—आगरा, अजमेर, इलाहाबाद, अवध, बंगाल, बिहार, दिल्ली, गुजरात, काश्मीर, लाहौर, मालवा, मुल्तान, उड़ीसा, थट्टा (सिन्ध), काबुल, औरंगाबाद, बरार, बीदर (तैलंग), बीजापुर, हैदराबाद और खानदेश। साम्राज्य तंजोर के उत्तर में हिन्दूकुश से लेकर कोकरूम नदी तक विस्तृत था। किन्तु महाराष्ट्र, कैनारा, मैसूर और पूर्वी कर्नाटक में मुग़लों का अधिकार नहीं माना जाता था। अकबर के समय में प्रत्येक प्रान्त में एक राज्य-पाल, एक दीवान और अनेक दूसरे अफसर रहते थे जिनकी नियुक्ति सम्राट करता था और वे उसके प्रति उत्तरदायी रहते थे। औरंगज़ेब यद्यपि कठोर और योग्य शासक था तो भी प्रान्तीय शासन व्यवस्था अत्यन्त अस्त-व्यस्त थी क्योंकि वह पच्चीस वर्ष से अधिक उत्तरी भारत से अनुपस्थित रहा और दक्षिण में निरन्तर लड़ाई लड़ता रहा। अनेक प्रान्तों के स्थानीय सरदार और जमींदार कानून और आज्ञाओं की अवहेलना करते थे और इसका परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार कमज़ोर पड़ गई। इस कमज़ोरी का कारण यह था कि औरंगज़ेब एक तो सदा लड़ाई में लगा रहता था और दूसरे उसने मूर्खतापूर्ण असहिष्णु नीति को अपना रखा था।

इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार के अनुमानानुसार साम्राज्य के लगान की आमदनी तेंतीस करोड़ पच्चासी लाख रुपये थी। भूमिकर के अतिरिक्त सरकार की आय के मुख्य साधन ज़कात कर जो मुसलमानों से ही वसूल किया जाता था, दूसरा जिजिया कर था जो हिन्दुओं पर लगाया जाता था। इसके अतिरिक्त नमक कर, चुंगी, खान और युद्ध में लूटी गई सम्पत्ति पर भी कर था। औरंगज़ेब इस्लामी-राज्य के कर सिद्धान्त में विश्वास रखता था अत: उसने ग़ैर मुसलमानी करों को हटा कर हिन्दुओं पर यात्रा कर और जिजिया कर लगा दिये थे जिससे कि अनेक ग़ैर कानूनी कर और अबवाबों के उठा लेने से आय की कमी पूरी हो जाय। कर लगाने और उसके उगाने का जो तरीका अकबर ने टोडरमल की रैयतवाड़ी प्रथा के अनुसार लगा रखा था। औरंगज़ेब ने उसे बन्द कर दिया और उसकी जगह ठेकेदारी प्रथा जारी कर दी अर्थात् उसने ठेकेदारों को किसानों से भूमि-कर वसूली की आज्ञा दे दी। इससे पहले सरकार की देख-रेख में सरकारी अफसर लगान वसूल किया करते थे

किन्तु औरंगज़ेब ने इस प्रथा को बन्द कर दिया। इस परिवर्तन के कारण लाखों किसानों की दशा अकबर और जहाँगीर के शासन की अपेक्षा और बिगड़ गई।

मुग़ल साम्राज्य काल में विदेशी व्यापार कोई अपना महत्त्व नहीं रखता था। भारत से नील और सूती वस्तुएँ विदेश को जाती थीं। खेती के बाद सूती उद्योग ही ऐसा था जो बहुत अधिक संख्या में लोगों को काम देता था। विदेशों से देश में जो वस्तुएँ आती थीं उनमें काँच के बर्तन, ताँबा, शीशा और ऊनी कपड़े थे। फारस से घोड़े आते थे और डच इन्डीज़ से मसाले आते थे। शराब तथा अद्भुत वस्तुएँ यूरोप से आती थीं। दास अबीसीनिया से आते थे और अच्छी किस्म के तम्बाकू अमरीका से आते थे। किन्तु व्यापार की मात्रा बहुत कम थी और सरकार को आयात-कर तीस लाख वार्षिक से अधिक नहीं मिलता था।

औरंगज़ेब के समय में मुग़ल सेना बहुत बढ़ गई थी। वह अपने सारे जीवन में युद्ध में फँसा रहा था। अतः यह स्वाभाविक था कि उसे अपने पूर्वाधिकारियों की अपेक्षा अधिक सेना की आवश्यकता रहती। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार पूरी सेना का योग इस प्रकार था—दो लाख घुड़सवार, आठ हजार मनसबदार, सात हज़ार अहदी और बरकन्दाज़ेव, एक लाख पचासी हजार सैनिक-टुकड़ियाँ शाहजादे, सरदार और मनसबदारों की अधीनता में थीं। इसके अतिरिक्त तोप और बन्दूकों से सजे हुए चालीस हज़ार पैदल थे। यह संख्या औरंगज़ेब के बाद के शासन काल में दक्षिणी लड़ाइयों के कारण और भी बढ़ गई थी। शाहजहाँ के शासन-काल में सेना का व्यय दूना हो गया था। यद्यपि सम्राट कड़ी निगरानी रखता था और वह एक योग्य सेनापति था और उसका संगठन और अनुशासन भी बड़ा कड़ा था तो भी मुग़ल सेना अकबर के शासन-काल की अपेक्षा बहुत अधिक निकम्मी थी। मुग़ल सेना के चरित्र का भी पतन हो गया था।

व्यक्तित्व और चरित्र

अभी हाल के कुछ वर्षों में औरंगज़ेब के व्यक्तित्व, चरित्र और सफलताओं के विषय में बड़ा वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है। लेखकों के एक पक्ष ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि औरंगज़ेब में धार्मिक कट्टरता नहीं थी क्योंकि उसने कुछ हिन्दू मन्दिर और मठाधीशों के नाम जागीरें लगा रखी थीं और यदि उसने हिन्दू मन्दिरों के गिराने की आज्ञा दी भी थी तो युद्धकाल में ही दी थी। उसने उन्हीं मन्दिरों पर अधिकार किया था जिन्हें हिन्दुओं ने बलपूर्वक छीन कर मस्जिद से मन्दिर बना दिया था। इतिहास के कुछ शिक्षक तो और भी आगे बढ़ जाते हैं। वे कक्षा के शान्त और सुरक्षित वातावरण में अपने छात्रों को पढ़ाते हैं कि औरंगज़ेब

महान् देश-भक्त भारतीय था और उसने सारे देश में राजनैतिक एकता स्थापित करने का घोर परिश्रम किया था, किंतु इन बे सिर-पैर की बातों में न कोई तर्क है और न तथ्य। इन बातों में ऐसा सफ़ेद झूठ है कि उनका खण्डन करना व्यर्थ है। यह तो हमको स्वतः स्वीकार कर लेना चाहिए कि औरंगज़ेब ने कुछ मठाधीशों और उनके मन्दिरों के नाम कुछ जागीर लगाई थी किन्तु यह जागीरें पहले सम्राटों ने दी थीं और औरंगज़ेब ने उनकी पुष्टि कर दी थी और यदि उसने जागीरें दी भी थीं तो उन्हीं को दी थीं जो उसके काम मे आये थे या जो उसकी कूटनीतिक चाल में सहायक हुए थे। इसके अतिरिक्त एक बात और यह है कि यदि औरंगज़ेब ने एक हिन्दू मठाधीश को जागीर दी थी तो हजारों मन्दिरों को ढा दिया था और हजारों मठाधीशों की जीविका का अपहरण कर लिया था। यदि अँग्रेजों ने हमारे स्वातंत्र्य-संग्राम-काल में कुछ भारतीयों का संरक्षण कर उन पर कुछ कृपा की थी तो क्या इसका अभिप्राय यह है कि वे सचाई के साथ देश का हित करने के इच्छुक थे। इसके विपरीत क्या इसका ठीक अभिप्राय यह नहीं होगा कि उन्होंने अपनी साम्राज्यशाही की जड़ों को मजबूत करने के लिये ऐसा करके उन्हें अपना साधन बनाया था। यह सच है कि औरंगज़ेब ने उन देशों के भागों को जीतने का प्रयत्न किया था जो अब तक मुग़ल साम्राज्य में सम्मिलित नहीं थे। किन्तु इन सारे राजनैतिक प्रयत्नों का अभिप्राय देश को इस्लामी देश बनाना था। ऐसी कल्पना तो वे ही लोग कर सकते हैं जिनका दिमाग फिर गया है कि औरंगज़ेब भारत की एकता चाहता था। औरंगज़ेब ने केवल युद्ध काल में ही मंदिर गिराये थे यह भी एक कपोल-कल्पना ही है क्योंकि समकालीन लेखकों ने ऐसा कहीं भी नहीं लिखा है। कोई भी व्यक्ति यह आसानी से समझ सकता है कि आधुनिक मुसलमान लेखकों का अपने आदर्श वीरों के चरित्र को बढ़ा-चढ़ा कर लिखने का प्रयत्न रहा है। जिन लोगों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये बड़े-बड़े काम किये हैं उनके सम्बन्ध में यह विश्वास दिलाने का उद्योग किया है कि इस्लाम धर्म शान्ति का धर्म है और बल-पूर्वक मुसलमान बनाने की आज्ञा नहीं देता है और इसके नाम पर बहुत कम अत्याचार हुए हैं। उन कुछ आधुनिक हिन्दू विद्वानों का प्रयत्न भी प्रशंसनीय है जिन्होंने अपने धर्म और संस्कृति पर हुए बड़े आघात को सहकर भारत में साम्प्रदायिक एकता और शान्ति बनाये रखने के लिये तथ्यों की ओर से आँख मींच ली हैं। किन्तु प्रश्न यह होता है कि क्या वे इतिहास को झूठा बना कर भी अपने प्रशंसनीय उद्देश्य में सफल हो सके हैं? समकालीन लेख, जिनमें औरंगज़ेब के पत्र भी शामिल हैं, उपरोक्त लेखकों के विचारों की पुष्टि नहीं करते और उनके विचारों के विपरीत ही बात सिद्ध करते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण तर्क से अधिक पुष्ट होता है।

औरंगज़ेब का व्यक्तित्व और चरित्र का सच्चा चित्र सर यदुनाथ सरकार की 'औरंगज़ेब का इतिहास' की पाँच जिल्दों में दिया गया है जो एक प्रामाणिक ग्रन्थ है और जिसका खण्डन करना असम्भव है। यदि इस सम्बन्ध में कोई नई सामग्री प्राप्त भी हो जाय तो भी इस मुग़ल शासक के सम्बन्ध में उनका कथन प्रामाणिक ही रहेगा।

औरंगज़ेब का निजी जीवन एक आदर्श जीवन था। वह अत्यधिक परिश्रमी और संयमी था और अपने आचार विचारों पर कठिन नियन्त्रण रखता था और बिना थके हुए काम करता रहता था। उसका भोजन और वस्त्र बहुत सादा था और उसने कुरान के नियमों के अनुसार चार स्त्रियों से अधिक स्त्रियाँ नहीं रखी थीं। वह दाम्पत्य-प्रेम का आदर करता था और दूसरी स्त्रियों के प्रति उसका कोई आकर्षण नहीं था। वह न तो शराब पीता था और न ही किसी दूसरे व्यसन में फँसा था, जो कि स्वेच्छाचारी राजाओं में सामान्यतः पाये जाते हैं। वह जन्म से ही विद्या-प्रेमी था। वह अरबी और फारसी का अच्छा विद्वान था। तुर्की और हिन्दी धारा-प्रवाह से बोल सकता था। वह पुस्तकों का प्रेमी था और ठोस विद्वान था। उसने आत्म-संयम, आत्म-ज्ञान और आत्म-सम्मान पूर्णरूप से प्राप्त कर रखे थे और वाणी और स्वभाव पर संयम रखता था। वह नम्र और विचारशील व्यक्ति था और अपने धर्म का दृढ़ता से पालन करने वाला था। वह प्रतिदिन पाँचों नमाज पढ़ता था रमज़ान में रोज़े रखता था और कुरान में जो भी धर्म के नियम बताये गये थे उनका दृढ़ता से पालन करता था। यदि उसके व्यक्तिगत जीवन में कुछ दोष था तो वह यह था कि वह महत्वाकांक्षी ज़िद्दी और धार्मिक विचारों में बहुत संकीर्ण था। इन सब कारणों से वह दूसरों को गलत और अपने को ठीक समझता था। इस्लाम धर्म को छोड़कर और सब धर्मों को झूठा मानता था।

यह सब होते हुए भी औरंगज़ेब का सामाजिक जीवन वैसा नहीं था जैसा कि साधारणतः एक अच्छे आदमी का हुआ करता है। उसमें न तो पारिवारिक प्रेम था, न कृतज्ञता ही थी और न वह सुपुत्र ही था। उसने अपने पिता को जेल में डाल दिया और उसकी विनम्र प्रार्थनाओं को ठुकरा दिया था। हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं जिससे हम विश्वास करलें कि वह अपनी माता को याद करता था। वह अच्छा भाई कहलाने के योग्य भी नहीं था। उसने अपने भाइयों तथा अपने सम्बन्धियों से युद्ध किया और उनसे विश्वासघात करके उन्हें मार डाला। वह शक्की पिता था। उसने अपने तीन पुत्रों को जेल में डाल दिया था जिनमें से सबसे बड़ा पुत्र जेल में ही मर गया और दूसरा लगभग आठ वर्ष जेल में सड़ने के बाद छोड़ा गया था। इसी प्रकार उसकी एक पुत्री जैबुन्निसा भी जेल में डाल दी गई थी जो

जेल में ही सड़ कर मर गई थी। यद्यपि उसका वैवाहिक प्रेम सच्चा था तो भी उसने अपनी किसी भी बेग़म को अपना हृदय नहीं दिया था। वह अपने मित्रों के साथ बड़ा उदास और संकोची रहता था। यह बात ठीक है कि वह अपने बड़ों से जब कोई मार्मिक बात जानना चाहता था तो बड़ी नम्रता का व्यवहार करता था। किन्तु साधारणतया राजनीति में उदारता रखना उसके विचारों के विरुद्ध था। अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहो कि वह अपने सभी निकटवर्तियों के सम्बन्ध में सन्देह रखता था और नर अथवा नारी किसी के सम्बन्ध में भी विश्वास रखना उचित नहीं समझता था।

सैनिक और सेनापति के रूप में औरंगज़ेब अपने वंश के अनेक सम्राटों से अच्छा था और इस रूप में बाबर और अकबर से इसकी तुलना की जा सकती है। उसमें शारीरिक बल, सहनशीलता और स्वभाव की सहिष्णुता बहुत अधिक थी और घनघोर युद्ध में भी अपने को जोख़िम में डालने में नहीं हिचकिचाता था। उसने बलख़ के युद्ध में अत्यधिक प्रत्युत्तन्मति और निर्भीकता दिखलाई और युद्ध के समय में भी ज़ुहर की नमाज़ पढ़ने के लिए अपने घोड़े से उतर गया था। वह एक युद्धकुशल सम्राट था और अपने शत्रु की भूल और दुर्बलता का सदा लाभ उठाता था। षड्यन्त्र और राजनैतिक चालाकी से अपने शत्रु को जीतना उसका स्वभाव हो गया था। उसने इसी षड्यन्त्र और चालाकी का प्रयोग सिसोदिया और राठौर राजपूतों के साथ किया था। उसने अपने पुत्र अकबर को एक जाली पत्र लिखकर इन्हें धोखा दिया था जो पत्र अकबर के मित्र राजपूतों के हाथ पड़ गया। वह षड्यन्त्र और राजनीति में बहुत कुशल था और उसकी निश्चय करने की शक्ति असाधारण थी। वह अनुशासन का प्रेमी था और सरकारी कामों को तन मन से करता था। प्रबन्धक के रूप में वह अपनी सरकार के छोटे से छोटे काम को भी बड़े ध्यान से देखता था। एक राजा अपने शरीर से जितना भी काम कर सकता है औरंगज़ेब उससे भी अधिक करता था और कभी विश्राम नहीं करता था।

यद्यपि औरंगज़ेब की बुद्धि तेज़ थी और वह कर्त्तव्य परायण भी था तो भी वह एक सफल शासक नहीं कहलाया जा सकता क्योंकि उसमें राजा का उत्तम गुण नहीं था, अर्थात् वह अपनी सारी प्रजा के हित के लिए उत्सुक नहीं रहता था। कर्त्तव्य के सम्बन्ध में भी उसका विचार बड़ा संकीर्ण था। वह अपने को केवल सुन्नी मुसलमानों का बादशाह समझता था और देश के ग़ैर मुसलमानों को तब तक नीच और घृणित समझता था जब तक कि वे इस्लाम को नहीं अपना लेते थे। एक शब्द में हम कह सकते हैं कि औरंगज़ेब का विचार भारत को इस्लामी राज्य बनाने का था। कर्त्तव्य के

इसी संकीर्ण विचार को लेकर उसने अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए जीवन भर प्रयास किया और इस उद्देश्य को लेकर वह विनाश करता था, निर्माण नहीं करता था, जिसके फल-स्वरूप वह सदा असफल रहा। उसकी राज-कर सम्बन्धी नीति और सामाजिक कानून पक्षपातपूर्ण थे और वह अपनी तीन चौथाई से अधिक प्रजा को सदा कुचलने का विचार रखता था। और इसीलिए उसने उन्हें लकड़हारों और कहारों जैसा बना दिया था। न्याय करते समय भी वह और सब बातों पर ध्यान न देकर केवल अपने धर्म का ही ध्यान देता था। वादी और प्रतिवादियों में से राजा की आज्ञा को मानकर जो इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेता था वही जागीर या राज्य का मालिक हो जाता था, चाहे वह उसका मालिक रहा हो और चाहे न रहा हो। यदि कोई अपराधी अपने पैतृक-धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेता था तो वह छोड़ दिया जाता था। वह बिल्कुल स्वेच्छाचारी था और दूसरों का विश्वास नहीं करता था, अतः उसे शासन व्यवस्था के सूक्ष्म से सूक्ष्म ब्योरों को स्वयं देखना पड़ता था। इन सब कारणों से उसके बड़े-बड़े मन्त्री और बड़े-बड़े अफसर केवल क्लर्क मात्र रह गये थे और उसके लम्बे शासन काल में वे केवल निःसहाय कठपुतली मात्र थे जो किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ नहीं कर सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सारी शासन व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। उसने देश की संस्कृति और स्थापत्य-कला, संगीत और चित्रकला के विकास का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसने विद्या प्रचार का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। वह अपने शासन के अन्तिम २६ वर्षों में राज्य में शान्ति और सुरक्षा स्थापित भी नहीं कर सका। क्योंकि वह दक्षिण की लड़ाइयों में निरन्तर लगा रहता था और उत्तरी-भारत के अनेक भागों में विद्रोह उठ खड़ा हुआ था। सर यदुनाथ सरकार इस विषय में ठीक ही कहते हैं कि ऐसा शासक राजनीतिज्ञ नहीं कहा जा सकता। यदि हम राजा के सम्बन्ध में उसका विचार करें तो वह असफल ठहरेगा। वह तो राजा के सर्व प्रथम कर्तव्यों से भी अनभिज्ञ था। "अर्थात् वह नहीं जानता था कि समृद्ध जनता के बिना कोई राजा बड़ा नहीं हो सकता"। मुहम्मद अली जिन्ना को छोड़ कर (१६३० और १६४० में) औरंगज़ेब के समान कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जिसने इस देश की जनता की दो मुख्य जातियों में भेद-भाव की खाई को इतना चौड़ा किया हो।

चाहे हम औरंगज़ेब के व्यक्तिगत जीवन को देखें अथवा उसके राज्य-कर्तव्यों पर ध्यान दें हम उसके चरित्र में दो मौलिक विशेषताएँ पायेंगे। एक तो भौतिक आकांक्षाएँ, दूसरे धार्मिक कट्टरता। यह कहना कठिन है कि यह कट्टर सम्राट भारत के साम्राज्यको अपेक्षा स्वर्ग के साम्राज्य को पसन्द करता था। शायद उसने भारत के साम्राज्य के लिये घोर प्रयत्न इसलिये किया था कि वह भारत में अपने विचार के

अनुसार स्वर्गीय राज्य अथवा इस्लामी राज्य स्थापित कर सके। किन्तु उसकी यह इच्छा पूरी न हो सकी।

औरंगज़ेब की विफलता के कारण

औरंगज़ेब की शासन व्यवस्था अत्यन्त केन्द्रित थी। उसने राज्य के सभी अधिकारों को अपने हाथ में ले रक्खा था। उसकी सरकार की सफलता सम्राट की शक्ति और योग्यता पर ही अधिकतर निर्भर थी। औरंगज़ेब में जब तक शारीरिक योग्यता बनी रही राज्य के ऊपरी काम सभी ठीक तरीके से चलते रहे। यद्यपि वह वृद्धावस्था में भी सार्वजनिक दरबारों में आने का प्रयत्न करके काम करने का उद्योग करता था तो भी दूर के प्रान्तों के राज्यपालों पर से उसका नियन्त्रण हट गया था और जनता सर्वत्र यह अनुभव करने लगी थी कि अब शासन व्यवस्था उसके हाथ से निकलती जा रही है। ऐसा तो होना ही था क्योंकि एकतन्त्र शासन में ऐसा ही होता है। दूसरी बात यह है कि औरंगज़ेब की प्रखर बुद्धि में भी कुछ दोष थे। यद्यपि वह बहुत बड़ा विद्वान्, बुद्धिमान् और चालाक-मक्कार था तो भी वह देश की समस्या को ठीक-ठीक समझ कर समयानुसार उनका हल नहीं कर पाता था। जीवन के सम्बन्ध में उसका विचार बहुत संकीर्ण था और वह विषयों पर अच्छी तरह से विचार कर आवश्यकतानुसार नियम नहीं बना सकता था। उसकी राजनीतिक समस्याओं पर धार्मिक पक्षपात का रंग चढ़ा हुआ था जिसके परिणामस्वरूप उसके कदम सदा दोषपूर्ण रहते थे। तीसरी बात यह है कि औरंगज़ेब का दृष्टिकोण साधारण दोष के अतिरिक्त उसके कर्तव्य का आदर्श भी बड़ा संकीर्ण था वह यह था कि वह अल्प संख्यक सुन्नियों का राजा बन कर ही राज्य करना चाहता था। संक्षेप में वह इस्लामी राज्य का शासक बनना चाहता था। इसी कारण उसे राज्य में कुरान के कानून लगाने पड़े और देश में ग़ैर मुसलमानों को कम करके और उन्हें दास बना कर उन्हें इस्लाम धर्म को अपनाने के लिये बाध्य करना पड़ा। विशुद्ध मुसलमान देश में यह नीति चाहे कितनी भी आवश्यक और अनिवार्य समझी जाती हो किन्तु भारत में यह नीति नहीं अपनाई जा सकी जहाँकि अस्सी प्रतिशत से अधिक जनता हिन्दू थी और जो अपने पैत्रिक धर्म और संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के लिए कटिबद्ध थे क्योंकि यह दोनों इस्लाम धर्म की अपेक्षा अधिक पवित्र और प्राचीन थे। औरंगज़ेब ने इस पर तनिक भी विचार नहीं किया कि उसे इस नीति के अपनाने से कितने बड़े विरोध का सामना करना पड़ेगा। उसने इस पर भी ध्यान नहीं दिया कि उसके बड़दादा अकबर की चलाई हुई धार्मिक सहनशीलता की नीति में परिवर्तन करने का क्या परिणाम होगा।

वह शियाओं और विशेषकर इस्माइली और दाऊदी बोहरों पर अत्याचार करता था और उसने उनके उपदेशों और धार्मिक रीति रिवाजों को नष्ट कर दिया था। फारस के शियाओं के साथ—जिनकी कुशाग्र-बुद्धि और योग्यता, लगान और फौज विभाग में समान रूप से देखी जा चुकी थी और जिन्होंने अकबर और शाहजहाँ के राज्य को वैभवसम्पन्न बनाया था—शाही नौकरियों में पक्षपात किया जाने लगा। चौथा कारण यह है कि सम्राट अपने पुत्रों को शिक्षित बनाकर अपने विस्तृत राज्य की शासन व्यवस्था का भार उनमें न बाँट सका। उसे भय था कि उसके पुत्र भी उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करें जैसा उसने अपने पिता के साथ किया था। इस भय के कारण वह अपने पुत्रों को अपने से दूर रखता था और उन पर कड़ी निगरानी रखता था। औरंगज़ेब अपने सभी पुत्र और पुत्रियों के प्रति सन्देह रखता था और उनके चारों ओर गुप्तचर लगाये रखता था जो उसे उनकी सब गति-विधियों से उसे सदा परिचित कराते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपने पिता को सहायता देने के बजाय और उत्तरदायित्वपूर्ण भार को सँभालने के बदले उसकी आज्ञा का विरोध करते थे और उसकी घोषित नीति के विरुद्ध आचरण करते थे। वास्तव में सम्राट के सन्देह के कारण वे उसके विरुद्ध षड्यंत्र रचने के इच्छुक रहते थे। पाँचवा कारण यह है कि अपनी निजी योग्यता और शासन व्यवस्था का दीर्घकालीन अनुभव तथा महत्वाकांक्षा और जलन के कारण अपने मन्त्रियों तथा दूसरे अफसरों का बिल्कुल विश्वास नहीं करता था। क्योंकि वे उसके विचार के अनुसार अपने कर्तव्य का सफलतापूर्वक पालन करने में उतने योग्य नहीं थे जितना उन्हें होना चाहिये था। इस कारण औरंगज़ेब राज्य के छोटे से छोटे काम के निरीक्षण करने का प्रयत्न करता था और अपने मंत्रियों के ऊपर तो केवल दैनिक कार्यों को ही छोड़ता था। अतः उसके मन्त्री केवल क्लर्क एवं कठपुतली मात्र रह गये थे, जो न तो कोई नीति अपना सकते थे और न सामयिक आवश्यकता की पूर्ति कर सकते थे। शाही अफसर संकट के समय निःसहाय हो कर सम्राट की आज्ञाओं और पथ-प्रदर्शन के लिए मुँह ताका करते थे। शासन का प्रबन्ध ठीक-ठीक नहीं कर पाते थे। छठा कारण यह था कि औरंगज़ेब ने बड़ी गलती यह की थी कि उसने राजपूतों को शत्रु बनाकर उनकी सहानुभूति उस समय खो दी थी जबकि साम्राज्य को उनकी सहायता की बड़ी आवश्यकता थी। अकबर ने मित्रता तथा सहिष्णुता की नीति को अपना कर राजपूतों को अपने वंश तथा साम्राज्य का प्रबल समर्थक बना लिया था। राजपूतों ने साम्राज्य की विपत्ति और कठिनाई के समय केवल उनका साथ ही नहीं दिया बल्कि उन्होंने मुग़लों के झण्डे को भारत के सुदूर कोनों और विदेश तक फहराया था। उन्होंने तो मुग़ल साम्राज्य की सीमा बढ़ाने के लिए अपने

भाइयों तक से युद्ध किया था। औरंगज़ेब की मूर्खतापूर्ण नीति ने राजपूतों को शत्रु बनने के लिये बाध्य कर दिया। और सिसोदिया, राठौर तथा दूसरे राजपूत, सम्राट के जीवन पर्यन्त शत्रु बने रहे। सातवाँ कारण यह है कि उसने जाट, सिख, बुन्देले और मराठे जैसी वीर जातियों को भी उभाड़ दिया था जिन्होंने संकट के समय साम्राज्य का खून बहाकर सम्राट का ध्यान विचलित कर दिया था। आठवाँ कारण यह है कि दक्षिण में मराठों के विनाश के लिये और उस प्रान्त के शिया राज्यों को नष्ट करने की जो नीति अपनाई वह भी बड़ी भारी गलती थी। वह २६ वर्ष की लम्बी अवधि तक दक्षिण की लड़ाइयों में फँसा रहा जिसके कारण केन्द्रीय सरकार अस्त-व्यस्त हो गई और उसका परिणाम यह हुआ कि उत्तरी भारत के प्रभावहीन तत्वों ने भी अपना सिर उठा कर विद्रोह आरम्भ कर दिया क्योंकि वे पूरी तरह से नहीं कुचले जा सके थे। नवाँ कारण यह है कि उसने भूल से यह कल्पना कर ली थी कि राजनैतिक, सैनिक और धार्मिक शासन प्रबन्ध से ही राज्य सफल हो जाता है और इसी कारण उसने आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति को छोड़ कर संगीत, चित्र-कला और दूसरी ललित कलाओं के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया था। उसने क्रियात्मक रूप से स्थापत्य कला की तनिक भी उन्नति नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके लगभग ५० वर्ष के दीर्घकालीन शासन में भारतीय सभ्यता का बहुत पतन हो गया था। दसवाँ कारण यह है कि वह अपने शासन के प्रारम्भिक २४ वर्षों को छोड़कर शेष काल में शान्ति और सुरक्षा रख कर देश के लाखों कृषकों को जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का विश्वास भी नहीं दिला सका। सच बात तो यह है कि वह अपने और अपने सेवकों के डेरों को, आए दिन होने वाले मराठों के हमलों से भी नहीं बचा सका। इन हमलों से उसका पीछा तभी छूटा जब वह ३ मार्च १७०७ को स्वर्ग सिधार गया।

विशेष अध्ययन के लिये पुस्तकें

(अ) फारसी

१. आलमगीरनामा (फारसी-बिब्लियोथीका इन्डिका) लेखक मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम।
२. मासीर-ए-आलमगीरी (फारसी-बिब्लियोथीका इन्डिका) लेखक मुहम्मद साक़ी मुस्तईद खाँ।
३. ज़फरनामा (फारसी-हस्तलिखित) लेखक आक़िलखाँ राज़ी।
४. नुस्ख-ए-दिलकुशा (फारसी-हस्तलिखित) लेखक भीमसेन।
५. फुतुहाते आलमगीरी (फारसी-हस्तलिखित) लेखक ईश्वरदास नागर।
६. मीरात-ए-अहमदी (फारसी गायकवाड़ की Oriental Series में प्रकाशित) लेखक अलीमुहम्मद खाँ।

७. अहकामे आलमगीरी (फारसी) लेखक हमीदुद्दीन ख़ाँ। अंग्रेज़ी अनुवादक सर यदुनाथ सरकार।
८. जवाबित्त-ए-आलमगीरी (फारसी)।
९. मुन्तखब उल लुबाव (फारसी) लेखक मुहम्मद हाशिम ख्वाफी ख़ाँ।
१०. अख़बारे दरबारे मुअल्ला (फारसी-हस्तलिखित) जयपुर आर्काइव्ज़ में।
११. अदब-ए-आलमगीरी (फारसी-हस्तलिखित) औरंगज़ेब के पत्र।
१२. अहकामए आलमगीरी (फारसी-हस्तलिखित) औरंगज़ेब के पत्र उसके मुन्शी इनायतुल्ला द्वारा लिखित।

(ब) मराठी

१. शिव छत्रपति चेन चरित्र लेखक कृष्ण जी अनन सभासद सम्पादक के० एन० साने
२. जेधेयांची शाखावली अँग्रेज़ी अनुवादक सर यदुनाथ सरकार।
३. इक्यानवे कल्मी बखर सम्पादक वी० एस० वकास्कर।

(स) हिन्दी

१. छत्र प्रकाश लेखक लाल कवि।

(द) योरोपियन भाषायें

१. English Factories in India सम्पादक डब्लू० फॉस्टर।
२. Diary & Consultation Books of St. George १–५ जिल्द सम्पादक—ए० टी० प्रिंगले।
३. Early Annals of the English in Bengal १–३ जिल्द लेखक सी० आर० विल्सन।
४. The Diary of W. Hedges दो जिल्दें सम्पादक एच० यूल।
५. The Diaries of Streynsham Master १६७५-८० दो जिल्दें सम्पादक आर० सी० टैम्पेल।
६. Storia do Mogor लेखक एन० मनूची—डब्लयू० इरविन द्वारा अँग्रेज़ी में अनुवादित चार जिल्दें।
७. Bernier Travels सम्पादक कान्स्टेबुल दो जिल्दें।

(घ) आधुनिक पुस्तकें

१. India of Aurangzib लेखक सर यदुनाथ सरकार।
२. History of Aurangzib ५ जिल्द लेखक सर यदुनाथ सरकार।
३. Cambridge History of India जिल्द चौथी।
४. Religious Policy of the Mughals लेखक श्रीराम शर्मा।

अध्याय ९

मराठों का उत्कर्ष

भारत के मुग़ल साम्राज्य का इतिहास तब तक अधूरा ही रहेगा जब तक शिवाजी के नेतृत्व में होने वाले मराठों के उत्कर्ष का वर्णन न कर दिया जाय क्योंकि शिवाजी और उनके उत्तराधिकारियों का मुग़ल साम्राज्य के पतन में महत्वपूर्ण हाथ रहा है। इस अध्याय में मराठों के उत्कर्ष के क्रमबद्ध विकास का तथा शासन-प्रबन्ध के लिये बनाई गई संस्थाओं का विवरण दिया जाता है।

शिवाजी के पूर्व मराठों की दशा

शिवाजी के उत्कर्ष के पूर्व मराठे महाराष्ट्र (दक्षिणी पठार की पश्चिमी सीमा) के आदिवासी थे और परमाणुओं की तरह दक्षिण भारत में बिखरे हुए थे। वे निर्धन और पददलित थे और खेती-बाड़ी से अपनी जीविका चलाते थे। इनमें से उच्च परिवारों के कुछ लोग दक्षिण के मुसलमान राज्यों में नौकर थे। ये सेना नायक और जागीरदार थे। इन्हें जागीरें मिली हुई थीं और उन्हें इन राज्य दरबारों में द्वितीय अथवा तृतीय श्रेणी के सामन्तों की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। किन्तु मराठों का अपने ढंग का एक निजी समाज था। इस समाज के लोगों की विशेषता यह थी कि इनमें आर्थिक और सामाजिक समानता थी और एक धर्म और संस्कृति के साथ साथ इनके जीवन का दृष्टिकोण भी एक ही था। इनमें से धनी तो बहुत ही कम थे। इनकी भाषा मराठी थी और इनका धर्म हिन्दू था। ये परिश्रमी थे और सादा जीवन बिताते थे। इनका विश्वास दृढ़ था और ये अपने मेहमानों का आदर-सत्कार करते थे। ये स्वावलम्बी, उत्साही, वीर और स्वाभिमानी थे। तीन सौ वर्ष के मुसलमानी शासन ने इन्हें वीर बनाने के साथ साथ चालाक अधिक बना दिया था। १६वीं और १७वीं शताब्दियों में महाराष्ट्र में एक धार्मिक आन्दोलन चला जिसके फलस्वरूप अनेक धर्मोपदेशक पैदा हो गये। इन उपदेशकों में से कुछ नीच जाति के थे किन्तु देश की उच्च जातियों में इनका अच्छा सम्मान था। ये भक्ति का उपदेश देते थे और ऊंच-नीच, धनी-निर्धन सभी के लिये धर्म के मूल सिद्धान्तों की आवश्यकता पर ज़ोर देकर उनमें हिन्दू-एकता की भावना भरते थे। तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ के नाम सारे महाराष्ट्र में आज भी घर-घर में गूंज रहे हैं। इनमें से कुछ उपदेशकों के उपदेश लिखे भी गये हैं। इन्होंने मराठी भाषा के विकास के साथ साथ

लोगों को जातीयता का नवीन जीवन प्रदान कर उनमें प्रजातन्त्र की वह ठोस भावना भर दी जो भारत के किसी प्रदेश में नहीं थी। इनमें राष्ट्रीयता लाने के लिये राजनैतिक चेतना और स्वतन्त्रता की भावना की कमी थी। इस अभाव को शिवाजी ने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पूरा कर दिया। ग्रान्ट डफ ने उन्नीसवीं शताब्दी में बताया है कि मराठों का उत्कर्ष अचानक हो गया था किन्तु उसका यह कथन निराधार है। यह तो दो सौ वर्ष की उस तैयारी का स्वाभाविक परिणाम था जो सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन के प्रयत्नों से प्राप्त हुआ था और जिसने जनता की छिपी हुई शक्ति को उभार कर उसमें नवीन जीवन और आशा का संचार कर दिया था।

शिवाजी का जन्म और बाल्यकाल

शिवाजी के पूर्वज मराठा जाति के भोंसला वंश के थे। ये पूना ज़िले के हिन्गानी बेरडी और दिवालगांव ग्रामों के मुखिया थे जो उस समय अहमदनगर के निज़ामशाही सुलतान के अधिकार में थे। १६वीं शताब्दी के मध्य में इस परिवार का प्रधान पुरुष (मुखिया) बालाजी था। इसके मालोजी और वीतोजी दो पुत्र थे। ये दोनों दौलताबाद की पहाड़ी सीमाओं पर स्थित विरुल (एलोरा) नामक गांव में आ बसे थे और अहमदनगर के सुलतान के सामन्त सिन्धखेर के यादवराव की मातहती में साधारण सिपाही के रूप में भर्ती हो गये थे। यादवराव उस समय अहमदनगर के सुलतान का सरदार था। कहा जाता है कि एक दिन यादवराव ने हँसी में कहा कि मालोजी का छोटा लड़का शाहजी मेरी पुत्री जीजाबाई के लिये योग्य वर है। इस पर मालोजी ने उपस्थित महमानों से कहा कि यादवराव ने अपनी पुत्री की सगाई मेरे पुत्र से कर दी है और तुम लोग इस बात के साक्षी हो। यादवराव इससे क्रुद्ध हुआ और मालोजी को नौकरी से अलग कर दिया। कहा जाता है कि मालोजी अपने गाँव को लौट आया। कुछ समय बाद उसे अपने खेत में एक गड़ा हुआ ख़ज़ाना मिला। इस धन से उसने तथा उसके भाई ने एक हज़ार सैनिक भर्ती किये और फलतान निवासी निम्बालकर के यहाँ नौकरी कर ली। कुछ दिन बाद वह अहमदनगर के सुल्तान के यहाँ नौकर हो गया और शीघ्र ही प्रमुखता प्राप्त कर ली। सिन्धखेर के यादवराव ने अब मालोजी के पुत्र शाहजी के साथ अपनी पुत्री जीजाबाई के विवाह करने में कोई हानि नहीं समझी। यही शाहजी उन्नति करते-करते अहमदनगर का प्रमुख सेनानायक और सरदार हो गया। उसकी शक्ति का सर्व प्रथम परिचय तब मिला जब वह मलिक अम्बर के पुत्र फतहखाँ के मन्त्रित्व काल में मुग़लों द्वारा अधिकृत पूर्वी ख़ानदेश पर आक्रमण करने के लिये भेजा गया था। इस समय मुग़ल सम्राट शाहजहाँ अहमदनगर राज्य के जीतने के लिए प्रयत्नशील था। शाहजी ने इस अवसर का

लाभ उठा कर जुन्नार से अहमदनगर तक के देश को अपने लिये जीतने का प्रयत्न किया। वह मुग़लों की सेवा में रहा किन्तु एक वर्ष बाद उन्हें छोड़ दिया। इसके बाद उसने बीजापुर के सुलतान के यहाँ नौकरी करली और बीजापुर के वज़ीर ख़वास ख़ाँ के प्रमुख सहायक प्रसिद्ध मराठा सरदार मुरारजी जगदेव की सहायता भी प्राप्त कर ली। इस समय अहमदनगर के राज्य का पतन हो रहा था। अतः शाहजी ने पूना और चकन को और अहमदनगर तथा नासिक के आस-पास के प्रदेशों को छीन लिया। बीजापुर के सुलतान की सहायता से उसने अगस्त १६३३ में अहमदनगर के शाही ख़ानदान के एक लड़के को राजा बना दिया और तीन वर्ष तक उसके नाम से सरकार चलाता रहा। किन्तु १६३६ मे उसे उस लड़के राजा को मुग़लों को सौंप देना पड़ा। अन्त मे उसने बीजापुर में नौकरी कर ली और मैसूर के पठार तथा पूर्वी कर्नाटक में अपनी एक बड़ी रियासत बना कर बीजापुर सुलतान का प्रमुख सामन्त बन गया।

शिवाजी इसी शाहजी भोंसले की पहली स्त्री जीजाबाई से उत्पन्न पुत्ररत्न थे। उनका जन्म सोमवार २० अप्रेल १६२७ को पूना से उत्तर जुन्नार नगर के समीप शिवनेर के पहाड़ी किले में हुआ था। कुछ लोगों का कहना है कि उनका जन्म ६ मार्च १६३० को हुआ था। जब वह लगभग दस वर्ष के हो गये तब वह पूना भेज दिये गये। इस समय शाहजी ने जीजाबाई का परित्याग कर उससे अधिक सुन्दर स्त्री तुकाबाई मोहिते से विवाह कर लिया था। फलत: उसने अपनी पहली स्त्री जीजाबाई को बालक शिवाजी के साथ साथ अपने परम भक्त कारिन्दे दादा जी कोणदेव के संरक्षण मे पहले शिवनेर मे और फिर पूना में छोड़ दिया और फिर कुछ वर्ष तक उनसे नहीं मिला। जीजाबाई परमभक्त और पतिव्रता स्त्री थी। शाहजी के त्याग के कारण शिवाजी और उसकी माता परस्पर बहुत अधिक प्रेम करने लगे थे। बालक शिवाजी का अपनी माता में ऐसा ही प्रेम था जैसा भक्त का भगवान् में। शिवाजी एक ऐसा निर्भीक बालक था जिसने उच्च अधिकारी की अधीनता में रहना तो सीखा ही नहीं था। उसकी माता, गुरु और संरक्षक दादा जी कोणदेव ने उसे हिन्दू धर्म तथा शास्त्रों की शिक्षा दी थी। उसको सैनिक शिक्षा भी दी गई थी और वह घुड़सवारी और दूसरे सैनिक कार्यों में निपुण हो गया किन्तु उसने लिखना पढ़ना नहीं सीखा था। निरक्षर होते हुए भी उसने सुन सुन कर रामायण, महाभारत तथा दूसरे हिन्दू शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह धार्मिक कीर्तनों तथा हिन्दू अथवा मुसलमान सन्तों के सत्संग का बहुत प्रेमी था।

शिवाजी ने शासन सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव व्यवहार कुशल एवं अनुभवी दादाजी कोणदेव से ही प्राप्त किया था। बारह वर्ष की आयु में उसके पिता ने उसे

पूना की जागीर दे दी और १६४१ के लगभग साइबाई निम्बोलकर के साथ शाहजी के प्रधान स्थान बंगलौर में उसका विवाह हो गया। शिवाजी के जन्म और प्रारंभिक जीवन के कार्य कलापों का स्मृति-स्थान मवाल नामक प्रदेश है। यह पहाड़ियों और घाटियों से घिरा हुआ है और उन किलों से शोभायमान हैं जिनके स्वामी प्रायः बदलते रहे हैं। इन दृश्यों ने उसमें ऐसी साहसिक चेतना उत्पन्न कर दी जिससे उसमें क्रमशः उत्कट देशभक्ति का विकास होता गया। मवाल प्रदेश के निवासी अधिकतर कोली और मराठे थे। ये बड़े दृढ़ और परिश्रमी थे और उच्च कोटि के सैनिक बन सकते थे। शिवाजी ने इन्हीं नवयुवकों को इकट्ठा कर एक के बाद दूसरा किला लेना आरंभ कर दिया। अहमदनगर और बीजापुर राज्य का पतन हो रहा था, देश में अव्यवस्था फैली थी और जनता में शांति और सुरक्षा का अभाव था। इन सब कारणों के होने से शिवाजी में साहसी जीवन भर कर उनमें स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण की उत्कट इच्छा उत्पन्न कर दी। यह तो संदिग्ध है कि शिवाजी उस समय हिन्दुओं को मुस्लिम शासन से मुक्त कराना चाहते थे। उनका सच्चा विचार कुछ भी रहा हो, किन्तु उन्होंने अपने जीवन के आरंभ में ही पूना के आस पास के किलों का छीनना आरंभ कर दिया था। दादाजी कोणदेव को शिवाजी के इस काम से बहुत दुःख हुआ क्योंकि वह नहीं चाहता था कि उसका अभिरक्षित एक प्रथम श्रेणी के सरदार एवं खानदानी रईस का लड़का आराम के जीवन को छोड़कर अपने वंश की प्रतिष्ठा के विरुद्ध ऐसे साहसिक कार्य करे। मार्च १६४७ में दादाजी कोणदेव की मृत्यु हो गई और शिवाजी अपनी बीस वर्ष की अवस्था में ही अपने द्वारा निश्चित मार्ग पर अग्रसर होने लगे।

शिवाजी की प्रारम्भिक विजयें : जावली पर अधिकार

शिवाजी ने सबसे पहले १६४६ में बीजापुर के तोरण नामक पहाड़ी किले पर अधिकार किया। इस किले में उसे २ लाख हून का ख़ज़ाना मिला। उसने इस धन का सदुपयोग कर अपनी सेना बढ़ाई और तोरण किले से पाँच मील पूर्व राजगढ़ नामक नया किला बनवाया। कुछ समय तक तो बीजापुर की सरकार उसके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकी क्योंकि उस समय वह एक तो कमजोर थी और दूसरे शिवाजी ने सुल्तान के दरबारी मंत्रियों को घूस देकर अपना मित्र बना लिया था। इसी बीच में शिवाजी ने चकन और कोंडाना किलों पर अपना अधिकार कर लिया। उसे समाचार मिला कि बीजापुर सुल्तान की आज्ञा से उसके पिता को राज-विद्रोही होने के सन्देह में गिरफ्तार कर बन्दी बना दिया गया है। इस समाचार से लगभग १६४८ के मध्य में उसकी उन्नति रुक गई। इस समय शिवाजी ने कुटिल नीति का

आश्रय लेकर दक्खिन के मुग़ल वाइसराय (सूबेदार) शाहज़ादा मुरादबख़्श को लिखा कि वह शाहजी के छुटकारे के लिये बीजापुर के सुल्तान पर दबाव डाले। किन्तु शाहजहाँ ने इस मामले में दख़ल देना स्वीकार नहीं किया। जब शाहजी के पुत्र शिवाजी तथा व्यानकोजी ने बंगलौर और कोंडाना के किले सुल्तान के आदमियों को वापस कर दिये तब सुल्तान ने १६४६ की मई के आरम्भ में शाहजी को मुक्त कर दिया।

१६४८ में शिवाजी ने एक षड्यन्त्र के द्वारा अजेय 'पुरन्दर' किले को नीलोजी नीलकंठ से छीन लिया। १६५६ में उसने जावली को जीता और राजगढ़ नाम का किला बनवाया। जावली राज्य मराठा सरदार चन्द्रराव मोरे के अधिकार में था और सतारा ज़िले की उत्तरी पश्चिमी सीमा के अन्तिम कोने पर स्थित था। चन्द्रराव ने शिवाजी के विरुद्ध उस प्रदेश के बीजापुरी गवर्नर के साथ सांठ गांठ कर दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में शिवाजी के राज्य विस्तार को रोक दिया था। अतः शिवाजी ने उससे छुटकारा पाने के लिये और जावली पर अधिकार करने के लिये एक षड्यन्त्र रचा। उसने घातकों को रुपया देकर चन्द्रराव का वध करा दिया और उसकी हत्या के तुरन्त बाद २५ जनवरी १६५६ को जावली पर आक्रमण कर दुर्ग पर अपना अधिकार जमा लिया। किलेदार हनुमन्तराव मोरे की हत्या के बाद चन्द्रराव मोरे के दोनों पुत्र भाग गये। पिता की हत्या के बाद चन्द्रराव के पुत्र रैरी में आये थे किन्तु उन्हें विवश होकर उसे भी सौंप देना पड़ा। इस प्रकार सारा जावली शिवाजी के अधिकार में आ गया जिससे अन्य विजयों के लिये शिवाजी का हौसला बढ़ गया।

इतिहासवेत्ता यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "शिवाजी की जावली पर विजय, जान बूझ कर की गई हत्या एवं संगठित छल-कपट का परिणाम था। उस समय उसकी शक्ति अल्प थी और वह अपनी शक्ति के बढ़ाने के लिये विवेकपूर्ण साधनों को न अपना सका। उसके जीवन की इस घटना में प्रकाश की केवल एक ही किरण है कि उसने जो अपराध किया वह पाखंड या लोक दिखावे के लिये नहीं किया। उसने इस बात की डींग नहीं मारी कि तीन मोरे सरदारों की हत्या हिन्दू 'स्वराज्य' की भावना से की अथवा उस विश्वासघाती शत्रु को अपने मार्ग से हटाने के लिये की गई थी जिसने उसकी उदार सरलता का अनेक बार दुरुपयोग किया था।"

जावली की विजय शिवाजी के जीवन में एक उल्लेखनीय घटना थी क्योंकि इस विजय के बाद उसके राज्य के दक्षिण-पश्चिम में विस्तार के लिये द्वार खुल गये थे। दूसरे, इस विजय से उसकी सैनिक-शक्ति बहुत बढ़ गई क्योंकि सेना के कई हज़ार पैदल मावले सिपाही अब उसकी सेना में भर्ती हो गये। जावली के मिल जाने से शिवाजी मावल प्रदेश का स्वामी बन गया। यह प्रदेश सेना-भर्ती के लिये बहुत ही उपयुक्त

स्थान था। तीसरे शिवाजी के हाथ वह ख़ज़ाना लग गया जो मोरों ने कई पीढ़ियों से जमा कर रक्खा था। अप्रेल १६५६ में उसने चन्द्रराव मोरे से राजगढ़ के दृढ़ दुर्ग को छीन कर उसे अपनी राजधानी बना दिया। अक्टूबर के आरम्भ में उसने पूना से ३५ मील दूर दक्षिण पूर्व में स्थित सूपा ज़िले पर अधिकार कर लिया और इस किले के अधिकारी अपने मामा (अपनी सौतेली माता के भाई) को शाहजी की शरण में जाने के लिये विवश कर दिया।

मुग़लों के साथ प्रथम मुठभेड़, १६५७

जब दक्षिणी मुग़ल साम्राज्य के वायसराय औरंगज़ेब ने १६५७ के आरम्भ में बीजापुर पर आक्रमण किया तब शिवाजी और मुग़लों की पहली मुठभेड़ हुई। शाहजहाँ बीजापुर के मुख्य मुख्य सरदार और अफसरों के फुसलाने में लगा हुआ था। अत: शिवाजी ने भी कुछ शर्तों के साथ अपनी सेवाएँ उसे सौंप दीं। वे शर्तें ये थीं (१) वह उन बीजापुरी किले और प्रदेश का स्वामी मान लिया जाय जिसे उसने जीता है। (२) वह दभोल बन्दरगाह और उससे लगे हुए प्रदेश का भी स्वामी मान लिया जाय जिसे उसने हाल में ही अपने राज्य में मिलाया है। औरंगज़ेब ने इसका गोल जवाब दिया। अतः शिवाजी ने बीजापुर का साथ देने में ही अपना स्वाथ सिद्ध होते हुए देखकर मुग़लों के सूबे के दक्षिण-पश्चिमी भाग पर उस समय आक्रमण कर दिया जब औरंगज़ेब अपनी सूबेदारी सीमा से दूर दक्षिण-पूर्वी कोने पर स्थित कल्याणी का घेरा डाले हुए था।

मराठों ने अहमदनगर शहर से लगे हुए चमरगुण्डा और रेसिन ज़िलों पर धावा बोल दिया। इसी समय शिवाजी जुन्नार पर स्वयं धावा बोल कर तीन लाख हून लूट ले गये। औरंगज़ेब मराठा आक्रमणकारियों को खदेड़ने के लिये बाध्य हुआ और उसे दक्षिणी मुग़ल साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमा की रक्षा के लिये कदम उठाना पड़ा। जब बीजापुर ने मुग़लों से सन्धि कर ली तब शिवाजी भी झुक गया किन्तु औरंगज़ेब ने उसे वास्तव में क्षमा नहीं किया।

कोनकन विजय, १६५७

जब औरंगज़ेब ने उत्तराधिकार के युद्ध के लिये उत्तरी भारत को प्रस्थान किया तब शिवाजी को अपने राज्य-विस्तार के लिये अवसर मिल गया। उन्होंने अगस्त १६५७ में जंजीरा के सिद्धियों पर हमला करने के लिये अपनी सेना भेजी किन्तु उन्हें इसमें सफलता न मिली। उसी वर्ष के अन्त में उन्होंने उत्तरी कोनकन पर आक्रमण किया। आधुनिक थाना और कोलाबा ज़िलों से मिलकर कोनकन प्रान्त बना था। शिवाजी ने कल्याण और भिवंडी नगरों पर सरलता से अधिकार कर

उन्हें अपनी नौ-सेना के अड्डे बना दिये। उन्होंने दक्षिणी कोनकन पर अधिकार कर वहाँ अपना नियमित शासन स्थापित कर दिया। उनकी सेना ने दामन के आस-पास के पुर्तगाली प्रदेश को लूटा जिससे विवश होकर उन्हें मराठा राजा को वार्षिक कर देना पड़ा। यह कल्याण की घटना है कि जिले के बीजापुरी गवर्नर मुल्ला अहमद नवायत की सुन्दर पुत्र वधू को मराठा सेना ने लूट के साथ अपहरण कर शिवाजी को भेंट देना चाहा था किन्तु मराठा राजा ने उसका अपमान न कर उसे वस्त्राभूषण सहित उसके आदमियों के पास बीजापुर भेज दिया था।

अफज़ल खाँ की घटना, १६५९

शिवाजी ने बीजापुर सरकार के अनेक किले और प्रदेश छीन कर उसे बहुत अधिक हानि पहुँचाई थी अत: उसने शक्ति बटोर कर अपने प्रथम श्रेणी के सरदार और जनरल को अफज़ल ख़ाँ उपाधिकारी अब्दुल्ला भटारी को शिवाजी के दबाने के लिये नियुक्त किया।

इस सेनापति ने खुले दरबार में शेखी मारी थी कि वह 'अपने घोड़े से बिना उतरे ही शिवाजी को हथकड़ी डाल कर गिरफ्तार कर लेगा'। उसने शिवाजी के मवाली देशमुखों, अफसरों और सेना को फुसलाने का प्रयत्न किया। कुछ देशमुख उससे सचमुच जा मिले। अफज़ल ख़ाँ सितम्बर १६५९ को बीजापुर से चलकर पनधारपुर आया और बिठोवा मन्दिर की मूर्ति को तोड़ा। वहाँ से उसने वई के लिए प्रस्थान किया। वहाँ उसने शिवाजी का पक्ष लेने के कारण बाजाजी नायक निम्बाल-कर से दो लाख का जुर्माना वसूल किया। उसने आस पास के मन्दिरों को लूटने और उन्हें अपवित्र करने के लिए अपनी सेना को भेजा। जावली के मोरे शिवाजी के शत्रु थे अत: अफज़ल ख़ाँ ने उनकी सहायता से मवाल देश में घुस कर पूना में शिवाजी पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। किन्तु शिवाजी अपना डेरा जावली के जंगली ज़िले में डाले हुए था अत: अफज़ल ख़ाँ ने शिवाजी पर सीधा हमला करने की नीति छोड़ कर उसको जाल में फंसाने का यत्न किया और इसीलिए उसने प्रतापगढ़ जाकर डेरा डाला। उसने कृष्णाजी भास्कर को शिवाजी के पास भेज कर शिवाजी के बुलाने की प्रार्थना की। उसने प्रतिज्ञा की कि वह शिवाजी द्वारा अधिकृत कोनकन प्रदेश और किलों को उसे दे देगा। सन्देश इस प्रकार था "मैं तुम्हें अपनी सरकार से अधिक सम्मान और सेना की सामग्री दिलवाऊँगा। यदि तुम दरबार में उपस्थित होओगे तो तुम्हारा स्वागत होगा। यदि तुम वहाँ उपस्थित होना न चाहोगे तो तुम इससे बरी कर दिए जाओगे।"

अफज़ल ख़ाँ के विरुद्ध अपनाई जाने वाली नीति के विषय में मराठा-दरबार में

मतभेद था। शिवाजी के अफसरों ने समर्पण की सलाह दी, किन्तु उन्होंने सलाह को न मान कर आक्रमणकारी का निर्भीकता से मुकाबला करने का निश्चय कर लिया। उन्हें कृष्णाजी भास्कर से अफ़ज़ल ख़ाँ के कपटपूर्ण विचार की गंध मिल गई थी। उन्होंने शर्त के साथ मिलने के प्रस्ताव का स्वीकार कर लिया। उन्होंने अफ़ज़ल ख़ाँ से अपनी सुरक्षा का सच्चा विश्वास चाहा। अफ़ज़ल ख़ाँ ने उन्हें मनचाहा विश्वास दे दिया। शिवाजी का दूत पंताजी गोपीनाथ ख़ान की इच्छा जानने के लिए भेजा गया था। उसने लौट कर सूचना दी कि अफ़ज़ल ख़ाँ ने मुलाकात के समय शिवाजी के गिरफ्तार करने का प्रबन्ध कर लिया है। शिवाजी की सलाह से यह निश्चय हुआ कि मुलाकात प्रतापगढ़ से दक्षिण एक मील दूर पार नामक ग्राम में की जाय। अफ़ज़ल ख़ाँ पार गाँव गया। वहाँ किले के नीचे मुलाकात के लिए निश्चित एक ऊंचे स्थान पर पण्डाल बनाया गया। शिवाजी ने अपनी चुनी हुई फौजों को आस-पास की झाड़ियों में छिपा दिया और अपने अंगरखे के नीचे कवच और अपनी पगड़ी के नीचे फौलादी टोपी पहन कर भेंट के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने अपने बाएँ हाथ में बघनख और अपनी सीधी बाँह में बिछुवा नामक तेज कटार को छिपा लिया। उनके साथ जीव महाल और शम्भूजी कावजी नामक दो साथी थे। ये दोनों दो दो तलवारों और एक-एक ढाल से सुसज्जित थे।

अफ़ज़ल ख़ाँ हजार से अधिक अचूक निशानेबाज बन्दूकचियों के घेरे में सभा-भवन मे आया। शिवाजी के दूत गोपीनाथ ने ख़ान से प्रार्थना की कि वह अपनी सेना को काफी दूर रक्खे अन्यथा शिवाजी मिलने के लिए नहीं आयेंगे। ऐसा ही किया गया और अफ़ज़ल ख़ाँ शिवाजी की तरह ही दो शस्त्रधारी सेवकों सहित पण्डाल में आये। वह तलवार चलाने में निपुण सैय्यद बांदा नाम के तीसरे आदमी को अपने साथ रखना चाहता था किन्तु शिवाजी के विरोध करने पर वह पण्डाल से हटा दिया गया। शिवाजी ने पण्डाल के पास पहुँचते ही झुक कर सलाम किया। अफ़ज़ल ख़ाँ ने आगे बढ़ कर शिवाजी को गले लगाया। शिवाजी उसके कन्धे तक आये। वह शिवाजी को कस कर बाँहों में पकड़ कर उनका गला घोंटने के लिए कुछ झुका। उसने तलवार निकाल कर शिवाजी पर बगल से प्रहार किया किन्तु मराठा सरदार अपने अंगरखे के नीचे कवच पहने हुआ था अत: प्रहार निष्फल गया। शिवाजी ने सचेत होकर अपने फौलादी बघनख से अफ़ज़ल ख़ाँ की आँतों को बाहर निकाल दिया और शीघ्रता से अपने बिछुवे को अफ़ज़ल ख़ाँ की कोख में घुसेड़ दिया। अफ़ज़ल ख़ाँ ने बुरी तरह से घायल होकर शिवाजी को छोड़ दिया और शिवाजी चबूतरे पर खड़े हुए दो सेवकों सहित भाग गये। अफ़ज़ल ख़ाँ दर्द से चिल्लाया। सैयद बाँदा ने आगे बढ़ कर शिवाजी के सिर पर तलवार से प्रहार किया किन्तु छिपी

हुई फौलादी टोपी पहने होने के कारण इसका उन पर कोई असर न हुआ। इसी बीच में जीवमहला ने सैय्यद का सीधा हाथ काट कर उसे मार डाला। यह घटना २ नवम्बर १६५६ को घटी थी।

मराठों की जो सेना जंगल में छिपी हुई थी वह अब बिना नायक की बीजापुरी सेना पर टूट पड़ी। बीजापुरी सेना ने निराशाजनक मुकाबला किया और बुरी तरह से हार कर भाग गई। उनमें से तीन सौ तो कत्ल कर दिये गए और बचे हुए भाग गए। शिवाजी ने तोपख़ाना, गोला-बारूद, खज़ाना, हाथी, घोड़े, ऊँट और शत्रु सेना की सारी सामग्री पर अपना अधिकार कर लिया। इस लूट में दस लाख रुपए और ज़ेवरात उनके हाथ लगे। इस विजय के बाद शिवाजी ने एक फौज़ी दरबार किया और इस घटना में प्रमुख भाग लेने वाले सभी को इनाम दिया।

इस विजय के बाद शिवाजी ने दक्षिणी कोनकन और कोल्हापुर जिले में अपनी सेना भेज कर विजय प्राप्त की। उसने पन्हाला क़िले को छीन कर अफ़ज़ल ख़ाँ के पुत्र रुस्तम ज़माँ और फ़ज़ल ख़ाँ के नेतृत्व में रहने वाली दूसरी बीजापुरी सेना को हराया। बसन्तगढ़, खेलना, पंगा और आसपास के किलों पर भी अधिकार कर लिया। जनवरी १६६० के अन्त में वे लूट का बहुत सा सामान लादकर विजयी होकर रायगढ़ लौटे।

पन्हाला और चकन का पतन, १६६०

बीजापुर के सुल्तान ने घबड़ा कर कारनूल जिले के अधिकारी सिद्दी जौहर को शिवाजी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। बाजी घोरपडे, रुस्तमे ज़माँ, फ़ज़ल ख़ाँ और दूसरे अफसर भी उसकी सहायता के लिए भेजे गये। सिद्दी ने शिवाजी को पन्हाला किले में घेर लिया और बड़े साहस से उसका घेरा डाल दिया। शिवाजी ने सिद्दी से मेल कर लिया किन्तु फ़ज़ल ख़ाँ मराठा सरदार का जानी दुश्मन था, उसने किले को छीनने का भरसक प्रयत्न किया। अतः शिवाजी को पन्हाला से २७ मील दूर पश्चिम में विशालगढ़ भाग जाना पड़ा। २ अक्टूबर १६६० में पन्हाला का पतन हो गया। शिवाजी के हाथ से पूना से १८ मील दक्षिण का चकन-किला भी मुग़लों ने ले लिया। इन्होंने शिवाजी के उत्तरी-प्रदेश पर उस समय आक्रमण किया जब कि बीजापुर की सेना शिवाजी को पन्हाला में घेरे हुए थीं।

शाइस्ता ख़ाँ पर रात्रि में आक्रमण, अप्रैल १६६३

मुग़ल सम्राट औरंगज़ेब उत्तराधिकार युद्ध में सफल हो चुका था। अतः उसने अपने मामा शाइस्ता ख़ाँ को दक्षिण का गवर्नर नियुक्त कर उसे मराठों की नवीन शक्ति को उखाड़ फेंकने की आज्ञा दी। आक्रमण करने से पूर्व शाइस्ता

ख़ाँ ने बीजापुरियों को दक्षिण में मराठा राज्य पर आक्रमण करने के लिए उकसाया जिससे कि शिवाजी एक ही साथ किये गये दो आक्रमणों द्वारा कुचल दिया जाय। खान ने मार्च १६६० को अहमदनगर से पूना की ओर चल कर और धीरे-धीरे अहमदनगर और पूना के बीच के किलों पर अधिकार कर लिया। पूना से १० मील दक्षिण-पूर्व में स्थित सासवाद आने के पूर्व मराठों का संगठित मुकाबला बहुत कमज़ोर था। शाइस्ता खाँ ने ११ मई को पूना में प्रवेश किया और वहीं बरसात बितानी चाही। मराठों ने आस-पास के प्रदेश को बिल्कुल उजाड़ दिया था। अतः उसने पूना से १८ मील दक्षिण में स्थित चकन नामक किले का घेरा डालने का निश्चय किया जिससे वह अहमदनगर से रसद प्राप्त कर सके। उसने इस पर २५ अगस्त को अधिकार कर लिया। इस बीच में शिवाजी ने राजगढ़ में पूना ज़िले और चकन किले की क्षति पूर्ति के लिए एक योजना बनाई। उसने तालबखाँ के नेतृत्व में चलने वाली शाइस्ता खाँ की सेना की उस टुकड़ी को हराया जो मराठों के कोनकन प्रदेश पर अधिकार करने के लिए भेजी गई थी। इसके बाद शिवाजी ने अपनी सेना की एक टुकड़ी को नेताजी के नेतृत्व में मुग़लों के विरुद्ध भेजा और स्वयं कोनकन में सारे बीजापुरी प्रदेश पर आक्रमण किया। उसने एक ही तेज़ हमले में डाँडा राजपुरी से खरे पाटन तक के सारे प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। हल्का सा मुकाबला करने के बाद रतनगिरि ज़िले के प्रायः सभी नगरों ने चौथ देकर लूट से अपनी रक्षा कर ली। फिर उसने पल्लीबाँना रियासत और सुरक्षित चिरदुर्ग पर विजय प्राप्त की। इसके बाद उसने श्रृंगारपुर को छीना। इसका शासक सूर्यराव अपना जीवन बचाने के लिए भाग गया। मुग़लों ने कल्याण नगर को फिर जीत लिया जिससे इन सारी उज्ज्वल सफलताओं पर पानी फिर गया। तो भी दो वर्ष के युद्ध के परिणाम-स्वरूप शिवाजी दक्षिण कोनकन, कुलाबा ज़िले के दक्षिण-पूर्वी कोने और सारे रतनगिरि ज़िले पर अधिकार करने में समर्थ हो गए। शिवाजी ने अब शाइस्ता ख़ाँ पर रात्रि में आक्रमण करने की योजना बनाई। शाइस्ता ख़ाँ चकन छीनने के बाद अगस्त १६६० को पूना लौटा। वह उसी मकान में ठहरा जिसमें शिवाजी ने अपना बचपन बिताया था। अपने ४०० चुने हुए सिपाहियों के साथ मराठा सरदार सिंहगढ़ से चलकर १५ अप्रैल १६६३ को संध्या के समय पूना पहुंचे। जब वह शाइस्ता ख़ाँ के निवास स्थान की सीमा में प्रवेश कर रहे थे तब उन्हें मुग़ल रक्षकों ने टोका। उन्होंने जवाब दिया कि वे शाही सेना के मराठी सिपाही हैं और अपने नियुक्त स्थानों पर जा रहे हैं। यह मण्डली शाइस्ता ख़ाँ के भवन पर आधी रात के समय पहुंची और ईंट-गारे से चिने हुए छोटे से दरवाजे को फोड़कर उसमें घुस गई। घुसने में शिवाजी सबसे पहला आदमी था। उसके बाद उसके २०० आदमी और घुसे। ख़ान के सोने के कमरे में

पहुँच कर शिवाजी ने उस पर आक्रमण किया। जिस समय मराठों का आक्रमण हुआ शाइस्ता ख़ाँ जल्दी सँभल गया और अपने को शस्त्रों से सुसज्जित करने लगा, किन्तु उसकी कुछ भी न बन पड़ी। वह अपने हाथ का अंगूठा खोकर अन्धेरे में भाग गया। मराठों ने अन्धकार में स्त्री-पुरुष का भेद न जानकर ख़ान के ज़नाने की बहुत सी स्त्रियों को मार डाला। इसी समय शिवाजी की सेना की दूसरी टुकड़ी के २०० मजबूत सिपाही शाइस्ता ख़ाँ के ज़नाने के बाहर के रक्षकों पर टूट पड़े और मुग़ल सेना में बड़ी खलबली मचा दी। शाइस्ता ख़ाँ का पुत्र अब्दुल फतह अपने पिता की सहायता के लिए लपका किंतु क़त्ल कर दिया गया। दूसरे मुग़ल सेनापतियों का भी यही हाल हुआ। अब सारी मुग़ल सेना जाग गई थी, अत: शिवाजी अपने आदमियों को इकट्ठा कर भाग गये। घबड़ाए हुए मुग़ल मराठों का पीछा न कर सके। यह रात्रि का आक्रमण बहुत ही सफल रहा। शाइस्ता ख़ाँ का एक पुत्र, ४० सेवक, ६ स्त्रियाँ और उसकी ६ बांदियाँ मारी गईं। उसके दो पुत्र और आठ दूसरी स्त्रियाँ घायल हुईं। यह घटना १५ अप्रैल १६६३ को घटी। इससे शिवाजी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और शाइस्ता ख़ाँ का बड़ा अपमान हुआ। औरंगज़ेब ने क्रुद्ध होकर उसे दण्ड देने के लिए बंगाल भेज दिया।

सूरत की लूट, १६६४

इस निर्भीक साहसिक कार्य के बाद शिवाजी ने देश के सबसे अधिक समृद्ध बन्दरगाह सूरत पर प्रबल आक्रमण कर इसे ही लूटने का विचार किया। इसकी योजना अत्यन्त गुप्त रखी गई और जब उन्होंने दक्षिण की ओर प्रस्थान की घोषणा की तब वे वास्तव में उत्तर की ओर गये। १० जनवरी (१ जनवरी १६६४ पुरानी गणना के अनुसार) को उसने तेजी से सूरत पर आक्रमण किया। नगर में खलबली मच गई और बहुत से परिवार अपने बालबच्चों के साथ जान बचाने के लिए बाहर भाग गए। गवर्नर इनायत खाँ ने नगर से भाग कर क़िले में शरण ली। उसने शिवाजी से संधि करने के लिये अपना प्रतिनिधि भेजा। शिवाजी ने यहाँ १६ जनवरी के प्रातःकाल आकर बुरहानपुर दरवाजे के बाहर एक बाग़ में अपना डेरा डाला। उसने दूत को नजरबन्द कर चार दिन तक नगर लूटा। हज़ारों मकानों को जला कर ख़ाक कर उजाड़ दिया। डरपोक मुग़ल गवर्नर ने शिवाजी की हत्या के लिए एक हत्यारे को धन दिया किन्तु आक्रमण सफल न हो सका क्योंकि शिवाजी के अंग-रक्षक ने हत्यारे के दाहिने हाथ को काट दिया था। क्रुद्ध मराठा सेना क़त्ले-आम करना चाहती थी किंतु शिवाजी ने उसे रोक कर केवल कुछ कैदियों के हाथ कटवा दिये। अंगरेज़ व्यापारियों ने अपनी फैक्टरी बचा ली और मराठा सरदार द्वारा

लगाया गया तीन लाख का कर नहीं दिया। शिवाजी को लूट में इतना माल मिल गया था कि उसने न तो अंगरेज़ों को उत्तर देने की परवाह की और न अंगरेज़ों की सुरक्षित फैक्टरी पर हमला ही किया। शिवाजी को सूरत की लूट में एक करोड़ से अधिक रुपया मिला था। एक अंगरेज़ ने लिखा है "शिवाजी और सब चीजें छोड़ कर केवल सोना, चाँदी, हीरे, मोती और वैसे ही मूल्यवान सामान ले गया था।" १९ जनवरी को शिवाजी को समाचार मिला कि एक मुग़ल सेना नगर की रक्षा के लिए तेजी से आ रही है अतः वह २० जनवरी १६६४ को सूरत छोड़ कर भाग गये। सूरत की लूट के विषय में शिवाजी का कहना है कि यह मुग़लों के उस आक्रमण का बदला है जो उन्होंने उसके देश पर किया था। दूसरा कारण धन से प्रेम था।

शिवाजी १६६४ में पूरे वर्ष मुग़लों के आक्रमण से मुक्त रहे। दक्षिण का मुग़ल गवर्नर शाहज़ादा मुअज़्ज़म औरंगाबाद में और जसवन्तसिंह पूना में डेरा डाले रहे। जसवन्तसिंह ने कोंडन क़िले का घेरा डाला किन्तु वह इसे छीन न सका और शिवाजी मुग़लों को लूटने और तंग करने के लिये पूरी तरह स्वतन्त्र रहे। उन्होंने अगस्त के आरम्भ में अहमदनगर को लूटा और बरसात के बाद कनारा पर आक्रमण किया।

दो फरवरी १६६४ को शिवाजी के पिता शाहजी की मृत्यु हो गई और उसके द्वितीय पुत्र व्यन्कोजी उसकी मैसूर और पूर्वी कर्नाटक की रियासत का उत्तराधिकारी हुआ।

जयसिंह का महाराष्ट्र पर हमला : पुरन्दर की सन्धि, १६६५

शाइस्ता ख़ाँ की असफलता और सूरत की लूट से अत्यन्त दुखी औरंगज़ेब ने शिवाजी को कुचलने के लिये अपने सबसे अधिक वीर आमेर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह को नियुक्त किया। उसने उसकी सहायता के लिये बहुत से योग्य अफसर एवं उसे मनचाहा धन और सामग्री दी। राजा ने भारत और मध्य एशिया में निरन्तर अनेक विजयें प्राप्त की थीं। यह अपने उत्साह और योग्यता के लिये प्रसिद्ध था। दूरदर्शिता और राजनैतिक चालाकी के साथ-साथ इसे शान्तिपूर्ण नीति का भी ज्ञान था। ये योग्यताएँ तो उसके निजी आकर्षण के लिए थीं किन्तु हिन्दू होने के कारण ही वह शिवाजी से लोहा लेने के लिए एक आदर्श सेनापति सिद्ध हुआ था। उसने १९ जनवरी १६६५ को नर्मदा पार की और एक क्षण भी नष्ट न कर १३ मार्च को पूना में जाकर मारवाड़ के जसवन्तसिंह से कार्य भार ले लिया। उसने अपने कर्तव्य के महत्व को समझ कर शिवाजी के विरुद्ध कार्य करने की विचार-पूर्ण योजना बनाई और शिवाजी के राज्य के पूर्वी भाग में डेरा डाले रहा जिससे वह मराठा प्रदेश

और बीजापुरी सुलतान के बीच में डटा रहे, क्योंकि वह नहीं चाहता था कि सुलतान मराठों की सहायता करे। वास्तव में राजा जयसिंह दक्षिण में शिवाजी के विरुद्ध सभी महत्त्वपूर्ण तत्वों को उकसाना चाहता था जिससे शिवाजी चहुँमुखी आक्रमणों से घबरा उठे। उसने शाहीकृपा और कर के घटवाने का आश्वासन देकर बीजापुरी सुलतान से सहायता मांगी। उसने गोआ के पुर्तगाली और जंजीरा के सिद्धियों से शिवाजी के प्रदेश पर आक्रमण करने के लिये कहा। इसके अतिरिक्त उसने महाराष्ट्र और कर्नाटक के बहुत से जमींदारों को अच्छा आश्वासन दे कर फुसला लिया। उसे इसमें बहुत अधिक सफलता मिली। जावली से निकाले गये मोरे, अफ़ज़ल ख़ाँ का पुत्र फ़ज़ल ख़ाँ और कल्याण के उत्तर देश कोली के निकाले हुए सभी राजा शिवाजी से ईर्ष्या रखते थे, वे सब जयसिंह से जा मिले।

सासबाद को अपना प्रधान स्थान बनाकर जयसिंह ने अपना आक्रमण आरम्भ किया। उसने उस नगर के दक्षिण पश्चिम की घाटियों के मराठा गांवों को उजाड़ने के लिए अपनी सेना की एक टुकड़ी भेजी। फिर वह पुरन्दर में शिवाजी को घेरने के लिए चला और पुरन्दर के पूर्वी किनारे पर स्थित वज्रगढ़ किले पर आक्रमण कर दिया। इस पर पूरी तरह से घेरा डाला गया और तोपख़ाने लगाकर बमबारी आरम्भ कर दी गई। राजा जयसिंह ने २४ अप्रैल को वज्रगढ़ छीन लिया और दुर्ग-रक्षकों को बिना सताये हुए ही घर जाने की आज्ञा दे दी, जिससे कि पुरन्दर दुर्ग के रक्षक बिना युद्ध के ही आत्मसमर्पण कर दें। जयसिंह ने राजगढ़, सिंहगढ़ (कोन्डाना) और रोहिरा राज्य के शिवाजी के गाँवों को उजाड़ने के लिए अपने हल्के दस्ते पहले से ही भेज दिये थे और उन्हें आज्ञा दी गई थी कि वे खेती अथवा निवास स्थानों का नाम भी न रहने दें। इस सेना ने अपने काम से राजा को सन्तुष्ट किया। इसने मराठा सेना को हराया, उन गांवों को लूटा और जलाया जिन्होंने पहले कभी शत्रु को नहीं देखा था। इस बीच में पुरन्दर का घेरा भी जारी रहा। मराठों ने मुकाबला किया किन्तु वे असफल रहे। वज्रगढ़ छीन लेने के बाद जयसिंह ने पुरन्दर के नीचे के माची दुर्ग को घेरने के लिये आज्ञा दी। किले के उत्तरी-पूर्वी किले पर खाइयाँ खोदी गईं और मराठे सैनिक खदेड़ दिये गए। जयसिंह ने लट्ठे और तख्तों का ऊँचा चबूतरा बनवाया और शत्रु पर चुपचाप बमबारी करने के लिये छोटी-छोटी तोपें चढ़ा दी गईं। दुर्ग रक्षकों के बाधा डालने पर भी लकड़ी का चबूतरा बन गया। मुग़लों ने अब सफेद बुर्ज़ पर हमला करने की तैयारी की। इस बमबारी के कारण मराठों ने काले बुर्ज़ में जाकर शरण ली। वे यहाँ भी नहीं ठहर सके और गढ़ी की दीवाल से लगे हुए बाड़े में भाग गए। उन्हें इसे भी छोड़कर पीछे की खाइयों में शरण लेनी पड़ी। दो महीने के घेरे और लड़ाई के परि-

णामस्वरूप जयसिंह ने नीचे के किले के पाँच बुर्ज और एक बाड़ा छीन लिया। अब यह स्पष्ट हो गया कि मुख्य दुर्ग पुरन्दर भी उससे नहीं बच सकेगा। राजपूत सेनापति ने अपनी सारी सेना को मुख्य किले पर ही लगा दिया। यहाँ मराठा आक्रमण का वीर सेनापति मुरार बाजी प्रभु ५०० पठान और बहुत से पैदलों को मारकर अपने ३०० आदमियों के साथ वीर गति को प्राप्त हुआ। अब पुरन्दर के दुर्ग रक्षकों और मराठा अफसरों के परिवारों को अपना दुर्भाग्य आता हुआ दिखाई देने लगा।

पुरन्दर के घेरे और अपने ही राज्य के बीच में हुए आक्रमण से शिवाजी की सेना पर अभूतपूर्व आपत्ति आ गई जिससे विवश होकर शिवाजी ने आत्मसमर्पण द्वारा संधि कर लेने का निश्चय कर लिया। उसने कुछ दिन तक जयसिंह के दूतों से विचार-विनिमय किया। और अब राजपूत सरदार से मिलकर सन्धि की शर्तों के करने का निश्चय कर लिया। उसने निश्चय कर लिया कि यदि उसकी प्रार्थना ठुकरा दी गई तो वह बीजापुर के सुल्तान से मिलकर और भी ज़ोरों से मुग़लों पर आक्रमण कर देगा। जयसिंह ने शिवाजी को स्वयं आकर बिना शर्त के आत्मसमर्पण के लिये बाध्य किया और कहा कि यदि शिवाजी ने ऐसा नहीं किया तो वह संधि की कोई बातचीत नहीं करेगा। जब जयसिंह ने शिवाजी की सुरक्षा का विश्वास दिला दिया तब वह २४ जून १६६५ के प्रातः काल राजपूत सेनापति से पंडाल में मिलने गया। जयसिंह ने साफ साफ कहलवा दिया कि यदि शिवाजी अपने सब किलों को सौंप देने को तैयार न हो तो उसे मिलने के लिए आने की कोई आवश्यकता नहीं। शिवाजी इसे मान कर वहाँ गया और खेमे के द्वार पर जयसिंह के बख्शी द्वारा उसका स्वागत किया गया। जयसिंह स्वयं कुछ कदम आगे बढ़ कर शिवाजी को लेने आया और उसने शिवाजी को गले लगा कर अपने पास बिठा लिया। उसी समय जयसिंह ने दिलेर ख़ाँ और तीर्थसिंह को पुरन्दर पर आक्रमण करने की आज्ञा दी जिससे शिवाजी को मराठों की क्षीण शक्ति का विश्वास हो जाय। आक्रमण में ८० मराठों को मारकर और बहुत सों को घायल कर पीछे खदेड़ दिया गया। शिवाजी राजपूत खेमे से युद्ध को देख रहा था। अतः उसने पुरन्दर के समर्पण की आज्ञा देकर जयसिंह से व्यर्थ के नरसंहार को रोकने की प्रार्थना की। जयसिंह ने अपने आदमियों को युद्ध रोकने का आदेश दे दिया और शिवाजी ने अपने दुर्ग-रक्षकों को दुर्ग के समर्पण की आज्ञा दे दी। इन आज्ञाओं का पालन किया गया।

दोनों राजा आधी रात तक शर्तों के विषय में विचार करते रहे और अन्त में समझौता हुआ। यह १६६५ की पुरन्दर की संधि कहलाती है। समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं : (१) शिवाजी ने २३ किले और उससे लगे हुए उस प्रदेश का समर्पण

कर दिया जिसकी वार्षिक आय ४ लाख हून थी। यह प्रदेश मुग़ल साम्राज्य में मिला दिये गए। (२) राजगढ़ के साथ-साथ शिवाजी के १२ किले और उससे लगी हुई भूमि जिसकी वार्षिक आय १ लाख हून थी शिवाजी के ही अधिकार में रहने दी। शर्त यह थी कि वह शाही तख़्त का सेवक और राजभक्त बना रहे। (३) शिवाजी मुग़ल दरबार की निजी उपस्थिति से बरी कर दिया गया था किन्तु उसके पुत्र शम्भूजी को ५,००० घोड़ों के एक दल के साथ सम्राट की सेवा करनी होगी, जिसके उपलक्ष में उसे जागीर मिलेगी। शिवाजी ने दक्खिन में सम्राट की ओर से युद्ध करने का वचन दे दिया। कुछ समय बाद पुरन्दर की संधि में एक धारा और जोड़ दी गई, जो शिवाजी के शब्दों में इस प्रकार है :—"यदि ४ लाख हून की आमदनी की कोनकन की तराई की भूमि और बाला घाट, बीजापुर की ५ लाख हून सालाना की ऊँची भूमि मुझे सम्राट द्वारा दे दी जाय और शाही फरमान के द्वारा मुझे विश्वास दिला दिया जाय कि इन भूमि का अधिकार मुग़लों द्वारा आशा की गई बीजापुरी विजय तक मुझ पर रहेगा तब मैं सम्राट को ४० लाख हून १३ वर्ष की सालाना किस्तों में देने को तैयार हूँ।" औरंगज़ेब ने इसको स्वीकार कर लिया और आशा की गई कि शिवाजी उपरोक्त प्रदेशों को मुग़लों की सहायता के बिना जीत लेगा। यह धारा मुग़लों के बहुत अनुकूल थी क्योंकि दो करोड़ की नकद आमदनी के साथ-साथ शिवाजी और बीजापुर के सुलतान के बीच शत्रुता बनी रहेगी। इसके अतिरिक्त पहाड़ी राज्यों को विजय करने में लगे रहने के कारण शिवाजी को दक्षिण में मुग़लों को तंग करने का अवसर भी नहीं मिलेगा। ध्यान देने की बात यह है कि इस धारा में शिवाजी ने यह भी मान लिया था कि इस रियायत के बदले में वह अपने पुत्र शम्भाजी के २,००० घुड़सवारों के मनसब और चुने हुए ६० हजार पैदलों को अपने साथ लेकर मुग़लों के बीजापुरी आक्रमण में सहायता देगा। औरंगज़ेब ने पुरन्दर की संधि और समझौते को स्वीकार कर लिया और शिवाजी के लिए फरमान और ख़िलत भेज दी।

शिवाजी द्वारा मुग़लों को सहायता : पनहाला की हार

इस उत्कृष्ट सफलता के बाद जयसिंह ने एक ही आकस्मिक हमले से आदिल-शाही राजधानी पर अधिकार जमाने के लिए बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। सम-झौते के अनुसार शिवाजी ने अपनी शक्तिशाली सेना से उसकी सहायता की। बीजापुर से २४ मील उत्तर मंगलवीरा तक राजपूत सरदार का किसी ने विरोध नहीं किया। बीजापुरियों ने अपनी रक्षा की पूरी-पूरी तैयारी करली थी। उन्होंने रसद की पूरी सामग्री और लड़ाई का सारा सामान किले में इकट्ठा कर सात मील के दायरे में देश को ऐसा उजाड़ दिया था कि जिससे शत्रु को पानी अन्न और वृक्षों की छाया तक न मिल सके। बीजापुर किले से १० मील उत्तर मक्खनपुर पर जयसिंह की प्रगति

रुक गई। कुछ सप्ताह प्रतीक्षा करने के बाद भी वह आगे न बढ़ सका, अतः उसने १५ जनवरी १६६६ को पीछे हटना आरम्भ कर दिया। वह अपने साथ बड़ा तोपखाना नहीं लाया था क्योंकि उसने सोचा था कि वह एक ही आकस्मिक हमले में बीजापुर को जीत लेगा किन्तु यह उसकी भूल थी। अतः उसने पीछे हटकर शिवाजी को पन्हाला का घेरा डालने के लिए भेजा। पन्हाला पर अचानक हमला करने के विचार से शिवाजी २६ जनवरी को किले के निकट पहुँच गये किन्तु नेताजी, जिन्हें दूसरा शिवाजी कहा जाता था, के समय पर न पहुँचने से वह सूर्योदय के केवल ३ घंटे पूर्व ही आक्रमण कर सके। दुर्ग रक्षक जाग गये थे अतः उन्होंने वीरतापूर्वक युद्ध किया। परिणाम यह हुआ कि शिवाजी को बिना दुर्ग छीने ही लौटना पड़ा। शिवाजी ने 'नेताजी' को दण्ड दिया जिसका बुरा मान कर वह बीजापुर सेना में भर्ती हो गया और उसने मुग़ल प्रदेश पर आक्रमण किया। जयसिंह ने पञ्चहज़ारी मनसब, अच्छी जागीर और ५० हज़ार नकद रुपये देने की प्रतिज्ञा कर उसे अपने पक्ष में कर लिया।

शिवाजी का आगरा जाना, १६६६

बीजापुर के विरुद्ध जयसिंह के असफल होने से, नेताजी की कर्त्तव्य-विमुखता से और इस भय से कि कहीं शिवाजी मुग़लों के विरुद्ध होकर बीजापुर से न मिल जाय, जयसिंह ने विवश होकर मराठा सरदार से आगरा जाकर बादशाह से मिलने का अनुरोध किया। उसने यह काम शिवाजी को अस्थाई रूप से दक्खिन से हटाने के लिए और उसके अफसरों में उसके विरुद्ध होने वाले षड्यन्त्र को दबाने के लिए किया था क्योंकि उनमें से कुछ शिवाजी के विरुद्ध थे। शिवाजी को मुग़ल दरबार में भेजकर वह अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर प्राप्त करना चाहता था। वह दिखाना चाहता था कि वह शिवाजी जैसे आदमी को मुग़ल-दरबार में भेज रहा है जिसने बड़े से बड़े मुसलमान के आगे भी सिर नही झुकाया है। वह बड़े परिश्रम के बाद शिवाजी को विश्वास दिला सका कि आगरे में उसका अच्छा सम्मान होगा और बहुत सम्भव है कि वह दक्षिणी मुग़ल-साम्राज्य का वाइसराय (सूबेदार) भी बना दिया जाय। शिवाजी सिद्दियों से जंजीरा लेना चाहता था और जयसिंह ने शायद उसे दिलाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। शिवाजी ने जयसिंह के प्रस्ताव को बड़ी हिचकिचाहट के साथ तभी स्वीकार किया जब राजपूत सरदार और उसके पुत्र एवं शिवाजी के दरबारी प्रतिनिधि रामसिंह ने उसकी सुरक्षा का वचन दे दिया था। प्रस्थान करने से पूर्व उन्होंने अपनी माता जीजाबाई को संरक्षक और पेशवा मोरोपन्त तथा मजमुआदार नीलोजी सोनदेव को उसके अधिकार में रख दिया। उन्होंने अपने सब अफसरों को तथा किलों के अधिकारियों (किलेदारों) को चालू नियमों के पालन के लिये और

आवश्यकता के समय यथोचित कार्य करने का आदेश दिया। उन्होंने १६ मार्च १६६६ को अपने सबसे बड़े पुत्र शम्भूजी, पाँच बड़े अफसर और ३५० चुने हुए सिपाहियों के दस्ते के साथ यात्रा आरम्भ की।

जब वे २१ मई को आगरा से कुछ मील दूर दक्षिण में सराय मानिकचन्द्र पर पहुँचा तब वहाँ रामसिंह के मुन्शी गिरधरलाल ने उसका स्वागत किया। २२ मई के बहुत तड़के (ऊषा-काल) रामसिंह की शाही महल में पहरा देने की ड्यूटी पड़ गई थी अतः वह शिवाजी की अगवानी करने के लिये न आ सका था। गिरधरलाल शिवाजी को दूसरे मार्ग से नगर में लाया और रामसिंह अपनी ड्यूटी के बाद शिवाजी का स्वागत कर उसे बादशाह के सामने पेश करने के लिए दूसरे मार्ग से गया। इस भूल के कारण शिवाजी से बाहर मिलने के बजाय वह उससे नगर के बीच बाज़ार में मिला। दिन चढ़ गया था और औरंगज़ेब दीवाने-आम को छोड़ कर दीवाने-ख़ास में चला गया था, अतः सहायक मीर बख़्शी असद ख़ाँ ने उन्हें वहीं उसके सामने उपस्थित किया। शिवाजी ने एक हज़ार मुहर और दो हज़ार रुपये नज़र और पाँच हज़ार रुपये निछावर के रूप में भेंट किए। औरंगज़ेब ने एक शब्द भी न कहकर उनकी ओर केवल देख भर लिया। नज़र देने के बाद शिवाजी पंचहज़ारी मनसबदारों की पंक्ति में खड़े किये गये। यह मनसबदारों की तीसरी पंक्ति थी। सम्राट की ओर से शिवाजी का स्वागत राजधानी के बाहर नहीं हुआ था अतः वह बहुत ही दुःखी और असन्तुष्ट थे। अब उन्हें तीसरी पंक्ति में खड़ा किया गया था। और जब उन्हें मालूम हुआ कि राजा जसवन्तसिंह उनके सामने खड़ा है तो उन्होंने दुःख से इस प्रकार कहा:—"वह जसवन्तसिंह जिसकी पीठ मेरे सिपाहियों ने देखी थी मुझे उसी के पीछे खड़ा होना पड़ रहा है? इसका क्या अभिप्राय है?" अब ख़िलत के भेंट करने का समय आया। शाही राजकुमार, वजीर और जसवन्तसिंह इत्यादि सभी को इन ख़िलतों से सम्मानित किया गया किन्तु शिवाजी को नहीं। अब शिवाजी अत्यंत क्रुद्ध हुए। औरंगज़ेब उनके भाव को ताड़ गया और उसने रामसिंह से शिवाजी की दशा के सम्बन्ध में पूछा। जब रामसिंह शिवाजी के पास गया तो वह उस पर बहुत क्रुद्ध होकर बोले, "तुमने मुझे देखा है, तुम्हारे पिताजी ने देखा है और तुम्हारे बादशाह ने देखा है कि मैं किस प्रकार का आदमी हूँ। किन्तु तुमने फिर भी मुझे तीसरी पंक्ति में इतनी देर तक खड़ा रक्खा। मैं तुम्हारे मनसब को फेंकता हूं।" इन शब्दों के कहने के बाद उन्होंने उसी समय सिंहासन की ओर पीठ करली और उद्दण्डता के साथ चल दिये। रामसिंह ने उनका हाथ पकड़ा किन्तु शिवाजी ने उसे छुड़ा लिया और खम्भे के पीछे आकर बैठ गये। रामसिंह उन्हें राजी करके दरबार में न ला सका और उसकी सारी मिन्नतों के बाद

शिवाजी ने यही कहा कि वह सम्राट के सामने जाने से मर जाना कहीं अच्छा समझेगा। जब निराश रामसिंह ने औरंगज़ेब को सारी घटना की सूचना दी तब औरंगज़ेब ने शिवाजी को शान्त कर अपने सामने उपस्थित करने के लिए ख़िलत के साथ तीन सामन्तों को भेजा। शिवाजी ने इस वस्त्र का पहनना और दरबार में जाना अस्वीकार कर दिया। सरदारों ने अपनी असफलता का समाचार सम्राट से छलपूर्वक कहा। उन्होंने बताया कि देहाती मराठा सरदार दरबार की अनभ्यस्त गर्मी से बीमार पड़ गया है। इस पर औरंगज़ेब ने रामसिंह को आज्ञा दी कि वह शिवाजी को अपने निवास स्थान को ले जाय। शिवाजी दूसरे दिन भी दरबार में जाने के लिए राजी नहीं हुआ और रामसिंह के बड़े आग्रह के बाद उसने अपने पुत्र शम्भूजी को दरबार में भेजा। शिवाजी इसके बाद मुग़ल दरबार में फिर स्वयं कभी नहीं गये।

अब औरंगज़ेब ने शिवाजी को बन्दी बनाकर किसी न किसी बहाने मरवा डालने का निश्चय कर लिया। किन्तु वह इस काम को इस ढंग से करना चाहता था जिससे जनमत उसके विरुद्ध न हो जाय अथवा राजपूतों से और विशेषकर मराठे सरदार की रक्षा का वचन देने वाले जयसिंह और उसके पुत्र रामसिंह से शत्रुता मोल न ले ली जाय। राज दरबार में कछवाहा और राठौरों की प्रतिद्वन्द्विता बहुत समय से चली आ रही थी और शाही वंश से सम्बन्ध रखने वाली शाइस्ता ख़ाँ और वज़ीर जाफर ख़ाँ की पत्नियाँ और बादशाह की बहन जहानआरा शिवाजी का खून करवाना चाहती थीं। इन दोनों कारणों से बादशाह ने शिवाजी के वध का पक्का विचार कर लिया। जसवन्तसिंह के नेतृत्व में रहनेवाली राठौर पार्टी जयसिंह को अपमानित करना चाहती थी और इसीलिये वह शिवाजी के विरुद्ध थी क्योंकि वह जयसिंह की संरक्षकता में था। फलतः बादशाह ने शिवाजी के मरवा डालने का या किसी किले में नज़रबन्द करने का निश्चय कर लिया। सबसे पहले उसके निवास-स्थान के चारों ओर रक्षक नियुक्त किये गये। इसके बाद शिवाजी को रादनदाज़ ख़ाँ के यहाँ ले जाने की आज्ञा हुई। रादनदाज़ ख़ाँ अपनी निर्दयता के लिये कुख्यात था और आगरे किले के शाही कैदियों का अधिकारी था। रामसिंह ने औरंगज़ेब के इस निर्णय का विरोध किया और शिवाजी के चरित्र की तब तक की लिखित ज़िम्मेदारी ले ली जब तक वह आगरे में रखा जाय। इस पर शिवाजी 'जयपुर भवन' में रखा गया। वास्तव में औरंगज़ेब इस निर्णय से सन्तुष्ट न था अतः उसने शिवाजी को अफ़गानिस्तान के युसुफज़ई और अफरीदी कबीलों से लड़ने के लिये रादनदाज़ के साथ जाने की आज्ञा दी। औरंगज़ेब की हार्दिक इच्छा थी कि शिवाजी मार्ग में मरवा दिया जाय और दुनिया को धोखा देने के लिये यह घोषणा कर दी जाय कि

उसकी मृत्यु किसी दुर्घटना से हुई है। औरंगज़ेब जयसिंह के उत्तर की प्रतीक्षा में था जिसके द्वारा वह यह जानना चाहता था कि उसने शिवाजी को क्या वचन दिया है। इस प्रतीक्षा के कारण उपरोक्त षड्यन्त्र तुरन्त कार्य रूप में परिणत न किया जा सका। इसी बीच में शिवाजी ने लम्बी लम्बी घूसों से मुग़ल-मंत्रियों और बड़े बड़े अफसरों को अपने पक्ष में कर लिया और मन्त्रियों के द्वारा अपने पिछले कर्मों की क्षमा-प्रार्थना की। बादशाह ने उसे क्षमा नहीं किया किन्तु उसके अफ़ग़ानिस्तान के भेजने की आज्ञा को रद्द कर दिया। इसके बाद शिवाजी ने औरंगज़ेब को दो करोड़ रुपये भी भेंट में देने चाहे यदि वह उसे घर जाने की आज्ञा दे दे और उसके सब किले उसे वापिस दे दे। उसने बीजापुर के विरुद्ध भी लड़ने का वचन दिया। औरंगज़ेब ने शिवाजी की प्रार्थना ठुकरा दी और उसकी निगरानी के लिये उसके निवास-स्थान के बाहर आगरे के पुलिस कोतवाल सिद्दी फौलाद की अध्यक्षता में एक सेना कुछ तोपों के साथ नियुक्त कर दी। उसके अन्दर के निवास-स्थान की निगरानी रामसिंह के आदमी दिन-रात करते थे। शिवाजी अब बन्दी बना दिया गया था। उसने अपने ही साधनों से निकल भागने की एक योजना बनाई। उसने रामसिंह से अपनी ज़मानत वापस ले लेने के लिये कह दिया। इसके बाद उसने अपनी सारी सेना को दक्खिन भेज दिया। फिर उसने सन्यास ले लेने की घोषणा की और बादशाह से प्रार्थना की कि वह उसके शेष जीवन को इलाहाबाद में बिताने की आज्ञा दे दे। औरंगज़ेब ने उत्तर दिया कि वह इलाहाबाद के किले में रखा जायगा और वहाँ का मुग़ल गवर्नर उसकी देखभाल भलीभाँति करेगा। अब शिवाजी ने रोगी होने का बहाना किया वह ब्राह्मणों तथा साधु-संतों को मिठाई की टोकरियाँ अपने निवास-स्थान से बाहर भिजवाने लगा। १६ अगस्त (पुरानी गणना के अनुसार १६) के तीसरे पहर वह और उसका पुत्र शंभाजी बहंगो में रखी हुई दो टोकरियों में बैठकर निकल गये। शिवाजी का एक सौतेला भाई हीरोजी फरज़न्द था जो आकृति में शिवाजी से मिलता जुलता था। उसे मराठा सरदार का सोने का कड़ा पहना कर और बाँह फैला कर शिवाजी के बिस्तर पर लिटा दिया गया। टोकरियाँ आगरे से बाहर सुनसान स्थान में पहुँचीं जहाँ से शिवाजी और उसका बेटा नगर से ६ मील दूर के एक गाँव में पहुंच गये। वहाँ पर नीराजी रावजी घोड़ों सहित उपस्थित था। अब मंडली ने हिन्दू-सन्यासियों का वेश धारण कर लिया और घोड़ों पर चढ़ कर मथुरा चले गये। मथुरा में अपने पुत्र शंभाजी को एक मरहठा परिवार की देख रेख में रख दिया और आप इलाहाबाद के लिये पूर्व की ओर चल दिये। वहाँ से उन्होंने बुन्देलखंड की सड़क पकड़ी और गोंडवाना और गोलकुन्डा होते हुए अपने आगरा भागने से पच्चीसवें दिन २२ सितम्बर १६६६ को रायगढ़ पहुँच गये। आगरे में शिवाजी का भागना ३० अगस्त के प्रातःकाल १० बजे

के लगभग ज्ञात हुआ। दो घण्टे बाद हीरोजी मकान से चुपके से निकल गया और जाते समय रक्षकों से कहता गया कि वे शोर न करें क्योंकि शिवाजी बीमार हैं। फौलाद ख़ाँ ने सम्राट को घटना की सूचना देते हुए कहा कि शिवाजी उसके आदमियों की आँखों से अचानक ओझल हो गया। वह जादू से या तो आकाश में छिप गया अथवा धरती में समा गया। औरंगज़ेब ने इस बात पर विश्वास नहीं किया। उसने भगोड़े को गिरफ्तार करने के लिए दक्खिन को जाने वाली सड़कों की देखभाल करादी किन्तु खोज का सारा परिश्रम व्यर्थ रहा। सम्राट को विश्वास हो गया कि मराठा सरदार रामसिंह की असावधानी से ही भागा है। पहले उसने उसका दरबार में आना रोका और फिर उसे नौकरी से अलग कर दिया। दक्षिण में जयसिंह को बड़ा दुःख हुआ कि उसके सारे किये-धरे पर पानी फिर गया और उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। शिवाजी के गिरफ्तारी-काल में उसको उसकी सुरक्षा की बड़ी चिन्ता थी क्योंकि वह इसके लिए वचनबद्ध था। अब वह अपने और अपने पुत्र के भविष्य के लिए चिन्तित हो गया। उसने सम्राट को लिखा कि वह शिवाजी को भेंट के लिए राज़ी कर उसे मरवा डालेगा। औरङ्गज़ेब को शिवाजी के भागने का आजीवन दुःख रहा। वह जयसिंह से सन्तुष्ट न हुआ और उसे दक्षिण से हटा दिया। राजा जयसिंह ने दक्खिन के राज्यपाल का अपना कार्य-भार युवराज मुअज़्ज़म को सौंप दिया और आगरा जाते समय ७ सितम्बर १६६७ को बुरहानपुर में स्वर्ग सिधार गया।

मुग़लों के साथ संधि, १६६७–६९

बन्दी होने के कारण और कठिन यात्रा के कारण शिवाजी का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, अतः वह लौटने पर दो बार बीमार पड़े और लम्बा विश्राम लेने के लिये विवश हो गये। इसके अतिरिक्त नया गवर्नर (सूबेदार) मुअज़्ज़म आरामतलब आदमी था और उसका दाहिना हाथ जसवन्तसिंह शिवाजी से सहानुभूति रखता था। वे दक्षिण में व्यर्थ के आक्रमण के विरुद्ध थे। औरङ्गज़ेब को अवकाश नहीं था क्योंकि उसे फारस के हमले का डर था और उसे उत्तर-पश्चिम की सीमा के युसुफ़ज़ई और दूसरे कबीलों की भयानक क्रान्ति को दबाना था जिसके लिये उसे अपनी सेना की टुकड़ियाँ भेजनी पड़ी थीं। इन कारणों से शिवाजी लगभग तीन वर्ष तक चुपचाप रहे। कुछ मास बाद उन्होंने औरङ्गज़ेब को लिखा कि वह सम्राट की ओर से दक्षिण में युद्ध करने के लिये तैयार हैं। उन्होंने जसवन्तसिंह को भी लिखा कि वह शंभूजी को युवराज मुअज़्ज़म की सेवा में भेजने के लिये तैयार हैं यदि वह (शिवाजी) सम्राट द्वारा क्षमा कर दिये जायें। औरंगज़ेब ने युवराज मुअज़्ज़म द्वारा की हुई संधि के लिये सिफारिश को मान कर शिवाजी की 'राजा' की उपाधि को मान्यता दे दी।

शिवाजी ने १६६७-६६ के तीन वर्ष राज्य को सुदृढ़ और सुव्यवस्थित करने में ही लगाये। उसने बहुत अच्छे अच्छे नियम बनाकर अपने शासन का फिर से संगठन किया जिससे उनकी सरकार दृढ़ हो गई और जनता की बहुत भलाई हुई। इन नियमों का वर्णन इस अध्याय के अन्त में किया जायेगा।

मुग़लों के साथ पुनः युद्ध, १६७०

औरंगज़ेब का हृदय साफ नहीं था। उसे सन्देह था कि मुअज़्ज़म शिवाजी का मित्र है अतः उसने शिवाजी को दुबारा जाल में फंसाने की योजना बनाई। उसने सोचा कि यदि वह इस योजना में असफल रहा तो वह शंभूजी को गिरफ्तार कर कैदी बना कर रखेगा। अब शिवाजी और मुग़लों का मैत्री-सम्बन्ध टूट गया। इसके दो कारण थे, एक तो शिवाजी ने मुग़लों की उस सेना को अपने यहाँ भर्ती कर लिया जिसे दक्षिणी मुग़ल सूबेदार ने आर्थिक-संकट के कारण पृथक कर दिया था। दूसरे औरंगज़ेब शिवाजी की नई जागीर के एक भाग को कुर्क करके उससे एक लाख रुपये वसूल करना चाहता था जो उसने उसे १६६६ में आगरा आने के लिये पेशगी दिया था। अतः शिवाजी ने अपनी फौज़ को मुग़ल-सेवा से वापस बुला कर मुग़ल-प्रदेश पर चढ़ाई की तैयारी करदी। उसने 'पुरन्दर-संधि' के द्वारा सौंपे गये अपने अनेक किले फिर जीत लिये। इन किलों में सबसे महत्वपूर्ण किला कोंडन था जिसे तानाजी मलुसरे ने दीवाल पर चढ़ कर जीता था। तानाजी अपनी उज्ज्वल विजय में यहाँ स्वर्गवासी हुए थे अतः शिवाजी ने फरवरी १६७० में उन्हीं के नाम पर इस दुर्ग का नाम 'सिंहगढ़' रख दिया। इसके बाद 'पुरन्दर' का पतन हुआ और फिर कल्याण, भिवन्डी, माहुली इत्यादि दूसरे दुर्गों का पतन होता गया। शिवाजी ने अपनी फौज़ी टुकड़ियों को मुग़ल-प्रदेश के अनेक भागों को लूटने के लिये भेजा। अहमदनगर, जुन्नार और परेन्दा के निकट के ५१ गाँवों को उन्होंने स्वयं लूटा। मराठों की सफलता शिवाजी के साहस, सेना की योग्यता और शाहज़ादा मुअज़्ज़म और दिलेर खाँ के मतभेद के कारण हुई थी। शाहज़ादा और दिलेरख़ाँ की कलह ने गृह-युद्ध का रूप धारण कर लिया था जिसका लाभ उठाकर शिवाजी ने १३ अक्टूबर १६७० को सूरत पर तेजी का धावा बोल कर उसे दुबारा लूट लिया। तीन दिन की लूट में शिवाजी के हाथ लगभग ६६ लाख रुपयें का माल लगा। देश के सबसे समृद्ध बन्दरगाह की बड़ी हानि हुई जिससे इसका व्यापार लगभग चौपट हो गया। दाउदख़ाँ कुरेशी ने शिवाजी के सूरत से लौटने पर मार्ग में रोकना चाहा किन्तु मराठा सरदार ने लूट के सामान को चालाकी से सुरक्षित घर भेज कर दाउदख़ाँ को हरा दिया।

इसके बाद शिवाजी ने बरार, बगलान और ख़ान देश पर अचानक धावा

बोल कर विजय प्राप्त की। दिसम्बर १६७० में उन्होंने ख़ानदेश पर आक्रमण कर बगलान ज़िले के कुछ किलों पर अधिकार कर लिया। उसके प्रधान सेनापति प्रताप राव गूजर ने बहादुरपुर को लूटकर बरार पर आक्रमण किया और करंजा नगर को लूट डाला। अब शिवाजी मुग़लों के जिस प्रदेश से भी गुज़रे उन्होंने वहीं से चौथ वसूल करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने घोषणा करदी कि महाराष्ट्र उनका है मुग़लों का नहीं। उन्होंने पेशवा मोरोपन्त पिंगले को बगलान भेजा और उसने त्रिम्बक और दूसरे किलों को जीतकर ख़ानदेश और गुजरात की सीमा के सलहेर किले का घेरा डाल दिया। शिवाजी ने भी इसमें भाग लिया और १५ जनवरी १६७१ को सलहेर जीत लिया गया।

शिवाजी के विनाशकारी कार्यों से अत्यन्त क्रुद्ध औरङ्गज़ेब ने महताब ख़ाँ को दक्खिन भेजा और उसकी सहायता के लिये गुजरात के बहादुर ख़ाँ को भी आज्ञा दी। यह सेनापति भी मराठा सरदार के खदेड़ने में असफल रहा अतः सम्राट ने उसे वापिस बुलाकर बहादुर ख़ाँ और दिलेर ख़ाँ को दक्षिण के हमले का भार सौंपा। इन दोनों ने सलहेर का घेरा डाला। कुछ टुकड़ियों को घेरा डाले रहने के लिये छोड़कर दोनों सेनापतियों ने पूना और सूपा पर तेज़ी का धावा बोलकर पूना को लूट लिया। शिवाजी ने तनिक भी न घबड़ाकर ख़ानदेश में मुग़लों पर ऐसी मार बजाई कि बहादुर-ख़ाँ और दिलेर ख़ाँ को विवश होकर पूना से इख़लास ख़ाँ की सहायता के लिये दौड़ना पड़ा जो कि सलहेर किले पर बड़ी आपत्ति मे फंस गया था। सलहेर के भीषण युद्ध में फरवरी १६७२ में मुग़ल बिलकुल खदेड़ दिये गये और सलहेर और मुलहेर पर मराठों का फिर अधिकार हो गया। औरंगज़ेब सलहेर पर मुग़ल-पराजय सुनकर बहुत दुःखी हुआ और बहादुर ख़ाँ तथा दिलेर ख़ाँ को बुरी तरह फटकारा।

सलहेर और मुलहेर पर अधिकार हो जाने के बाद पेशवा मोरोपंत ने उत्तरी कोनकन पर अचानक आक्रमण किया और जून १६७२ में जवाहर और रामनगर को जीत लिया। शिवाजी के जन्म स्थान शिवनेर को छोड़कर बगलान के लगभग सभी किले मराठों के अधिकार में आ गये। बहादुर ख़ाँ और दिलेर ख़ाँ ने मराठा राज्य के विस्तार को रोकने का पूरा प्रयत्न किया। उन्होंने अपने प्रधान कार्यालयों को औरंगा-बाद से पूना की पूर्व दिशा में भीमा नदी के किनारे पैढगाँव मे बदल दिया और अपनी सुविधा के अड्डे से शिवाजी को भयभीत करने के लिये वहाँ बहादुरगढ़ नाम का किला बनवाया। किन्तु फिर भी उनके मनसूबे पूरे न हो सके।

१६७२ के अन्त में शिवाजी और बीजापुर का फिर सम्बन्ध विच्छेद हो गया। मराठा सरदार के लिये अपने दक्षिणी राज्य की सुरक्षा के लिये पन्हाला दुर्ग पर

अधिकार करना अनिवार्य हो गया था अतः उसने अन्नाजी दत्तो को इस पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। अन्नाजी ने कोनडाजी बावलेकर की सहायता से पन्हाला दुर्ग पर १६ मार्च १६७३ की रात्रि में आक्रमण कर दिया। मराठों ने रस्सी और सीढ़ी की सहायता से दीवाल पर चढ़ कर दुर्ग का द्वार खोल दिया। फिर उन्होंने रक्षकों पर आक्रमण किया और किलेदार बाबूखाँ को मार कर किले पर अधिकार कर लिया। यहाँ उन्हें गढ़ा हुआ बहुत सा ख़ज़ाना मिला। सतारे और पारली की भी यही दशा हुई। सुलतान ने पन्हाला को वापस लेने के लिये बहलोल ख़ाँ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना भेजी किन्तु मराठों के प्रधान सेनापति प्रतापराव गूजर ने उसकी रसद को रोक कर उसे अपने जाल में फांस लिया। बहलोलख़ाँ ने हार कर शरण मांगी और वह मुक्त कर दिया गया। किन्तु उसने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर मराठों पर आक्रमण कर दिया। शिवाजी ने अपने प्रधान सेनापति को दण्ड दिया क्योंकि उसने बहलोल खाँ को बिना क्षति पहुँचाये भाग जाने दिया था जो कि एक अनुपयुक्त उदारता थी। प्रतापराव के स्वाभिमान को ठेस लगी अतः उसने बहलोल ख़ाँ को युद्ध के लिये ललकारा और उसे सुरक्षित स्थान से बाहर लाने के लिये हुबली नगर को लूट लिया। बहलोल ख़ाँ और सरज़ा ख़ाँ बीजापुर प्रदेश की रक्षा के लिये गये। प्रतापराव ने अपने केवल ६ सैनिकों के साथ उन पर आक्रमण किया और ४ मार्च १६७४ को गर्ग-हिंगलाज के पास नेसारी के तंग दर्रे पर टूट पड़ा जो घटाप्रभा नदी से १ मील उत्तर में था। शत्रु की बहुत बड़ी सेना ने उसे जीतकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

आनन्दराव सेनापति प्रतापराव का प्रधान सहायक था, उसने प्रतापराव की मृत्यु का बदला लेने के लिये तेज़ी का धावा बोल कर बहलोल की जागीर के प्रधान नगर सॉंपगाँव को लूट डाला। इस लूट में उसके हाथ डेढ़ लाख हून लगे। किन्तु बहलोल ख़ाँ हाथ न आया। शिवाजी ने स्वर्गीय प्रतापराव गूजर के स्थान पर हसाजी मोहिते को सबसे बड़े सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया।

शिवाजी का राज्याभिषेक, १६७४

यद्यपि शिवाजी अपने राज्य का विस्तार कर स्वतन्त्र सम्राट के रूप में शासन करने लग गये थे किन्तु बीजापुर का सुलतान उन्हें अब भी विद्रोही ही समझ रहा था। मुग़ल सम्राट उन्हें एक सफल अनियमित सिंहासनाधिकारी मानता था और वंश परम्परा से प्रमुखता प्राप्त करने वाले अनेक मराठा परिवार उसे एक ऐसा नया अमीर मानते थे जिसके दादा एक साधारण खेतिहर थे। शिवाजी ने अपने मन्त्रियों की सलाह से शास्त्रानुसार अपना राज्याभिषेक कर राजा की उपाधि प्राप्त करना आवश्यक समझा जिससे कि भारत की दूसरी सरकारें उसके अधिकार को मानकर

उसके साथ समानता का व्यवहार करने लग, उसकी आज्ञा और संधियों को कानूनी मान्यता दे दी जाय और समाज के उन मराठा परिवारों में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाय जो उन्हें अब तक अपने से हीन अथवा अपने समान समझते रहे थे। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्र के विचारशील नेता हिन्दू-छत्रपति की अधीनता में हिन्दू-स्वराज्य की स्थापना के लिये अत्यन्त उत्सुक थे। अतः शिवाजी ने समारोह के साथ राज्याभिषेक का शास्त्रानुकूल महोत्सव करने का निश्चय कर लिया।

इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि शिवाजी क्षत्रिय न होने के कारण हिन्दू शास्त्रानुसार राज्याभिषेक के अधिकारी नहीं समझे जाते थे। महाराष्ट्र के कट्टर ब्राह्मण उनको क्षत्रिय नहीं मान रहे थे। शिवाजी ने काशीवासी श्री विश्वेश्वर जी से राज्याभिषेक की विधि को सम्पन्न कराने की प्रार्थना की। श्री विश्वेश्वर जी गागभट्ट नाम से पुकारे जाते थे और काशी के पण्डितों में सबसे अधिक विद्वान और प्रसिद्ध पण्डित थे। गागभट्ट चारों वेद, षट् शास्त्र और अन्य समस्त हिन्दू धर्म शास्त्रों के विद्वान् थे और आधुनिक युग के 'ब्रह्मदेव' और 'व्यास' माने जाते थे। इन्होंने शिवाजी की प्रार्थना स्वीकार कर उन्हें क्षत्रिय मान लिया और रायगढ़ में आकर राज्याभिषेक कराना स्वीकार कर लिया। राज्याभिषेक की तैयारी शुरू हो गई और इसके सम्बन्ध में शास्त्रों का मथन करने के लिये अनेक विद्वान् ब्राह्मण नियुक्त कर दिये गये। उदयपुर और आमेर राज्यों के क्षत्रिय राजाओं के राज्याभिषेक की विधि के जानने के लिये बड़े-बड़े विद्वान् वहाँ भेजे गये। भारत के विभिन्न प्रान्तों के विद्वान् ब्राह्मण निमन्त्रित किये गये और कुछ तो अनिमन्त्रित भी आगये, इस समय ११,००० ब्राह्मण रायगढ़ में आये थे और इनके स्त्री बच्चों को लेकर तो इनकी संख्या ५०,००० हो गई थी। चार महीने तक इन सबका सत्कार मिठाइयों से होता रहा। भारत की लगभग सभी सरकारों के राजदूत और राज प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अंग्रेजी व्यापारी तथा अन्य युरोपीय व्यापारियों के प्रतिनिधियों ने भी इस महोत्सव में भाग लिया। दर्शकों एवं ब्राह्मणों तथा उनके परिवार के सदस्यों को लेकर तो आगन्तुकों की संख्या लगभग एक लाख के होगई थी। जब गागभट्ट आये तो शिवाजी ने कई मील आगे से उनकी अगवानी की।

जब शिवाजी महाराष्ट्र के प्रसिद्ध मन्दिरों के दर्शन कर लौट आये तब १६७४ की मई के मध्य में राज्याभिषेक का कार्य प्रारम्भ हुआ। उन्होंने चिपलूग में परशुराम मंदिर के दर्शन किये और प्रतापगढ़ में भवानी मन्दिर के। इनके अतिरिक्त वे और भी पवित्र स्थानों में गये जहाँ उन्होंने बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की। उन्होंने अब तक क्षत्रियों के आचरण का त्याग कर रक्खा था इसके निमित्त उन्होंने ७ जून को प्रायश्चित किया और फिर गागभट्ट ने उन्हें यज्ञोपवीत पहनाया। ८ जून को उन्होंने अपनी जीवित

पत्नियों के साथ क्षत्रिय विधि से फिर विवाह किया। इस संस्कार में क्षत्रिय को भी द्विज मानकर शिवाजी के गुरु तथा अन्य ब्राह्मणों ने वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया किन्तु शिवाजी को मन्त्रों का उच्चारण नहीं करने दिया गया। ब्राह्मणों ने कह दिया कि कलियुग में ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कोई द्विज नहीं है। दूसरे दिन शिवाजी ने जीवन के पाप-मोचन के लिये सात बार सात धातुओं से तुलादान किया। ये सात धातुएँ ये थीं (१) सोना (२) चाँदी (३) ताँबा (४) जस्ता (५) टीन (६) सीसा और (७) लोहा। महीन सुन्दर वस्त्र और दूसरी अनेक वस्तुओं के साथ साथ एक लाख हून भी ब्राह्मणों को दान में दिये गये। शिवाजी देशों को लूटते समय ब्राह्मण, गौ, स्त्री और बच्चों की हत्याएँ हुई थीं इस पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप उन्होंने ब्राह्मणों को ८,००० रुपये दान में और दिये।

१५ जून १६७४ की रात्रि में शिवाजी संयम से रहे और उन्होंने उस रात को कठिन तपस्या की। इस दिन गाग भट्ट को ५,००० हून और दूसरे विद्वान ब्राह्मणों को सौ सौ अशर्फियाँ दी गईं। १६ जून को राज्याभिषेक का शुभ मुहूर्त था। इस दिन शिवाजी ने बहुत तड़के उठ कर अपने कुलदेवताओं की पूजा की और अपने कुलगुरु बालम भट्ट, गाग भट्ट तथा अन्यान्य विद्वान ब्राह्मणों की चरण-वन्दना कर उन्हें वस्त्र और आभूषण भेंट किये। दूसरे दिन वे पवित्र श्वेत वस्त्र पहन कर और अलंकारों से सुसज्जित होकर सोने की चौकी पर विराजमान हुए। उनकी बांई ओर उनकी रानी सुशोभित थी जिनका आँचल शिवाजी के दुपट्टे से बाँध दिया गया था। उनके कुछ दूर पीछे युवराज शम्भूजी बैठे। सोने के आठ घड़ों में पवित्र नदियों का जल भरा गया जिन्हें लेकर आठ मन्त्री आठ कोनों पर खड़े हुए और फिर उन्होंने इस जल को शिवाजी, उनकी रानी और युवराज के सिरों पर डाला। इस समय मन्त्र और मंगल वाद्यों से आकाश गूँज गया। फिर सोलह सधवा ब्राह्मणियों ने सोने की थालियों में पंच प्रदीप लेकर हिन्दू शास्त्रानुसार उनकी आरती उतारी। इसके उपरान्त शिवाजी ने अपने वस्त्र उतार कर राजसी लाल वस्त्र एवं बहुमूल्य आभूषण धारण कर लिये। उन्होंने फिर अपने शस्त्रों की पूजा की और अपने गुरुजनों का अभिवादन किया। फिर वे अत्यन्त सुसज्जित सिंहासन-भवन में गये और वेद-मंत्र और मंगलगान और वाद्यों के साथ सिंहासन पर बैठे। सोलह सधवा ब्राह्मणियों ने उनकी आरती उतारी और विद्वान ब्राह्मणों ने मन्त्रों से उन्हें आशीर्वाद दिया। गाग भट्ट ने शिवाजी महाराज के ऊपर राजकीय छत्र लगा कर उन्हें 'छत्रपति' की उपाधि से विभूषित किया। राज्य के सब किलों में निश्चित समय पर एक साथ सलामी की तोपें छूटीं। इस अवसर पर शिवाजी ने ब्राह्मणों, प्रजा और भिखारियों को बहुत सा धन बांटा।

राज्याभिषेक के उपरान्त शिवाजी ने फरमान निकाले और आगन्तुकों से

मुलाकात की। उन्होंने उनकी भेंटें स्वीकार कर उन्हें राजकीय सम्मानों से विभूषित किया। इसके बाद वे अपने सर्वोत्तम घोड़े पर चढ़ कर किले के द्वार पर आये। यहाँ ये घोड़े से उतर कर हाथी पर चढ़े और अपनी तमाम सेना, सेनापति और मन्त्रियों के साथ राजधानी की गलियों में जुलूस के रूप में निकले। जुलूस के आगे दो हाथियों पर राजकीय झंडा फहरा रहा था।

निश्चलपुरी गोस्वामी नाम का एक प्रसिद्ध तान्त्रिक शिवाजी का पुरोहित था। इसने बताया कि गाग भट्ट ने जो राज्याभिषेक कराया वह अशुभ मुहूर्त में हुआ था और उसमें तान्त्रिक विधि को छोड़ दिया गया था। उसने यह भी बताया कि इसी कारण माता जीजा बाई का देहान्त राज्याभिषेक के दिन से बारह दिन के भीतर ही हो गया और शिवाजी पर अनेक आपत्तियाँ आईं। शिवाजी ने इसी तान्त्रिक की सलाह से ४ अक्टूबर १६७० को अपने राज्याभिषेक का दूसरा समारोह तान्त्रिक विधि से मनाया। इसमें निश्चलपुरी और उसके मित्रों को अच्छी अच्छी भेंटें दी गईं। इन दोनों राज्याभिषेकों में लगभग ५० लाख रुपये का व्यय हुआ।

मुग़लों से पुनः युद्ध

राज्याभिषेक की धूम-धाम में शिवाजी का ख़ज़ाना लगभग खाली हो गया और उन्हें धन की आवश्यकता आ पड़ी। अतः इन्होंने जुलाई में मुग़ल सेनापति बहादुर ख़ाँ को चकमा देने के लिये अपनी सेना भेजी जिसे रोकने के लिये उसे अपने प्रधान स्थान पड़गाँव को छोड़ना पड़ा। फिर शिवाजी ने दूसरी सेना भेज कर उसके शिविर पर धावा बुलवा दिया। यह धावा बहुत सफल रहा। इस लूट में एक करोड़ रुपये के साथ साथ दो सौ बढ़िया घोड़े भी शिवाजी के हाथ लगे। इस रुपये से शिवाजी ने अपनी सेना का वेतन चुका दिया।

बीजापुर के साथ कोई भी संधि नहीं हुई। अतः शिवाजी ने बीजापुर के कोली प्रदेश पर बरसात में आक्रमण करने के लिये अपनी सेना भेजी। सूरत के आस-पास मराठों का जमाव होने लगा जिसके कारण इस बन्दरगाह में सनसनी मच गई और यह खतरा तब ही टला जब मराठा-सेना औरंगाबाद के पास शिवाजी की सेना में मिल गई। उसने फिर बगलाना और खानदेश पर आक्रमण कर मुग़ल-हाकिम कुतुबुद्दीन ख़ाँ खेशगी को हरा कर अनेक शहरों को लूट लिया। फरवरी १६७५ के आरंभ में मराठों ने कोल्हापुर पर आक्रमण किया। वहाँ के निवासियों ने १,५०० हून मराठों को देकर नगर की रक्षा की।

सन् १६७५ के मार्च से मई तक शिवाजी ने बहादुर ख़ाँ से संधि की बातचीत की किन्तु इसका परिणाम कुछ भी नहीं निकला। शिवाजी वास्तव में सन्धि न कर

उसे चकमा ही देना चाहता था अत: असमंजस में पड़े हुए बहादुर ख़ाँ ने बीजापुर से समझौता कर शिवाजी पर मिल कर आक्रमण करने का विचार किया। औरंगज़ेब इस सलाह से बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इसकी स्वीकृति ही नहीं दी अपितु बीजापुर का एक साल का कर भी माफ कर देने को कह दिया। किन्तु बीजापुर दरबार में मतभेद हो जाने के कारण और मन्त्री ख़वास ख़ाँ के कारण यह हमला न हो सका। शिवाजी ने अपने हमले के काम को जारी रक्खा और कोल्हापुर पर अधिकार कर लिया। उसकी सेना की एक टुकड़ी ने बीजापुर और गोलकुन्डा के प्रदेशों तथा हैदराबाद नगर पर आक्रमण किया जिसमें उसके हाथ अच्छा माल लगा। मराठों की कुछ टुकड़ियों ने पुर्तगाली प्रदेश के बरोदा तथा अन्य स्थानों पर भी हमला किया। इस बीच में बहादुर ख़ाँ चुपचाप नहीं बैठा रहा। उसने १६७६ के आरंभ में कल्याण पर हमला किया किन्तु शिवाजी के बहुत बीमार होने पर भी वह सफल न होसका। स्वस्थ होने पर शिवाजी ने बीजापुर से संधि की फिर बातचीत की। इस समय बहादुर ख़ाँ ने बीजापुर पर आक्रमण कर रक्खा था अत: वह शिवाजी के साथ संधि करने को तैयार हो गया। उसने शिवाजी को तीन लाख रुपये नगद और एक लाख हून सालाना कर देना स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप शिवाजी ने मुग़लों से उसकी रक्षा करने का वचन दे दिया। इसके अतिरिक्त उसने शिवाजी द्वारा अधिकृत कृष्णा नदी का पूर्वी प्रदेश और कोल्हापुर ज़िला दे देना भी स्वीकार कर लिया। किन्तु शिवाजी और बीजापुर का समझौता बहुत दिन तक न रह सका क्योंकि बीजापुर राज्य का पतन हो रहा था जिसके कारण उसकी कोई भी नीति दृढ़ नहीं थी।

शिवाजी का कर्नाटक पर आक्रमण, १६७७-७८

शिवाजी ने जनवरी १६७७ में अपने जीवन के सबसे बड़े आक्रमण की तैयारी की और यह आक्रमण पूर्वी कर्नाटक पर किया गया। मुग़लों ने उत्तर में उनका मार्ग रोक दिया था अत: उन्हें दक्षिण में अपने प्रदेश बढ़ाने की अच्छी सुविधा मिल गई। कर्नाटक के मैदान और मद्रास का समुद्री तट बड़ा समृद्ध था और गड़े हुए ख़ज़ाने के लिये प्रसिद्ध था। इसे गोलकुण्डा और बीजापुर के सुल्तानों ने हथिया लिया था। गोलकुण्डा के सुल्तान ने कडापा और उत्तरी अरकाट ज़िला (पलार नदी तक) और शिकाकोल से सद्राज बन्दर तक मद्रास के समुद्र तट का सारा प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। इसके विपरीत बीजापुर के सुलतान ने कारनूल ज़िला, समस्त बंगलौर के उत्तर का समस्त मैसूरी पठार और तंजोर के समीप के बेलोर प्रदेश पर कब्जा कर लिया। शिवाजी ने सोचा कि वे बड़ी सरलता से कर्नाटक के स्वामी बन कर इस समृद्ध प्रदेश को और इसके बेलोर, जिंजी और तन्जोर नगरों को

अपने राज्य में मिला सकते हैं। इस पर आक्रमण करने का उन्हें एक बहाना भी सरलता से मिल गया। शिवाजी का सौतेला भाई व्यान्कोजी बीजापुर का एक आसामी था किन्तु मार्च १६७५ में यह तन्जोर का स्वामी बन बैठा था। व्यान्कोजी शिवाजी की सफलता से उससे जला करता था अत: वह अपनी सत्ता को विलीन करने को तैयार नहीं था। उसने अपने शक्तिशाली मंत्री रघुनाथ पंत हनुमन्ते से झगड़ा कर उसे पृथक कर दिया। रघुनाथ पन्त गोलकुण्डा के प्रसिद्ध हिन्दू प्रधान मन्त्री मादन्ना से जा मिला। उसने कर्नाटक पर शिवाजी और गोलकुण्डा के सम्मि-लित धावा करने की योजना बनाई। शिवाजी ने हमले की तैयारी कर दी। किन्तु दुनिया को यह दिखाया कि वह अपने सौतेले भाई से अपने पिता की सम्पत्ति का हिस्सा लेने जा रहा है। हमला करने से पूर्व शिवाजी ने अपने राज्य के आस पास के प्रदेश को सुरक्षित रखने के लिये दक्खिन के मुग़ल सूबेदार बहादुर ख़ाँ को लालच देकर संधि के लिये राज़ी कर लिया। शिवाजी ने नेताजी पालकर को भी अपने पक्ष में कर लिया। इसको औरंगज़ेब ने ज़बर्दस्ती मुसलमान बनाया था और इसने दस वर्ष तक मुहम्मद कुली नाम से उसकी सेवा भी की थी। शिवाजी ने जून १६७६ में इसे शुद्ध कर हिन्दू बना लिया। तैयारी हो जाने पर शिवाजी ने जनवरी १६७७ को रायगढ़ से हैदराबाद के लिये कूच किया। यहाँ के प्रधान मंत्री मादन्ना ने कई मील पूर्व शिवाजी का स्वागत किया और नगर में उनका एक बड़ा भारी जुलूस निकला। सुल्तान ने आगे बढ़कर शिवाजी को गले लगाया और शाही मसनद पर अपनी बगल में बिठाया। दक्षिणी प्रदेशों पर आक्रमण करने का एक मसौदा तैयार हुआ जिसकी शर्तें इस प्रकार थीं :—

(१) सुल्तान को मराठा सेना के व्यय के लिये ४॥ लाख रुपया प्रति मास देना होगा।

(२) उसे हमले में शामिल होने के लिये मिर्ज़ा मुहम्मद के नेतृत्व में ५,००० सैनिक रखने होंगे।

(३) जीते हुए प्रदेशों को दोनों पक्ष बराबर बांट लेंगे।

(४) यदि मुग़लों ने किसी पर भी हमला किया तो दोनों मिल कर उसका मुकाबला करेंगे।

(५) शिवाजी का एक राज-प्रतिनिधि हैदराबाद में स्थायी रूप से रहेगा।

(६) शिवाजी सुल्तान को एक लाख हून सालाना कर के रूप में देता रहेगा।

शिवाजी ने बीजापुरी कर्नाटक पर अपनी सेना पहले से भेजकर मार्च के अन्त में हैदराबाद से वहाँ के लिये कूच कर दिया। उसने मार्ग में अनेक तीर्थों के दर्शन

किये और कारनूल में चौथ वसूल की। बीजापुर के जिन्जी किले पर अधिकार करने के लिये ५,००० सिपाहियों की एक फौज़ी टुकड़ी भेजी गई। इस किले के क़िलेदार नासिर मुहम्मद ख़ाँ ने शिवाजी से ५०,००० रुपये की वार्षिक आय की जागीर लेकर किले को उनके सुपुर्द कर दिया। शिवाजी ने किले का निरीक्षण कर उसे अपनी कर्नाटक सरकार की राजधानी बना दिया। उन्हाने यहाँ के राज कर की वसूली में भी सुधार किया। इसके बाद उन्होंने वेलूर किले का घेरा डाल दिया। वेलूर का किला जल्दी ही जीतने योग्य नहीं था। अतः शिवाजी ने इसकी विजय का भार तो अपने आदमियों पर छोड़ा और आप कर्नाटक के उस भाग के स्वामी शेर खाँ लोदी पर आक्रमण करने के लिये चले गये। शेर ख़ाँ लोदी ने इसके लिये पोंडीचेरी के फ्रांसीसियों की भी मदद माँगी थी किन्तु शेर ख़ाँ को हार कर शरण में आना पड़ा। उसने १५ जुलाई १६७७ को शिवाजी से मुलाकात कर २०,००० हून युद्ध के व्यय-स्वरूप भेंट किये। उसने अपने सारे प्रदेश को शिवाजी को सौंप दिया और बाकी रुपये के न देने तक अपने पुत्र को जामिन के रूप में रख दिया। उसने १ फरवरी १६७८ को अपना बाकी रुपया चुका दिया जिससे उसके पुत्र को उसके पास चले जाने की आज्ञा मिल गई। इसी वर्ष की जुलाई के अन्त में वेलूर दुर्ग भी जीत लिया गया और मदुरा का नायक कर के रूप में ६ लाख हून देने को राजी हो गया। तुङ्गभद्रा से लेकर कावेरी तक का सारा कर्नाटक समुद्री प्रदेश शिवाजी के अधिकार में आ गया। शिवाजी ने फौज़ी एवं नागरिक शासन-प्रणाली को नियमित रूप से चलाने के लिये उसमें बड़ी शीघ्रता से सुधार किया और हाल के जीते हुए देशों की सुरक्षा के लिये रक्षक दलों की स्थापना की। यह सब करने के बाद शिवाजी शानदार विजय के साथ स्वदेश को लौट आये।

व्यंकोजी के साथ आख़िरी निपटारा

जुलाई १६७८ में मैसूर और पूर्वी कर्नाटक के अधिकारी तथा शिवाजी के सौतेले भाई व्यंकोजी शिवाजी से मिले और दोनों भाइयों ने एक सप्ताह साथ साथ बिताया। किन्तु व्यंकोजी को शिवाजी की ओर से कुछ सन्देह हो गया, अतः वह तन्जोर को भाग गया। शायद शिवाजी तो अपनी पैत्रिक सम्पत्ति के लिए उत्सुक न थे किन्तु व्यंकोजी के भूतपूर्व प्रधानमंत्री रघुनाथ पंत हनुमन्ते के उकसाने पर उन्होंने व्यंकोजी से शाहजी के आधे प्रदेश उससे मांगे। व्यंकोजी ने कपट के साथ कहा कि वह तो सुलतान का राज-भक्त आसामी है अतः वह उसकी आज्ञा के अनुसार ही काम करेगा। इसके परिणामस्वरूप दोनों में मनमुटाव हो गया और व्यंकोजी ने अपनी सुरक्षा के लिये मदुरा और मैसूर के राजाओं की शरण मांगी। उसने बीजापुर से भी सहायता चाही किन्तु राज्य के पतनोन्मुख होने के कारण उसने शिवाजी से

लड़ाई मोल लेना उचित न समझ कर इसकी सहायता नहीं की। शिवाजी ने अन्य उपाय न देखकर व्यंकोजी के कावेरी के उत्तरी प्रदेश के साथ साथ उसके आसी, कोलार, होसकोटे, बंगलौर, वेलापुर और शीरा ज़िलों को छीन लिया और उनकी देख-रेख के लिये एक सूबेदार नियुक्त कर दिया। शिवाजी के महाराष्ट्र लौट आने पर व्यंकोजी ने शिवाजी के सूबेदार हम्मीर राव मोहिते पर धावा बोल दिया किंतु वह हार गया। शिवाजी ने एक पत्र लिखकर उसे फटकारा और बीजापुर के मुसलमानों के हाथ में न खेलने के लिये उसे चेतावनी भी दे दी। अन्त में रघुनाथ पंत के सत्प्रयत्नों से दोनों भाइयों में मित्रतापूर्ण समझौता हो गया। शिवाजी ने व्यंकोजी के लगभग सभी प्रदेशों को लौटा दिया किन्तु शर्त यह लगा दी कि वह बीजापुर सुलतान की राज-भक्ति छोड़ कर उनका आसामी होना स्वीकार कर लेगा। रघुनाथ पन्त को एक लाख हून की आय की जागीर वंश परम्परागत उपयोग के लिये इनाम में दी गई। यद्यपि व्यंकोजी को अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण बहुत खला किन्तु उसने तंजोर का शासन बड़ी उदारता और सफलता के साथ किया।

शिवाजी के कर्नाटक में फँसे रहने पर मुग़ल सूबेदार बहादुर ख़ाँ ने बीजापुर पर आक्रमण किया किन्तु उसे हार कर भागना पड़ा। औरंगज़ेब ने उसे धिक्कारा और पदच्युत कर दिया तथा १ अगस्त १६७७ में दिलेर ख़ाँ को दक्खिन का सबसे बड़ा सूबेदार बना दिया। दिलेर ख़ाँ ने गोलकुण्डा पर धावा बोल दिया क्योंकि उसने शिवाजी के साथ समझौता कर लिया था। इस समाचार को सुनकर शिवाजी को अपने राज्य पर मुग़लों के आक्रमण का भय हो गया अतः वे कर्नाटक का प्रबन्ध अपने आदमियों के हाथ में सौंप कर वहाँ से अपनी राजधानी को लौट आये। शिवाजी ने पनहाला से तन्जोर तक एक दृढ़ रक्षा पंक्ति स्थापित की। मार्ग में बेलगाँव से दक्षिण-पूर्व के छोटे बेलवाडी नामक गांव की देसाई सावित्री बाई ने उनका मुकाबला किया किन्तु शिवाजी ने इस गाँव को अपने अधिकार में ले लिया।

शिवाजी जब तक कर्नाटक में अनुपस्थित रहे तब तक अन्नाजी दत्तो और मोरोपन्त पिंगले पश्चिमी समुद्री तट पर दक्षिण और उत्तर की ओर मराठा राज्य को बढ़ाते रहे। उन्होंने बरोच को भी लूट लिया।

शिवाजी और जंजीरा के सिद्दी लोग

शिवाजी की उत्कट इच्छा थी कि समुद्र की ओर राज्य की पश्चिमी सीमा का विस्तार किया जाय जिससे मज़बूत जहाजी बेड़े द्वारा देश की सुरक्षा के साथ विदेशों से व्यापार भी हो सके। बम्बई के दक्षिण में पश्चिमी समुद्री तट पर थाना से

लेकर रत्नागिरि तक कोनकन प्रदेश फैला हुआ था। शिवाजी का प्रारम्भिक जीवन यहीं से आरम्भ हुआ था। १६७५ में उन्होंने गोआ के दक्षिण में बीजापुर राज्य के पोंडा और कारवार के समुद्री अड्डों पर अधिकार कर लिया और पड़ौसी सोन्धा राज्य को भी अपने राज्य में मिला लिया। कोलाबा से मलवान का पश्चिमी समुद्री तट तथा कोलाबा, सुवर्ण दुर्ग, विजय दुर्ग और सिन्दु दुर्ग के सुरक्षित अड्डे तो उनके अधिकार में पहले से ही आ गये थे। उन्होंने अपने समुद्री प्रदेशों को दो गवर्नरों के अधिकार में रक्खा। राजपुरी से मलवान तक का प्रदेश एक हाकिम के अधिकार में और मलवान से धारवार तक दूसरे के अधिकार में। किन्तु इन दोनों प्रदेशों के बीच में आये हुए चौल और जंजीरा विदेशियों के ही अधिकार में रहे। इसी प्रकार पुर्तगालियों के गोआ पर भी अधिकार नहीं किया जा सका।

बम्बई से ४५ मील दक्षिण में जंजीरा नाम का एक पथरीला द्वीप था। यह राजपुरी खाड़ी के मुहाने को घेरे हुए था। सिद्दी नाम से प्रसिद्ध एक हब्शी परिवार का इस पर अधिकार था। पहले यह अहमदनगर के सुलतान के अधिकार में था किन्तु अहमदनगर राज्य के विभाजन के बाद १६३६ में यह बीजापुर को मिल गया। सिद्दियों के अधिकार में वर्तमान कोलाबा ज़िले का बहुत सा भाग था। इनका प्रधान स्थान डान्डा-राजपुरी कस्बा था और इनके पास एक शक्तिशाली जहाज़ी बेड़ा था। जब शिवाजी ने कोनकन प्रदेश के बहुत बड़े भाग पर विजय कर ली तब उनकी इन सिद्दियों से मुठभेड़ हुई। इस मुठभेड़ का होना आवश्यक ही था क्योंकि कोनकन प्रदेश का कोई भी शासक तब तक सुरक्षित नहीं रह सकता जब तक वह पश्चिमी समुद्र तट पर और जंजीरा द्वीप पर अधिकार न कर ले। सिद्दियों के लिये भी इस समुद्री तट की भूमि पर अधिकार रखना जीवन-मरण का प्रश्न था क्योंकि यही भूमि उनके भोजन और आय का साधन थी। सिद्दी समुद्र के मर्द थे और शिवाजी स्थल युद्ध में अजेय थे। उन्होंने सिद्दियों को हरा कर डान्डा-राजपुरी पर अधिकार कर लिया। शिवाजी ने जंजीरा के महत्व को समझकर उस पर आक्रमण किया और सात सौ जहाज़ों का एक मज़बूत जहाज़ी बेड़ा बनवाया जिसमें सब तरह के छोटे बड़े जहाज थे और चार सौ तो केवल जंगी जहाज थे। यह बेड़ा दो भागों में विभक्त था और दरिया सारंग नाम के समुद्री-सेनानायक के अधिकार में था। १६६९ में शिवाजी ने सिद्दियों पर जो हमला किया उससे वे तिलमिला गये। उनका नेता फतह ख़ाँ तो इतना निराश हो गया कि उसने मराठा राजा से संधि करने का निश्चय कर लिया। उसने उसे जंजीरा सौंप कर उससे समुद्री-तट की जागीर लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। किन्तु उसके दो साथियों ने १६७१ में औरंगज़ेब की राज-भक्ति स्वीकार कर फतह ख़ाँ का विरोध किया। औरंगज़ेब ने सिद्दी सम्बल को समुद्री सेनानायक (एड-

मिरल) नियुक्त किया और उसे तीन लाख रुपये की वार्षिक आय की जागीर प्रदान की। उसने सिद्दी कासिम को जंजीरा का अधिकारी बनाया। इसने फरवरी १६७१ में अचानक हमला कर डंडा दुर्ग तथा कोलाबा ज़िले के कई ज़िले छीन लिये। शिवाजी ने डंडा के लेने के अनेक प्रयत्न किये किन्तु सदा असफल रहे। यद्यपि उन्होंने १६७९ तक कोनकन प्रदेश के सारे समुद्री तट पर अपना पूरा अधिकार जमा लिया था और सिद्दी और मराठों में निरन्तर युद्ध भी होता रहा किन्तु न तो शिवाजी जीवन के अन्त तक जंजीरा पर विजय पा सके और न ही उनका पुत्र शम्भूजी।

शम्भूजी का परित्याग

शिवाजी के ज्येष्ठ पुत्र शम्भूजी का पालन-पोषण भली भाँति किया गया था और उसको उचित सैनिक-शिक्षा भी दी गई थी किन्तु फिर भी वह दुराचारी हो गया था। जब पिता के उपदेश और चेतावनी व्यर्थ सिद्ध हो गई तब उसे १६७६ में गिरफ्तार कर श्रृंगारपुर में नज़रबन्द कर दिया गया। उसे बड़े अच्छे-अच्छे उपदेश दिये गये और वह बहुत बड़े भारी धर्मोपदेशक श्री रामदास के सम्पर्क में लाया गया। किन्तु इस सबका परिणाम कुछ भी नहीं निकला। अतः शिवाजी ने १६७८ में उसे पन्हाला में बन्द करवा दिया। यहाँ मुग़ल-सेनापति दिलेरखाँ के गुप्त दूत ने उससे भेंट की और उसे मुग़लों से मिल जाने के लिये लालच दिया। २३ दिसम्बर १६७८ की रात में शम्भूजी अपनी स्त्री येसूबाई के साथ पन्हाला से निकल भागा और मुग़लों के शिविर बहादुरगढ़ की ओर चल दिया। दिलेर ख़ाँ इस समाचार से प्रसन्न हुआ और मार्ग में कर्काम पर उसका स्वागत किया। औरंगज़ेब भी ख़ुश तो बहुत हुआ किन्तु शम्भूजी के परित्याग को शिवाजी का जाल समझकर उसने दिलेर ख़ाँ को उस पर निगाह रखने की आज्ञा दी। दिलेर ख़ाँ से मिलने के बाद शम्भूजी और दिलेर ख़ाँ ने बीजापुर पर हमला करने की योजना बनाई और भूपालगढ़ पर धावा बोल दिया। यहाँ शम्भूजी ने एक बड़ा ख़ज़ाना बताया जो फिरंगोजी नरसाला के अधिकार में रक्खा हुआ था। दिलेर ख़ाँ ने १२ अप्रैल १६७८ को भूपालगढ़ पर अधिकार कर किले के बहुत से लोगों को मौत के घाट उतार दिया। इसके बाद दोनों ने बीजापुर पर हमला किया जिसके संरक्षक सिद्दी मसूद ने शिवाजी से सहायता माँगी। शिवाजी ने इसके उत्तर में बीजापुर का घेरा डालने वाले मुग़लों पर आक्रमण कर दिया। शिवाजी ने बीजापुरियों को रसद और युद्ध-सामग्री भी दी जिससे विवश होकर दिलेर ख़ाँ ने २४ नवम्बर को घेरा उठा लिया और पन्हाला दुर्ग पर आक्रमण करने के लिये चल पड़ा। दिलेर ख़ाँ ने मार्ग में और विशेषकर तिकोटा पर भयंकर अत्याचार किये और हिन्दुओं को बहुत सताया। इससे तंग आकर जनता ने शम्भूजी

से रक्षा की प्रार्थना की। शम्भूजी ने दिलेर खाँ से उनकी वकालत की तो उसने उसे इस तरह फटकार दिया "मैं खुद मुख़तार हूँ, तुम्हें मुझे सदाचार की सीख सिखाने की कोई जरूरत नहीं।" युवराज असहाय था और औरंगज़ेब ने दिलेर ख़ाँ को उसे गिरफ्तार कर दिल्ली भेजने की हिदायत दे रक्खी थी। अब उसे अपनी जान के लाले पड़ गये थे। अतः वह, उसकी स्त्री और दस साथी वेष बदल कर ३० नवम्बर १६७६ की रात को दिलेर ख़ाँ के शिविर से, जो आथनी में था, भाग खड़े हुए। उसने भागकर बीजापुर में मसूद ख़ाँ की शरण ली। दिलेर ख़ाँ ने मसूद ख़ाँ को बहुत बड़ी घूस का लालच देकर युवराज को उसे सौंप देने की प्रार्थना की अतः शम्भूजी को बीजापुर छोड़ कर पन्हाला भागना पड़ा। शिवाजी एक वर्ष के बाद पुत्र की वापसी पर बहुत प्रसन्न हुए और पन्हाला में आकर एक महीने तक उसके पास रहे। उन्होंने पुत्र को अच्छे-अच्छे उपदेशों द्वारा सुधार कर उसे कर्तव्य पालन और उत्तरदायित्व का ध्यान दिलाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। किन्तु शम्भूजी ने अपने पिछले व्यवहार के लिये न तो कोई पश्चाताप किया और न अपनी आदतें ही सुधारीं। तो भी शिवाजी ने उसके विरुद्ध कोई कार्रवाई न कर उसके साथ दया और प्रेम का व्यवहार किया। किन्तु इतने पर भी जब उन्होंने राजकुमार के चाल चलन में कोई अन्तर नहीं देखा तब वे उसे पन्हाला में नजरबन्द कर स्वयं सन्त रामदास का एकान्त में सत्संग करने के लिये सज्जनगढ़ चले गये।

शिवाजी की मृत्यु, अप्रैल १६८०

शिवाजी के अन्तिम दिन चिन्ता में बीते। शम्भूजी के परित्याग की उनके दिल पर गहरी चोट लगी और उन्हें अपने बड़े राज्य के भविष्य के सम्बन्ध में घोर निराशा हो गई क्योंकि राज्य का उत्तराधिकारी दुराचारी हो गया था और दूसरा राजकुमार राजाराम अभी दस वर्ष का बच्चा ही था। उनकी पटरानी सोयरा बाई शम्भूजी को अधिकार से वंचित कर अपने पुत्र राजाराम को उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी। मोरोपन्त पिंगले और अन्नाजी दत्तो दोनों मराठा मन्त्री आपस में झगड़ रहे थे। इन परिस्थितियों में शिवाजी को मराठा राज्य के भविष्य के सम्बन्ध में घोर निराशा हुई। उन्होंने गुरु रामदास से इस विषय में सलाह ली किन्तु कोई हल न निकला। फिर उन्होंने १४ फरवरी १६८० को रायगढ़ जाकर राजाराम का यज्ञोपवीत और विवाह किया। वे २ अप्रैल को बीमार पड़े और १३ अप्रैल को स्वर्गवासी हो गये।

शिवाजी का राज्य-विस्तार

शिवाजी का राज्य शिवाजी की मृत्यु के समय पुर्तगाली प्रदेश को छोड़ कर उत्तर में रामनगर (वर्तमान धर्मपुर) में दक्षिण में से कारवार तक फैला हुआ था।

पूर्व में इसमें बगलान, आधा नासिक, पूना के ज़िले, सारा सतारा और कोल्हापुर का बहुत सा भाग शामिल था। ये सब प्रदेश उसके स्वराज्य के रूप में थे। उक्त प्रदेश के अतिरिक्त बिलारी ज़िले के दूसरी ओर बेलगांव से तुंगभद्रा नदी के किनारे पश्चिमी कर्नाटक को भी उन्होंने जीत लिया था। यह सारा प्रदेश तीन भागों में बँटा हुआ था और तीन सूबेदारों के अधिकार में था। इसके अतिरिक्त शिवाजी ने तुंगभद्रा नदी के तटवर्ती कोपल से लेकर वेलूर और जिन्जी तक के प्रदेश को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था। इसमें वर्तमान मैसूर राज्य के उत्तरी, मध्यवर्ती और पूर्वी भाग, बिलारी जिलों के कुछ भाग, चित्तौर और मद्रास का आरकाट भी सम्मिलित था। इनके अतिरिक्त उन्होंने अस्थायी रूप से कनारा प्रदेश को भी जीता जिसमें सोन्दा, बिदनौर और धारवार का दक्षिणी भाग शामिल था।

इन प्रदेशों के अतिरिक्त दक्खिन का बहुत बड़ा क्षेत्र उनके प्रभाव में था यद्यपि वह उनके राज्य में शामिल नहीं था। इस क्षेत्र में मुग़लों का दक्षिणी प्रदेश शामिल था जहाँ शिवाजी ने मालगुज़ारी के चौथे हिस्से के रूप में चौथ लगा रक्खी थी।

शिवाजी के राज्य में २४० किले थे और सात करोड़ की मालगुज़ारी आय थी किन्तु वास्तव में वसूली लगभग एक करोड़ की ही होती थी।

शासन-प्रबन्ध

मध्यकालीन रीति के अनुसार शिवाजी एक निरंकुश शासक थे और सारी शक्ति अपने ही हाथ में रखते थे। किन्तु वे प्रजा का कल्याण करना चाहते थे अतः उन्हें हम दयालु निरंकुश शासक कह सकते हैं। उन्होंने शासन प्रबन्ध में सहायता देने के लिये आठ मन्त्री रख छोड़े थे। इन मन्त्रियों की आजकल जैसी समिति तो नहीं थी क्योंकि वे केवल शिवाजी के लिये ही उत्तरदायी थे। शिवाजी उन्हें रखने या निकालने में पूर्ण स्वतन्त्र थे। किन्तु उन्होंने मन्त्रियों के हाथ में बहुत सा काम सौंप रक्खा था और केवल राज्य की नीति निर्धारण को छोड़ कर वे उनके काम में बहुत कम दख़ल देते थे। किन्तु मन्त्रियों का काम केवल सलाह देना मात्र था। मन्त्रियों में पेशवा का अधिक मान था और वह राजा का अधिक विश्वासपात्र था किन्तु अपने साथियों में उसकी प्रमुखता न थी।

ये मन्त्री अष्ट प्रधान कहलाते थे। वे इस प्रकार थे:—(१) प्रधान मंत्री अथवा पेशवा मुख्य प्रधान कहलाता था, उस पर राज्य के सभी मामलों की देखभाल और प्रजा के हित का उत्तरदायित्व था। अतः सब अफसरों पर नियन्त्रण रखना और राज-काज को सुविधापूर्वक चलाना उसका मुख्य कर्तव्य था। राजा की अनुपस्थिति में वह राजा की ओर से काम करता था और तमाम राजकीय पत्र एवं सन्देशों पर राजा की मुहर के नीचे अपनी मुहर लगाता था।

(२) हिसाब जाँचने वाला (ऑडिटर) मजमुआदार या अमात्य। इसका काम आय-व्यय के सब कागजों की जाँच कर उन पर हस्ताक्षर करना था, चाहे वे सारे राज्य से सम्बन्ध रखते हों या किसी विशेष ज़िले के हों।

(३) मन्त्री या वाकया नवीस : यह राजा के दैनिक कार्यों को लिखता था। गुप्त रूप से कोई राजा की हत्या न कर दे इसलिये उसके आगन्तुकों की सूची तैयार करता था और उसके खाने पीने की चीजों पर सतर्क दृष्टि रखता था।

(४) शुरु नवीस या सचिव : इसका काम तमाम राजकीय पत्रों को पढ़ कर उनकी भाषा शैली को देखना था। परगनों के हिसाब की जाँच भी इसी के जिम्मे थी।

(५) विदेश-मंत्री, दतीर या सुमन्त : यह विदेशों से सम्बन्ध रखने वाले मसलों और सन्धि विग्रह के प्रश्नों पर राजा को सलाह देता था। यह विदेशी राजदूत और प्रतिनिधियों की देखरेख करता था और गुप्तचरों द्वारा दूसरे राज्यों की गुप्त खबरें मँगाता था।

(६) सरे-नौबत या सेनापति : इसका काम सेना की भर्ती, संगठन और अनुसाशन रखना था। युद्ध क्षेत्र में सेना की तैनाती करना भी इसी का काम था।

(७) सदर मुहतसिब या पण्डित राव या दानाध्यक्ष : इसका मुख्य काम धार्मिक कृत्यों की तिथि निश्चित करना, पापाचार और धर्मभ्रष्टता के लिये दण्ड देना तथा ब्राह्मणों में दान बँटवाना था। धर्म एवं जाति सम्बन्धी झगड़ों को निपटाना और प्रजा के आचरण को सुधारना भी इसी का काम था।

(८) न्यायाधीश : यह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था। प्रजा का और सेना का न्याय करना और भूमि अधिकार और गांव की मुखियागीरी का निर्णय देना इसका काम था।

दानाध्यक्ष और न्यायाधीश को छोड़ कर अन्य सब मन्त्रियों को समय समय पर फौज का नेता बन कर लड़ाई में जाना पड़ता था। "तमाम राजकीय पत्र, फरमान और सन्धि-पत्रों पर पहले राजा की और फिर पेशवा की मोहर लगती थी और सबके नीचे अमात्य, मन्त्री, सचिव और सुमन्त इन चार प्रधानों के हस्ताक्षर होते थे।

स्थानीय शासन

शिवाजी का राज्य चार प्रान्तों में बँटा हुआ था। प्रत्येक प्रान्त एक वायसराय के अधिकार में था। उत्तरी प्रान्त—जिसमें डांग, बगलान, कोली प्रदेश, दक्षिणी सूरत, कोकण, उत्तरी बम्बई और पूना की ओर का दक्षिणी पठार (देश) मोरो त्रिम्बक पिंगले के अधिकार में था। दूसरा दक्षिणी प्रान्त जिसमें कोंकण,

दक्षिणी बम्बई, सावन्तवाड़ी और उत्तरी कनारा का समुद्री-तट सम्मिलित था अन्नाजी दत्तो के शासन में था। तीसरा दक्षिण-पूर्वी प्रान्त जिसमें दक्षिणी पठार के सतारा और कोल्हापुर ज़िले और कर्नाटक में तुंगभद्रा के पश्चिम में बेलगाँव, धारवार और कोपल ज़िले थे दत्तोजी पन्त के अधिकार में था। चौथे प्रान्त में हाल के जीते हुए देश थे जिनमें तुंगभद्रा की दूसरी ओर कोपल से वेलूर और जिन्जी अर्थात् वर्तमान मैसूर राज्य का उत्तरी, मध्यवर्ती और पूर्वी भाग, बिलारी के मद्रासी ज़िले, चित्तूर और आरकाट शामिल थे। इसको हम अव्यवस्थित प्रान्त कह सकते हैं क्योंकि यह नया नया जीता गया था और पेशेवर सेना के अधिकार में था।

इन प्रान्तों के अतिरिक्त शिवाजी ने कनारा का पहाड़ी प्रदेश, दक्षिणी धारवार ज़िला और सुन्दा तथा वेदनूर राज्यों को भी लगभग जीत लिया था। शिवाजी की मृत्यु के समय यह प्रदेश वास्तव में शिवाजी के अधिकार में नहीं था किन्तु उनके आधिपत्य में रहने के कारण उन्हें कर देता था। प्रत्येक प्रान्त कई एक परगनों में विभक्त था। हर परगना एक फौजी अफसर के अधिकार मे रहा होगा किन्तु हमारे पास इसे जानने का कोई साधन नहीं है।

सेना

शिवाजी की सेना का संगठन और अनुशासन बहुत अच्छा था। उनकी मृत्यु के समय उनकी सेना में ४५,००० पागा और ६०,००० सिलेदार घुड़सवार और एक लाख मावले सिपाही थे। उन्होंने अपनी घुड़सालों में ३२,००० घोड़े छोड़े थे, इनके अतिरिक्त ५,००० और भी थे जो बरगीरों को दे दिये गये थे। उनके हाथियों की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई १,२६० बताता है, कोई १२५ और कोई ३००। इनमें से अन्तिम संख्या ही ठीक प्रतीत होती है।

सेना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग राजकीय घुड़सवारों का प्रसिद्ध पागा होता था। पच्चीस साधारण सैनिकों (वर्गीर) के ऊपर एक हवलदार होता था। हर पाँच हवलदारों पर एक जमादार होता था और हर दस जमादारों पर अर्थात् १,२५० सिपाहियों पर एक हज़ारी होता था। पागा में सब से बड़ा पद पंचहज़ारी होता था और सारी पागा अश्व सेना पर सर-ए-नौबत (कमाण्डर-इन-चीफ) होता था। हर पच्चीस घुड़सवारों के लिये एक भिश्ती और एक नालबन्द दिया जाता था।

सिलेदार घुड़सवारों की एक और सेना थी। सिलेदार अपने घोड़े और हथियार अपने पास से खरीदते थे। ये घुड़सवार पागा घुड़सवारों से हीन श्रेणी के थे किन्तु ये भी अश्वसेना के सेनापति के अधीन रहते थे।

सेना में पैदल सिपाहियों का भी बहुत महत्व था। पैदल सिपाहियों के विभाग में नौ सिपाहियों अथवा पाइक के ऊपर एक हवलदार होता था जो नायक कहलाता था। हर दस नायकों के ऊपर एक हवलदार होता था। दो या तीन हवलदारों के ऊपर एक जुमलादार और दस जुमलादारों के ऊपर एक हज़ारी होता था। इससे बड़ा पद सात हज़ारी था। सात हजारियों के ऊपर सर-ए-नौबत अथवा सेनापति होता था। शिवाजी के शरीर रक्षक दो हज़ार चुने हुए मावले प्यादा थे। इनके चमक दमक वाले वस्त्रों और अच्छे-अच्छे हथियारों पर राज्य का बहुत अधिक रुपया व्यय होता था।

शिवाजी की यह सेना-नीति थी कि वह विदेशी-राज्यों पर आक्रमण करने के लिये और रसद लाने के लिये सेना को आठ महीनों के लिये बाहर रखते थे। सेना बरसात के चार महीने छावनी में ही बिताती थी और दशहरा के बाद राजा द्वारा चुने गये देश पर आक्रमण करने के लिये जाती थी। कूच के समय सिपाही और अफसरों के अधिकार में रहने वाली वस्तुओं की सूची बना ली जाती थी और लौटने पर उनकी तलाशी ली जाती थी। इस तलाशी में जो वस्तुएँ अधिक होती थीं वह राज्य में जमा हो जाती थीं।

शिवाजी की सेना बहुत ही संगठित और अनुशासित थी और अपने साथ बहुत कम सामान रखती थी। स्त्रियाँ फौज के साथ नहीं जा सकती थीं। राजा भी यथासम्भव कम सामान ही रखता था। संगठन, कठिन अनुशासन और साधारणता के कारण ही शिवाजी की सेना सत्रहवीं शताब्दी में अजेय थी।

ज़मीन की मालगुज़ारी और शासन-प्रणाली

शिवाजी की भूमि-कर व्यवस्था क्षेत्रमिति के निश्चित सिद्धान्तों द्वारा किये गये बन्दोबस्त पर निर्भर थी। प्रत्येक गाँव का क्षेत्रफल ब्योरेवार रक्खा जाता था और प्रत्येक बीघे की उपज का अनुमान लगाया जाता था। उपज का $\frac{2}{5}$ राज्य ले लेता था और शेष किसान के पास रह जाता था। नये किसानों को बीज और पशुओं की सहायता दी जाती थी जिनका मूल्य सरकार कुछ किश्तों में वसूल कर लेती थी। भूमि कर रुपये पैसों में अथवा अन्न के रूप में सरकारी हाकिम वसूल करते थे।

शिवाजी की भूमिकर-प्रणाली रैयतवाड़ी थी। वे जागीरदार अथवा ज़मीदारों के विरुद्ध थे। वे नहीं चाहते थे कि ज़मीदार, देशमुख और देसाई किसानों पर राजनैतिक प्रभुत्व रख सकें। जहाँ तक हो सकता था वे अपने हाकिमों को वेतन के बदले जागीर देने के विरुद्ध ही रहते थे। वे जब कभी जागीर देते भी थे तो इस बात का

ध्यान रखते थे कि जागीरदार अपनी जागीर में कोई राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित न कर सके ।

भूमि कर के अतिरिक्त कौन कौन से कर किस हिसाब से लिये जाते थे इसकी जानकारी का कोई साधन नहीं है । किन्तु आयात-कर और निर्यात-कर तथा चुङ्गी कर अवश्य रहे होंगे ।

शिवाजी की आय का मुख्य साधन चौथ था । यह पड़ौसी राज्यों की आय का चौथाई भाग होता था जिसे वसूल करने के लिए शिवाजी उन पर आक्रमण करते थे। चौथ हर साल वसूल करते थे । शिवाजी की आय का दूसरा मुख्य साधन सरदेशमुखी था । यह राज्यों की आय का $\frac{1}{10}$ होता था ।

धार्मिक-नीति

कट्टर हिन्दू होते हुए भी शिवाजी दूसरे धर्मों का मान करते थे । उन्होंने मुसलमानों को धार्मिक विचार और नमाज़ की पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी । वे उनके पीरों और मस्जिदों का आदर करते थे । हिंदू मन्दिरों के साथ साथ मुसलमान फकीरों और पीरों को भी आर्थिक सहायता करते थे । उन्होंने केलोशी के बाबा याकूत के लिए एक आश्रम बनवा दिया था । वे कुरान का समान रूप से आदर करते थे । यदि उनके आक्रमण के समय उनके आदमियों के हाथ में कुरान की पुस्तकें पड़ जाती थीं तो वे उन्हें अपने मुसलमान साथियों को पढ़ने के लिये दे देते थे । वे मुस्लिम महिलाओं का आदर करते थे और अपने सैनिकों को उन्हें अपमानित करने की कभी भी आज्ञा नहीं देते थे। इतिहासकार ख्वाफी ख़ाँ जो शिवाजी से मैत्री भाव नहीं रखता था, उसने भी शिवाजी की धार्मिक सहिष्णुता तथा हमले में मिली हुई मुस्लिम महिलाओं और बच्चों के प्रति किये गए सम्मानपूर्ण व्यवहार की प्रशंसा की है । राज्य-कर्मचारियों की नियुक्ति के समय वे मुसलमानों के साथ कोई भेदभाव नहीं रखते थे और उन्हें सेना तथा जहाज़ी बेड़े में विश्वसनीय पदों पर नियुक्त कर देते थे ।

शिवाजी भक्त हिन्दू थे और वेदाध्यन के लिए प्रोत्साहन देते थे । उन्होंने विद्वान ब्राह्मणों को प्रोत्साहन देने के लिए एक बड़ी धन-राशि अलग निकाल रक्खी थी । उनके गुरु प्रसिद्ध सन्त रामदास थे और उन्हीं से उन्होंने धार्मिक चेतना प्राप्त की थी । किंतु इस सन्त का शिवाजी की राज्य नीति या शासन प्रणाली पर कोई प्रभाव न था । यह कहा जाता है कि रामदास को प्रतिदिन भिक्षा माँगने के लिये जाता देख कर शिवाजी ने अपना सारा राज्य उनकी भेंट कर दिया था । गुरुजी ने भेंट को स्वीकार कर अपने प्रतिनिधि के रूप में शासन करने के लिए वह राज्य शिवाजी को ही लौटा दिया

था और एक उच्चाधिकारी के रूप में उसका उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर छोड़ दिया था। शिवाजी ने इसे स्वीकार कर रामदास के वस्त्रों के गेरुआ रंग को राजकीय झंडे का रंग (भगवा झण्डा) अपना लिया था। यह इस बात का प्रतीक था कि उन्होंने अपने सब शक्तिमान सन्यासी महाप्रभु के आदेशानुसार ही युद्ध एवं शासन किया है।

शिवाजी का चरित्र

शिवाजी आज्ञाकारी पुत्र थे, पत्नीपरायण पति थे, प्रिय पिता और दयालु मित्र थे। वे अपनी माता की भक्ति करते थे, पिता का आदर करते थे और अपनी स्त्री तथा बच्चों से प्रेम करते थे। वे दीन दलितों के मित्र थे। यद्यपि उन्होंने नियमानुसार शिक्षा प्राप्त नहीं की थी किन्तु फिर भी वे बहुत बड़े विद्वान और अच्छी जानकारी रखते थे। उनमें असाधारण प्रतिभा थी, अत्यधिक व्यावहारिक ज्ञान था और सूक्ष्म विवेक शक्ति थी। वे पक्के धर्मात्मा, संयमी और सदाचारी थे। यद्यपि वे कट्टर हिन्दू थे किन्तु औरंगज़ेब की तरह धर्मान्ध नहीं थे। वे प्रत्येक धर्म में सचाई ढूँढा करते थे और हिंदू मुसलमान संतों का आदर किया करते थे। वे सेना के कार्य में अत्यन्त दक्ष थे। उन्होंने अपने अन्त:करण की प्रेरणा से ही युद्ध की गुरिल्ला नीति को अपनाया था। उनकी यह नीति उनके जातीयतावादी सैनिकों के लिए, देश की परिस्थिति के लिये, उस युग के अस्त्र-शस्त्रों के लिये सौर उनके शत्रुओं की भीतरी दशा के लिये सर्वथा अनुकूल थी। उनकी सेना की भर्ती बहुत अच्छी थी और वह ऐसी सुगठित, शिक्षित और अनुशासित थी कि वह १७ वीं सदी में अजेय हो गई थी। शिवाजी में अद्भुत संगठन शक्ति थी और वे युद्ध की प्रत्येक बात को पहले से ही सोच लेते थे। वे अपने सैनिकों के लिए आदर्श थे और युद्ध में उनके साथ कठिन परिश्रम करते थे। मध्ययुग में वे ही सर्व प्रथम शासक थे जिन्होंने जहाजी बेड़े की आवश्यकता पर ध्यान दिया था। उन्होंने व्यापार और सुरक्षा के लिये जहाज़-निर्माण शालाएं तथा जहाज बनवाये थे।

शासक और प्रबन्धक के रूप में शिवाजी को उत्कृष्ट सफलता मिली। उन्होंने एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया। उसमें अच्छी शासन-व्यवस्था की और उस युग के अनुकूल प्रजा की भौतिक और नैतिक उन्नति करने का यथा संभव प्रयत्न किया। वे जनता और सेना पर पूरा नियन्त्रण रखते थे और शासन-व्यवस्था के ब्यौरों को बड़ी सूक्ष्मता से देखते थे। वे इतने चतुर थे कि अपने सेवकों पर दैनिक कार्य छोड़ कर उन्हें उनके दैनिक कर्तव्य के सम्बन्ध में उचित निर्णय दे सकते थे। उनकी शासन-व्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपनी स्थानीय और केन्द्रीय सरकार का ऐसा संगठन कर रक्खा था कि वह उनकी अनुपस्थिति में ठीक

काम करती रहती थी। इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार ने कहा है कि उपरोक्त गुण शिवाजी में तो विद्यमान था किन्तु अन्य पूर्वी राजाओं में यह गुण नहीं पाया जाता है। शासक के रूप में शिवाजी ने अपनी प्रजा को केवल शान्ति तथा सार्वभौमिक सहनशीलता ही प्रदान नहीं की अपितु बिना किसी भेद-भाव के सबको समान रूप से उन्नति करने का अवसर दिया और सभी योग्य व्यक्तियों के लिए सरकारी सेवा का द्वार खोल दिया। उनकी शासन-व्यवस्था हितकारक थी और भ्रष्टाचार एवं पक्षपात रहित थी। शिवाजी की प्रेरणा से फारसी के स्थान पर मराठी राज-भाषा बनी और एक राज-व्योवहारिक-संस्कृत कोष का निर्माण हुआ। इन दोनों कारणों से मराठों को अपनी राष्ट्रभाषा के विकास का अच्छा अवसर मिल गया। शिवाजी ने शासक के रूप में राजनैतिक आदर्श ही अपने सामने नहीं रक्खा अपितु सार्वजनिक-हित के लिये सफलता पूर्वक प्रयत्न किया।

शिवाजी एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ थे। वे आत्म-प्रेरणा से अपने समय की सब संभावनाओं पर विचार कर उन सर्वोत्तम तत्वों का निर्माण कर सके जिन्होंने उन्हें अपनी उत्कट इच्छा के पूरा करने में अर्थात महाराष्ट्र में हिन्दू 'स्वराज्य' की स्थापना में योग दिया था। उन्होंने मराठों में नवजीवन का संचार कर राष्ट्र को संगठित कर दिया। शिवाजी ने जिस समय राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय मुग़ल-साम्राज्य अपने चरम-विकास पर था। इसके अतिरिक्त उन्हें बीजापुर और गोलकुन्डा के सुलतान, जंजीरा के सिद्दी और पश्चिमी समुद्री-तट के पुर्तगाली जैसे शत्रुओं से भी मुकाबला करना पड़ा था। और उन्होंने बड़े कड़े विरोध के होने पर भी इन शक्तियों का मुकाबला कर इन पर विजय प्राप्त की। राजनीतिज्ञ के रूप में मराठा जाति को उनकी सबसे बड़ी देन उसमें नव जीवन डालना था। वे एक रचनात्मक कार्यकर्ता और सच्चे वीर थे। राजा के रूप में वे अपनी संतानों और समकालीनों को स्फूर्ति देने वाले थे। उनके सम्बन्ध में सर यदुनाथ सरकार ने लिखा है "उन्होंने हिन्दुओं को अधिक से अधिक उन्नति करने की शिक्षा दी। शिवाजी ने बताया कि हिन्दुत्व का वृक्ष वास्तव में मरा नहीं है किन्तु यह सदियों की राजनैतिक पराधीनता के कारण मरा सा दिखाई देता है। यह फिर बढ़ सकता है और इसमें नई नई पत्तियाँ और शाखाएँ आसकती हैं। यह अपना सिर आकाश तक फिर उठा सकता है।"

क्या शिवाजी समस्त भारत में हिन्दू स्वराज्य स्थापित करना चाहते थे ?

इतिहासकार सर देसाई की सम्मति है कि शिवाजी अपने स्वप्न को महाराष्ट्र तक ही सीमित न रखकर सारे भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना चाहते थे। वे अपने कथन की पुष्टि में निम्न प्रमाण देते है : (१) शिवाजी का मुख्य उद्देश्य धार्मिक

स्वतंत्रता प्राप्त करना था देश प्राप्त करना नहीं। १६४५ के आरंभ में उन्होंने दादाजी नरस प्रभु को "हिन्दवी स्वराज्य" की योजना के सम्बन्ध में लिखा था जिससे उनका अभिप्राय सारे भारत के हिन्दुओं को धार्मिक स्वतंत्रता दिलाना था। विचारशील और क्रियाशील मराठों ने उनके बाद उनके आदर्श और इच्छाओं को इसी रूप में समझा था। (२) शिवाजी का चौथ और सरदेशमुखी कर की वसूली भी सारे भारत में राज्य विस्तार का साधन समझा गया है। (३) एक समकालीन जयपुरी कवि का विश्वास है कि शिवाजी दिल्ली के साम्राज्य को लेना चाहता था। उस कवि ने जयसिंह की इसीलिये प्रशंसा की है कि उसने शिवाजी जैसे बलवती इच्छा रखने वाले को भी वश में कर लिया था। (४) शिवाजी का आगरा जाने का उद्देश्य अपनी आँखों से उत्तरी भारत की दशा देखकर यह जानना था कि क्या उत्तरी भारत मुग़ल साम्राज्य के पंजे से मुक्त होने को तैयार है। (५) वे अपने राज्य की सुरक्षा जल-थल सेना से करते थे। समुद्र-यात्रा के विषय में उनका दृष्टि कोण उदार था। वे मुसलमान से शुद्ध हुए हिन्दू को फिर समाज में मिला लेते थे इत्यादि बातें बताती हैं कि उनके सामने समस्त हिन्दू जाति को राजनैतिक एवं नैतिक चरित्र निर्माण के नवीन ढांचे में ढालने का उच्च आदर्श था। (६) दक्खिन के सुलतानों और मुग़लों से युद्ध करते हुए भी शिवाजी राजपूत राजाओं से न लड़कर उनसे मेल करने का प्रयत्न करते थे।

उपरोक्त दलीलें इतनी लचर हैं कि उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके लिये किसी अकाट्य दलील की आवश्यकता नहीं है कि मुग़ल साम्राज्य में हिन्दू-धर्म-स्वतंत्रता सर्वथा असंभव थी। इसका अभिप्राय राज्य के अन्दर दूसरा राज्य स्थापित करना होता और जिसे औरंगज़ेब जैसा सम्राट सहन नहीं कर सकता था। यह स्वीकार किया जा सकता है कि शिवाजी के 'स्वराज्य' की योजना ऐसी थी कि जिसमें सारा भारत आ सकता था, किन्तु इसमें सन्देह है कि उन्होंने कभी ऐसी इच्छा रक्खी थी। वे कल्पना के पंखों पर न उड़कर क्रियात्मक कार्य करने वाले थे। हमारे पास इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि शिवाजी सम्पूर्ण भारत पर अधिकार करना चाहते थे। यह सर्व सम्मति से सिद्ध हो चुका है कि शिवाजी को रायगढ़ से आगरा आने जाने में २५ दिन लगे थे। इन दिनों में उन्हें उत्तरी भारत की परिस्थिति का पता लगाने का न तो समय था और न अवसर ही। वास्तव में उनके आगरा आने का उद्देश्य उत्तर भारत की परिस्थिति का ज्ञान करना नहीं था। यह भी कहना ठीक नहीं कि उन्होंने राजपूतों से युद्ध नहीं किया। हां, उन्होंने केवल उन्हीं राजपूतों से युद्ध किया जो मुग़ल-सम्राट की ओर से लड़ते थे। जहाँ तक शिवाजी का सम्बन्ध है अन्य राजपूतों से युद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सच बात तो यह है कि शिवाजी ने देश को मुग़लों के विरुद्ध उभाड़ने का कभी कदम ही नहीं उठाया। उन्होंने तो केवल जज़िया कर के दुबारा लगाने का विरोध किया था। उन्होंने उत्तरी भारत के जाट, सतनामी, सिख इत्यादि शक्तिशाली विरोधी तत्वों से कभी सम्बन्ध स्थापित नहीं किया। हाँ, उन्होंने एक चतुर सेनापति के रूप में जसवन्तसिंह और जयसिंह की हिन्दुत्व-भावना को अवश्य प्रभावित किया था। उन्होंने उनसे (जसवन्त और जयसिंह) मिलकर मुग़लों का तख्ता उलट देने की कोई ठोस योजना नहीं बनाई थी। उन्होंने तो छत्रसाल जैसे उत्साही राजा की सेवाओं को भी स्वीकार नहीं किया था और न उसे कोई सहायता दी थी। उन्होंने तो उसे यह सलाह दी थी कि औरंगज़ेब जैसे शक्तिशाली सम्राट के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये वैसे ही तैयारी करो। ये वे तथ्य हैं जो बताते हैं कि शिवाजी ने अखिल भारतीय हिन्दू साम्राज्य स्थापना की कभी इच्छा नहीं की थी।

शिवाजी के राज्य के चिरस्थायी न होने के कारण

शिवाजी के राज्य के चिरस्थायी न होने के अनेक कारण हैं। पहला कारण यह है कि उनके राज्य को स्थापित हुए केवल दस वर्ष ही हुए थे और इन दस वर्षों में भी उन्हें अपने शत्रुओं से निरन्तर युद्ध करते रहना पड़ा था, जिसके कारण उन्हे राज्य को दृढ़ बनाने का बहुत कम समय मिल पाया था। दूसरे सत्रहवीं शताब्दी में मराठा समाज की ऐसी दशा थी कि उसे सुधारने में धैर्यपूर्वक निरन्तर काम करने वाले स्वार्थ रहित व्यक्तियों को भी कई पीढ़ियाँ लग जातीं। वह अस्थिरता का युग था और प्रत्येक व्यक्ति अपने वतन अथवा बाप दादे की जायदाद से ही प्रेम करता था। एक भूमिखण्ड के अनेक इच्छुक थे। इसका कारण परिवार के लोगों का बढ़ जाना अथवा भूमि का बंट जाना अथवा सूबेदार या सुलतानों द्वारा एक की भूमि दूसरे को दे देना था। अतः महाराष्ट्र की जनता में निरन्तर झगड़े होते रहते थे। शिवाजी के प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर उन्होंने इन विवादपूर्ण वतनों के विषय में अपना निर्णय दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हारे हुए व्यक्ति उनके विरुद्ध होकर उनके शत्रु बीजापुर या गोलकुण्डा के सुलतानों या मुग़लों से मिल गये। अतः शिवाजी को आजीवन केवल अपने शत्रुओं से ही युद्ध करना नहीं पड़ा अपितु अपनी प्रजा से भी मोर्चा लेना पड़ा। तीसरे, सत्रहवीं शताब्दी में भारत के अन्य भागों की तरह महाराष्ट्र की जनता भी जाति और उपजातियों में बंटी हुई थी और एक दूसरे के प्रति बहुत अधिक द्वेषभाव रखती थी। ब्राह्मण अब्राह्मणों से घृणा करते थे और वे स्वयं भी देश-ब्राह्मण, कोंकण ब्राह्मण, चितपावन, कहाड़े इत्यादि उपजातियों में बंटे हुए थे। वे एक दूसरे से घृणा करते थे और इतने अधिक गर्वमूढ़ थे कि इन्होंने अपने उद्धारक शिवाजी के राज्याभिषेक के अवसर पर भी उन्हें क्षत्रिय न मान कर वेद

मन्त्रों का उच्चारण करने नहीं दिया था। यह जातिगत पक्षपात दिनों दिन बढ़ता गया जिससे राष्ट्र की वास्तविक और स्थायी उन्नति एवं दृढ़ता कठिन और असंभव हो गई। चौथे, शिवाजी की राजनैतिक सफलता की जो प्रतिक्रिया हुई उससे हिन्दुओं के कट्टरपन को प्रोत्साहन मिला। महाराष्ट्र के ऊँची श्रेणी के लोगों को मराठा राज्य में प्रमुखता प्राप्त हो गई थी। ये ढोंगी जीवन बिताने लगे थे जो देश के साधारण निर्धन लोगों के जीवन के विरुद्ध था। इसके परिणाम स्वरूप मराठा समाज की दो प्रमुख श्रेणियों में भेद भाव की खाई चौड़ी होती गई। इस विषय में सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं, "शिवाजी की राजनैतिक सफलता ही अपने विनाश का कारण बन गई थी। शिवाजी का हिन्दू स्वराज्य का आदर्श जिस अनुपात से हिन्दू कट्टरपन पर निर्भर था उसके विनाश के बीज उतने ही उसमें सन्निहित थे।" पाँचवाँ कारण यह था कि शिवाजी के नेतृत्व में महाराष्ट्र को जो राजनैतिक सफलता मिली उससे उसकी समृद्धि तो बहुत बढ़ गई किन्तु प्रजा की शिक्षा और चरित्र के सुधार का कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। साधारण जनता पहले की तरह अशिक्षित रही और उसने जाति की समृद्धि बढ़ाने में कोई दिलचस्पी नहीं ली। इस बुनियादी भूल का परिणाम यह हुआ कि जिस मराठा राज्य की स्थापना शिवाजी ने बड़े परिश्रम और बुद्धिमानी से की थी उसका पतन उनकी मृत्यु के दस वर्ष बाद ही हो गया।

शम्भूजी, १६८०—१६८९

शिवाजी का द्वितीय पुत्र राजाराम था जो उनकी मृत्यु के समय केवल दस वर्ष का था। शिवाजी की मृत्यु के बाद उनकी स्त्री सोयराबाई ने अप्रैल १६८० को रायगढ़ में उसका राज्याभिषेक कर दिया। किन्तु पन्हाला किले में बंद शम्भूजी ने किलेदार की हत्या कर किले पर अधिकार कर लिया और प्रधान सेनापति हम्मीरराव मोहिते को अपनी तरफ मिला लिया। इसके बाद उसने रायगढ़ किले पर अधिकार कर राजाराम तथा सोयराबाई को जेल में डाल दिया। ३० जुलाई को वह सिंहासन पर बैठा और मोरोपन्त पिंगले के पुत्र नीलोपन्त को अपना पेशवा बनाया तथा अपने दूसरे अनुयायियों को भिन्न भिन्न पुरस्कारों से पुरस्कृत किया। ३० जनवरी १६८१ को राज्याभिषेक महोत्सव विधि पूर्वक मनाया गया। किन्तु चरित्र-हीन होने के कारण वह जनता में अप्रिय हो गया जिससे उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। इसकी गंध मिलने पर उसने अपनी सौतेली माँ तथा बहुत से सामन्तों को मरवा डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके सामन्त और अफसर उसके विरुद्ध हो गये जिन्हें दबाने के लिये शम्भूजी को कड़ा कदम उठाना पड़ा। अपने पिता के सेवकों पर से उसका विश्वास उठ गया था अतः उसने कन्नौज निवासी कवि कलश नाम के एक ब्राह्मण को, जो संस्कृत और हिन्दी का विद्वान और कवि था, अपना सलाहकार बनाया तथा उसे

पेशवा से भी अधिक ऊँचा पद दिया। बाहरी होने के कारण मराठे इससे बहुत अधिक घृणा करने लगे और उसे 'भेदिये' की उपाधि देकर 'कलुष' नाम से पुकारने लगे। उस पर शम्भूजी के बिगाड़ने का मिथ्या आरोप भी लगाया गया। इन परिस्थितियों में शम्भूजी के शासन-काल में असन्तोष और अशान्ति ही रही। अब मराठों का प्रताप तो घटने लगा किन्तु शिवाजी ने जो इसमें जान डाल दी उसी के बल से शासन प्रबन्ध किसी तरह चलता रहा।

शम्भूजी ने राज्य पर अपना अधिकार अच्छी तरह जमाया भी नहीं था कि उसे औरंगज़ेब के चतुर्थ पुत्र राजकुमार अकबर का दक्खिन को भागने का समाचार मिला। अकबर शम्भूजी का सहयोग प्राप्त कर अपने पिता से भारत का सिंहासन छीनना चाहता था, अतः वह अपनाये गये साधनों के सम्बन्ध में उससे सलाह लेना चाहता था। अकबर को किन परिस्थितियों में औरंगज़ेब के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ा और महाराष्ट्र में आना पड़ा इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है, अतः यहाँ उसका दुहराना अनावश्यक है। उसने नर्मदा पार कर १० मई १६८१ को शम्भूजी को सूचना दी कि वह मराठा राजा के सहयोग से औरंगज़ेब को गद्दी से उतार कर स्वयं बादशाह बनना चाहता है। राजकुमार ख़ानदेश और फिर बगलान पहुंचा और वहाँ से नासिक और त्रियम्बक होते हुए उत्तरी कोंकण गया और ११ जून १६८१ को नौगथना के पास पाली पहुँचा जो रायगढ़ के उत्तर में २५ मील था। युवराज को यहीं टिका कर उसकी सुख सुविधा का प्रबन्ध किया गया। इस काम के लिये शम्भूजी ने नेताजी पालकर को नियुक्त किया जो दस वर्ष तक उत्तर भारत में रह आया था और शाही दरबारों के जीवन से परिचित था। शम्भूजी २३ नवम्बर को उससे मिला किन्तु दोनों में कोई समझौता नहीं हुआ। शम्भूजी को राजकुमार की सचाई में सन्देह था और उसे यह भी डर था कि कहीं उसका आना औरंगज़ेब का षड्यन्त्र न हो। मराठा राजा अपने चरित्र की दुर्बलता एवं घरेलू कठिनाइयों के कारण भी दिल्ली के विरुद्ध धन और समय नहीं लगा सकता था। यद्यपि मराठा राजा ने अकबर की सुख-सुविधा का पूरा पूरा प्रबन्ध कर दिया था किन्तु फिर भी वह राजकुमार को असुखकर ही प्रतीत हुआ। उसे पाली में छप्पर से छाये हुए एक साधारण भवन में ठहराया गया और उत्तरी भारत के युवराजों के विलासमय और शानशौकत के जीवन से अपरिचित होने के कारण भोजन भी साधारण ही दिया गया। इन परिस्थितियों के कारण अकबर का ६ वर्ष का महाराष्ट्र प्रवास निष्फल ही रहा। औरंगज़ेब को गद्दी से उतारने की बड़ी योजना केवल कागज पर ही लिखी रह गई।

इसी बीच में औरंगज़ेब ने अपने पुत्र का दक्खिन में पीछा किया और औरंगाबाद में अपना निवास स्थान बनाकर २६ वर्ष तक उसी के आस-पास अपना जीवन

बिताता रहा। उसने शम्भूजी और अकबर के अनुयायियों में भेद के बीज बो कर उनमें से बहुत-सों को घूस और पुरस्कारों से अपने पक्ष में कर लिया। उसने शहाबुद्दीन ख़ाँ को नासिक के पास मराठों के मुख्य मुख्य किले छीनने के लिये भेजा जिससे कि उत्तर में अकबर का मार्ग रुक जाय। ख़ान ने नासिक से सात मील उत्तर में स्थित रामसेज किले का घेरा डाल दिया किन्तु समय पर मराठा सेना के आ जाने के कारण उसे घेरा उठा लेना पड़ा। अकबर ने अब शम्भूजी को सलाह दी कि दोनों मिल कर या तो औरंगज़ेब के प्रधान स्थान पर धावा बोल दें या फिर गुजरात होते हुए राजपूताने पर। किन्तु शम्भूजी परिस्थितियों से विवश होकर इस साहसिक काम में न पड़ सका। दोनों राजकुमारों की हिचकिचाहट के कारण औरंगज़ेब को बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य पर आक्रमण कर उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाने का अवसर मिल गया। १६८६ में बीजापुर का पतन हो गया और १६८७ में गोलकुण्डा का। अब अकबर को शम्भूजी की सहायता की कोई आशा न रही। अतः उसने निराश होकर फरवरी १६८७ में राजापुर से अँग्रेजी जहाज द्वारा ईरान जाकर वहीं शरण ली।

शम्भूजी का जंजीरा और चौल पर आक्रमण, १६८१-१६८३

जिस समय औरंगज़ेब दक्खिन की यात्रा कर रहा था उसी समय शम्भूजी ने जंजीरा के सिद्दियों और चौल के पुर्तगालियों पर आक्रमण कर दिया क्योंकि औरंगज़ेब ने इनसे मराठा राजा के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने के लिये कहा था। सिद्दियों ने १६८१ के अन्त में रायगढ़ किले के पास तक मराठा प्रदेश पर आक्रमण कर दिया था। शम्भूजी ने जल और थल से जंजीरा का घेरा डाल कर और बहुत सी हानि पहुँचा कर इसका जवाब दिया। किन्तु इसी समय औरंगज़ेब दक्खिन में आ गया और शम्भूजी को भी इसी समय जंजीरा का घेरा डालना पड़ा। १६८३ में शम्भूजी ने चौल और गोआ के पुर्तगाल बन्दरों पर आक्रमण कर उनको बड़ी मुसीबत में डाल दिया। मराठों ने फोंद पर पुर्तगालियों को हराकर वहाँ का किला छीन लिया। गोआ भी आत्मसमर्पण करने वाला ही था कि पुर्तगालियों के भाग्य से शम्भूजी को घेरा उठा लेना पड़ा क्योंकि उसे शाह आलम के नेतृत्व में आने वाली मुग़ल सेना का मुकाबला करना पड़ा क्योंकि शाह आलम नवम्बर १६८३ में उसकी पिछली सेना को आतंकित कर रहा था।

शम्भूजी की पराजय और गिरफ्तारी, १६८९

१६८४ के आरम्भ से शम्भूजी बचाव में लगा हुआ था। इसी बीच में औरंगज़ेब ने मराठा राजा को गिरफ़्तार करने के लिए अपनी सेना भेज दी। शहाबुद्दीन

फिरोज़ जंग और उसके पुत्र (भावी निज़ामुल मुल्क) चिन क़िलिच ख़ाँ को उत्तरी कोंकण और बगलान को जीतने के लिये भेजा गया। परिणाम यह हुआ कि मुग़ल और मराठों के बीच मार काट का युद्ध हुआ और मराठों ने मुग़लों के औरंगाबाद से लेकर बुरहानपुर तक के प्रदेश को उजाड़ दिया। किन्तु मराठों के भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया क्योंकि औरंगज़ेब बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों को अपने साम्राज्य में मिला लेने के बाद शम्भूजी के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाने के लिये स्वतन्त्र हो गया था। उसने बीजापुर सेना के पिछले सेनापति को सतारा ज़िले पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस समय जो युद्ध हुआ उसमें शम्भूजी का प्रधान सेनापति हम्बीरराव मोहिते मारा गया। इसके बाद मुग़लों ने मराठों को घेरना आरम्भ कर दिया। यह देखकर शम्भूजी के बहुत से साथी उसे छोड़ कर भाग गये और वह भी पनहाला और रायगढ़ के बीच शरण के लिए भागता फिरा। शिरके शम्भूजी के विरुद्ध हो कर मुग़लों से जा मिले और उन्होंने नवम्बर १६८८ मे कवि कलश को हरा दिया। अत: वह विवश हो कर विशालगढ़ में शरण लेने के लिए भाग गया। यह सुन कर शम्भूजी ने शिरकों को हराया और विशालगढ़ में कवि कलश से जा मिला। शिरकों ने मराठा राजा का पता औरंगज़ेब के भेदियों को दे दिया। मुक़र्रब ख़ाँ नाम के एक मुग़ल सेनापति को शम्भूजी का पता लग गया अत: उसने संगमेश्वर के डेरे पर पहुँच कर मराठा राजा पर अचानक आक्रमण कर दिया। फरवरी १६८९ को हल्की सी मुठभेड़ के बाद शम्भूजी और कवि कलश पकड़ कर औरंगज़ेब के डेरे पर ले जाये गये।

शम्भूजी की निर्मम हत्या, १६८९

बहादुरगढ़ में सम्राट औरंगज़ेब का डेरा लगा हुआ था, वहीं पर ये दोनों कैदी लाये गए। जिस समय मराठा राजा और कवि कलश शाही डेरे पर लाए गये उस समय वे विदूषकों के कपड़े पहने हुए थे और सिर पर मूर्खों की लम्बी टोपी लगाये हुए थे जिनके पीछे घंटियां लटक रही थीं। वे ऊँटों पर चढ़े हुए थे और उनके आगे ढोल पीटे जा रहे थे और तुरई बजाई जा रही थी। जिस समय कैदी निकट पहुँचे उस समय औरंगज़ेब ने सिंहासन से उतर कर घुटने टेक कर ईश्वर को धन्यवाद दिया। सम्राट के निगाह डाल लेने के बाद कैदी कोठरियों में बन्द कर दिए गये। दूसरे दिन उसने शम्भूजी से कहलवाया कि निम्न शर्तों के साथ उसको जीवन-दान दिया जा सकता है :—(१) वह अपने सारे किले सौंप दे (२) अपना छिपा हुआ ख़ज़ाना बता दे (३) उन मुग़ल अफसरों के नाम बतादे जो उससे मिले हुए थे। शम्भूजी ने बड़े अनादर के साथ इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। औरंगज़ेब के सताने से उसे बड़ा कष्ट हुआ अतः उसने सम्राट और उसके पैग़म्बर को धिक्कारा और औरंगज़ेब को कहलवाया

कि वह मित्रता के पुरस्कार में अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर दे। रुहुल्ला ख़ाँ ने सम्राट का सन्देश शम्भूजी के पास पहुँचाया था। उसने उसके उत्तर को ब्यौरे वार न बताकर केवल उसकी दुर्भावना का इशारा मात्र ही कर दिया था। उदारता और क्षमा में औरंगज़ेब का बिल्कुल भी विश्वास नहीं था अतः उसने शम्भूजी और उसके मन्त्री कवि कलश को सता सता कर मार डालने की आज्ञा दे दी। उसी रात को शंभूजी की आँखें फोड़ दी गईं। दूसरे दिन कवि कलश की जीभ काट दी गई और पन्द्रह दिन तक रोजाना उन्हें हर तरह सताया गया। इसके बाद कैदियों को पोरेगाँव भेजा गया जहाँ उन्हें २१ मार्च को बड़ी निर्दयता के साथ मार डाला गया और उनके शरीर के टुकड़े टुकड़े करके कुत्तों को डाल दिए गये। उनके सिर में भूसा भर कर दक्खिन के मुख्य मुख्य नगरों में ढोल पीट पीट कर घुमाया गया।

शम्भूजी का चरित्र

इस प्रकार दूसरा मराठा राजा केवल नौ वर्ष के अल्प शासन-काल के पूर्व ही समाप्त हो गया। शम्भूजी एक वीर सैनिक तो था किन्तु एक अच्छा राजा अथवा राजनीतिज्ञ नहीं था। उसमें न तो अपने पिता जैसी संगठन-शक्ति थी और न अवसर का लाभ उठाने की उस जैसी योग्यता। इसके अतिरिक्त उसमें विरोध का शान्त करना, मनुष्य के गुणों का पहचानना और साथियों के निभा लेने का गुण भी नहीं था। उसने अपनी चरित्रहीनता के कारण अपने पिता के मन्त्रियों तथा अफसरों के साथ झगड़ना शुरू कर दिया था जिसका परिणाम यह हुआ कि वह उन्हीं पर सन्देह करने लगा जिन्होंने उसके पिता के राज्य को समृद्धिशाली बनाया था। औरंगज़ेब का पुत्र अकबर दक्खिन में आ गया था किन्तु वह उससे मिलकर औरंगज़ेब अथवा उसकी राजधानी पर हमला करने में चूक गया। शम्भूजी वीर और उत्साही होते हुए भी अपने जीवन में बिल्कुल असफल रहा किन्तु उसकी क्रूरतापूर्ण मृत्यु से उसके पापों का प्रायश्चित हो गया। उसके बन्दी जीवन तथा मृत्यु ने मराठा जाति को एकता के सूत्र में पिरोकर उसमें वह शक्ति और साहस भर दिया कि वह मुग़ल सम्राट को हराने के लिये कटिबद्ध हो गई।

राजाराम, १६८०–१७००

शम्भूजी की गिरफ़्तारी के समय शिवाजी का द्वितीय पुत्र राजाराम उन्नीस वर्ष का नवयुवक था अतः १९ फरवरी १६८९ को वही राजा घोषित कर दिया गया। उसने प्रहलाद नीराजी तथा उन सभी बड़े-बड़े अफसरों को मुक्त कर दिया जिन्हें शम्भूजी ने अन्यायपूर्वक गिरफ्तार कर लिया था। इसके बाद उसने राजधानी के बचाने की तैयारी की जिस पर ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ ने घेरा डाल रक्खा था। शम्भूजी की

विधवा येसूबाई राजाराम को सुरक्षा के लिये विशालगढ़ में चले जाने की सलाह देकर स्वयं निर्भीकतापूर्वक रायगढ़ के घेरे का मुकाबला करने के लिये डट गई। इस वीरांगना से उत्साह पाकर प्रहलाद नीराजी और शंकरजी मलहार ने मुग़लों के प्रदेश पर अभूतपूर्व धावा बोल कर उसे लूटना और जलाना आरंभ कर दिया। उन्होंने मुग़लों के दक्षिणी प्रदेश के प्रत्येक भाग में शत्रु की गति-विधि का पता लगाने के लिये गुप्तचर भेज दिये। उन्होंने रायगढ़ पर ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ की नई कुमुक का आना रोक दिया, किन्तु उन्हीं के एक अफ़सर के विश्वासघात से राजधानी का पतन हो गया। सूर्यजी पिसाल बहुत दिन से वाई की देशमुखी जमींदारी (वतन) चाहता था। ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ ने उसे उसको देने की प्रतिज्ञा कर ली, जिसके लालच में आकर उसने १३ नवम्बर १६८९ को ज़ुल्फ़िक़ार की फ़ौज के लिये किले का दरवाजा खोल दिया। ज़ुल्फ़िक़ार येसूबाई, उसका छोटा पुत्र शाहू तथा दूसरे प्रतिष्ठित सज्जनों को गिरफ़्तार कर मुग़लों के शिविर में ले आया। अतः औरंगज़ेब ने और बहुत से किलों पर अधिकार कर लिया। किन्तु उसकी यह सफलता अल्पकालीन ही रही क्योंकि अब मराठों के स्वतंत्रता-युद्ध ने लोक-युद्ध का रूप ले लिया था।

राष्ट्र के विनाश को देख कर मराठों में ऐसा उत्साह आया कि वे सारी शक्ति बटोर कर देश की रक्षा में सन्नद्ध हो गये। यद्यपि राजाराम में अपने पिता जैसी संगठन शक्ति नहीं थी तो भी उसके नेतृत्व में अनेक वीर युवकों ने मुग़लों के तूफानी धावे को रोकने का पूरा प्रयत्न किया। इनमें सबसे प्रमुख प्रहलाद नीराजी था जो अपने समय में महाराष्ट्र में सबसे अधिक चतुर समझा जाता था। राजाराम का दूसरा प्रमुख सलाहकार रामचन्द्र नीलकंठ था। इसमें मनुष्यों के गुणों को पहचान कर उन्हें राष्ट्र-रक्षा के काम में लगा देने की अद्भुत दक्षता थी। यह अपने विशालगढ़ के प्रधान कार्यालय से उत्तर में बुरहानपुर से लेकर दक्षिण में जिंजी तक के विशाल युद्ध-क्षेत्र पर सतर्क दृष्टि रखता था। इन दो मनुष्यों के नीचे अलौकिक योग्यता के चार लेफ्टिनेन्ट और थे जिनके नाम थे (१) परसराम त्रियम्बक प्रतिनिधि (२) शंकरजी नरायन सचिव (३) शांताजी घोरपाडे और (४) धन्ना जी जादव। इन चारों ने आश्चर्यजनक कार्यों से औरंगज़ेब के सारे मंसूबों पर पानी फेर कर मराठों की उस खोई हुई स्वतंत्रता को बचा लिया जो शम्भूजी की गिरफ़्तारी और रायगढ़ की राजधानी के पतन से नष्ट हो गई थी।

राजाराम अपने परिवार और दरबार के साथ जिंजी भाग गया। किन्तु कुछ दिन बाद जिंजी ही मराठों की राजधानी बन गई। यहीं से उत्साही और साहसी मराठों की टुकड़ियाँ महाराष्ट्र में मुग़लों पर हमला करने के लिये भेजी गईं। ये उन्हें

हर सम्भव तरीके से परेशान कर उन्हें देश में सामूहिक रूप से एक जगह इकट्ठा होने नहीं देती थीं।

इसी बीच में औरंगज़ेबी सेना ने ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ के नेतृत्व म जिंजी का घेरा डाल दिया। यह घेरा तो आठ साल तक डला रहा किन्तु राजाराम निकल कर महाराष्ट्र में भाग गया। लड़ाई फिर भी जारी रही और शान्ताजी घोरपाडे तथा धानाजी जादव ने मुग़लों की बड़ी दुर्दशा कर दी। उन्होंने औरंगज़ेब के शिविर को घेरकर उसे अनेक बार लूट डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र का घेरा डालकर उसे जीतने की इच्छा रखने वाला औरंगज़ेब मराठों से स्वयं घिर गया। किन्तु हठी और खूसट औरंगज़ेब ने समझौते की चिन्ता न करके जीतने का पूरा पूरा प्रयत्न किया किन्तु अन्त में बुरी तरह हार गया।

राजाराम मार्ग में मुग़लों से बचता हुआ मार्च १६९८ के प्रारम्भ में ही विशालगढ़ में आ गया था। उसने सतारा में अपना दरबार स्थापित किया। हालांकि सतारा कुछ दिन बाद ही छिन गया किन्तु मराठों ने इसे १७०४ में फिर वापिस ले लिया। राजाराम ने देश का भ्रमण कर अपने अनेक किलों के किलेदारों को प्रोत्साहन दिया। फिर उसने कुछ सेना को ख़ानदेश तथा बरार को लूटने तथा चौथ वसूल करने के लिए भेजा। १६९९ में उसने सूरत के लूटने का बहाना कर सिंहगढ़ के लिए प्रस्थान किया। एक मुग़ल सेना ने उसे पीछे लौटने के लिए विवश कर दिया। इस समय मराठों में जोश था और उन्होंने उन्नति भी कर ली थी, अतः उन्हें विश्वास हो गया था कि वे तूफान की तरह बढ़ने वाले मुग़लों को खदेड़ देंगे। किन्तु राजाराम बीमार पड़ गया और सतारा का घेरा डला रहने के कारण वह पालकी में सिंहगढ़ ले जाया गया जहाँ तीस वर्ष की अवस्था में १२ मार्च १७०० को उसकी मृत्यु हो गई।

राजाराम में अपने पिता जैसी सैनिक-योग्यता और आक्रमण की कुशलता नहीं थी। शिवाजी की मृत्यु के समय वह केवल दस वर्ष का बच्चा था और फिर उसे शंभूजी की कैद में रहना पड़ा था, अतः उसे उचित शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। शंभूजी की गिरफ़्तारी और मृत्यु के कारण ही वह सिंहासन पर बैठ सका। किंतु वह बड़ा भाग्यशाली था कि उसे रामचन्द्र पंत और प्रह्लाद नीराजी जैसे अलौकिक योग्यता के सलाहकार तथा शान्ताजी तथा धानाजी जैसे वीर योद्धा उसकी योजना एवं नीति के चलाने के लिये मिल गये थे। यही कारण है कि राजाराम के राज्य को इस बात का गर्व है कि जहां तक मराठा-हितों का सम्बन्ध है उसने विषम स्थिति को बदल दिया था। किन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि राजाराम दुर्बल राजा,

अफीमची और चरित्रहीन था। उसमें सबसे बड़ा गुण यह था कि वह अपने मन्त्रियों का पूरा पूरा विश्वास करता था। वह शायद ही कभी उनके काम में हस्तक्षेप करता था और यही उसकी सफलता का मुख्य कारण था।

ताराबाई का प्रभुत्व, १७००-१७०७

राजाराम की मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानी सरकार की वास्तविक अध्यक्षा हुई। वह अपने चार वर्ष के पुत्र शिवाजी द्वितीय का राज्याभिषेक कर स्वयं उसकी संरक्षिका बन गई। यद्यपि नई मराठा राजधानी सतारा का पतन राजाराम की मृत्यु के एक महीने बाद ही हो गया था किन्तु इस वीरांगना ने इसके लिये आंसू बहाने में एक क्षण भी नष्ट नहीं किया। उसने जनता में उत्साह का संचार कर औरंगज़ेब के विरुद्ध कड़ा मोर्चा बनाया। उसने विलक्षण संगठन शक्ति का परिचय देकर मराठों में देश-भक्ति का संचार कर दिया। इस समय पनहाला और विशालगढ़ के दृढ़ किले मराठों की राजधानी बने हुए थे, अतः औरंगज़ेब ने पनहाला को जीतने की अपनी सेना को आज्ञा दी। मराठे औरंगज़ेब के शिविर को निरन्तर घेर कर यथासम्भव उसकी हर एक चीज़ ले गये। सम्राट ने मराठों के अनेक किलों पर अधिकार कर लिया था किन्तु वे सब एक एक करके उसके हाथ से निकल गये। ताराबाई के नेतृत्व में मराठों की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती गई जिससे विवश होकर औरंगज़ेब को अपने बचाव में लगना पड़ा। वृद्ध सम्राट के राज्य के अन्तिम वर्ष में तो मराठों ने महाराष्ट्र पार कर मालवा और गुजरात तक लम्बे लम्बे छापे मारे। उन्होंने पश्चिमी समुद्र तट के बुरहानपुर, सूरत, बरोच और दूसरे समृद्ध नगरों को लूट डाला। उन्होंने दक्षिणी कर्नाटक में अपना राज्य स्थापित किया। इन्हीं विपत्तियों में २ मार्च १७०७ को औरंगज़ेब का देहान्त हो गया।

ताराबाई बड़ी योग्यता और कुशलता से अपने पुत्र के नाम पर महाराष्ट्र का काम-काज चलाती रही। किंतु रामचन्द्र पन्त साहू को राजा बनाना चाहता था अतः वह इस सर्वाधिकारिणी रानी का विरोधी बन कर दरबार में उसके अधिकार का विरोध करने लगा। ताराबाई के मुख्य समर्थक परसराम त्रियम्बक, धानाजी जादव और शंकरजी नरायन थे। इन्हीं की सहायता से वह उत्साह के साथ युद्ध करती रही। वह सेना का संचालन करने के लिए एक किले से दूसरे किले में निरन्तर घूमती रही। मराठों को अपने स्वातन्त्र्य-युद्ध में जो सफलता मिली वह इसी रानी के व्यक्तित्व पर निर्भर थी।

विशेष अध्ययन के लिये पुस्तकें

(अ) मराठी

१. शिवा छत्रपति चेन चरित्र लेखक कृष्णाजी अनन सभासद, सम्पादक के. एन. साने।
२. नाइन्टी वन क़ालमी बखर सम्पादक वी० एस्० वाकास्कर, बरोदा।
३. शिवा कालीन पत्र सार संग्रह, ३ जिल्द, पूना।
४. जेधे शाकावली।

(ब) फारसी

१. आलमगीर नामा लेखक मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम।
२. मुन्तकाब-उल्-लुबाह लेखक ख़्वाफी ख़ाँ।
३. नुस्काए दिलकुशा लेखक भीमसेन बुरहानपुरी।
४ मुहम्मद नामा (हिस्ट्री आफ् मुहम्मद अली शाह) लेखक मुहम्मद ज़हूर।
५. तारीख़े-अली आदिलशाह द्वितीय। लेखक सैय्यद नुरुल्लाह।
६. ख़तूते-शिवाजी रायल एशियाटिक सुसाइटी (हस्तलिखित)।
७. परासनीस (हस्तलिखित संग्रह)।

(स) अंग्रेजी तथा दूसरी योरोपियन भाषाएँ

१. Records of Fort St. George : Diary & Consultation Book for 1672-78 and 1678-79, मद्रास में मुद्रित।
२. Factory Records of Rajapur, सूरत बोम्बे, फोर्ट सेन्ट जार्ज मद्रास, इत्यादि (हस्त लिखित)।
३. Diary of W. Hedges सम्पादक यूले।
४. English Records on Shivaji (१६५९-१६८२), सम्पादक बी० जी० परान्जपे।
५. Dutch Factory Records, इन्डिया ऑफिस लन्दन में सुरक्षित। इनमें अधिकतर का अनुवाद अंग्रेज़ी में हो गया है।
६. Storia do Mogor, लेखक मनूकी, डब्ल्यू० इरविन द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, ४ जिल्द।
७. Travels of Bernier, सम्पादक कॉन्स्टेबिल, दो जिल्द।
८. Travels of Travernier, सम्पादक बाल, २ जिल्द।
९. J. Fyer's New Account of East India, सम्पादक डब्लू० क्रुक, ३ जिल्द।

(द) आधुनिक साहित्य

१. History of the Marathas लेखक ग्रान्ट डफ, ३ जिल्द।
२. Shiva Chhatrapati लेखक एस० एन० सेन।
३. Shivaji and his Times लेखक सर यदुनाथ सरकार, चतुर्थ संस्करण।
४. The House of Shivajl लेखक सर यदुनाथ सरकार।
५. History of the Marathas लेखक किन्केड तथा पारासनीज़, ३ जिल्द।
६. A New History of the Marathas लेखक जी०एस० सरदेसाई, ३ जिल्द।
७. Shivaji the Great लेखक बाल कृष्ण।
८. Shivaji, the Founder of Hindu Swaraj लेखक सी० वी० वैद्य।

अध्याय १०

उत्तर कालीन मुग़ल सम्राट

बहादुरशाह १७०७-१७१२

औरंगज़ेब का तात्कालिक उत्तराधिकारी उसका तिरेसठ वर्ष का द्वितीय पुत्र मुअज़्ज़म (शाह आलम) था। मई १७०७ में लाहौर से २४ मील उत्तर शाह-दौला नामक पुल पर इसने बहादुरशाह नाम से अपने को सम्राट घोषित किया। जब वह अफ़ग़ानिस्तान के जमरूद नामक स्थान में था तब उसे २२ मार्च को अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला। समाचार मिलते ही वह उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिये बड़ी तेजी से दिल्ली के लिये रवाना हुआ। इस काम में उसके साथी मुनीम ख़ाँ ने उसकी बड़ी सहायता की। उसका द्वितीय पुत्र अज़ीम-उश-शान दक्खिन की यात्रा करता हुआ कोरा में ठहरा हुआ था। वह भी पिता की सहायता के लिए आगरा के लिये चल पड़ा। उसने नगर पर अधिकार कर किले का घेरा डाल दिया। १२ जून को बहादुरशाह ने स्वयं आगरे जाकर किले तथा २४ करोड़ के ख़ज़ाने पर अधिकार कर लिया। औरंगज़ेब की मृत्यु के समय मुअज़्ज़म का छोटा भाई आज़मशाह अहमद-नगर से कुछ ही मील दूर था। उसने भी २४ मार्च को अपने सम्राट होने की घोषणा कर दी और कुछ दिनों वहीं रुकने के बाद आगरे के लिये रवाना हुआ। यदि वह अपने योग्य पुत्र बिदार बख़्त को आगरा जाने की आज्ञा दे देता तो वह अज़ीम-उश-शान के आने से पहले क़िले तथा ख़ज़ाने पर संभवतः अधिकार कर लेता। किन्तु आज़म मूर्ख और चरित्रहीन था तथा अपने पुत्र से द्वेष रखता था। उसने अपने कितने ही अमूल्य दिन व्यर्थ खो दिये, अतः आगरा के आस पास आने पर शाही नगर को बहादुरशाह के अधिकार में पाया। बहादुरशाह ने उससे साम्राज्य के बांट लेने का अनुरोध किया किन्तु उसने इस अनुरोध को ठुकरा कर समोगढ़ के निकट जाजऊ में उससे युद्ध किया और १८ जून १७०७ को युद्ध में मारा गया।

दिल्ली की गद्दी पर निष्कण्टक बैठने से पूर्व बहादुरशाह को अपने छोटे भाई कामबख़्श से और मुठभेड़ लेनी पड़ी। यह बीजापुर का सूबेदार था किन्तु मूर्ख और हठी था। पिता की मृत्यु का समाचार सुनते ही वह गद्दी पर बैठ गया और हिन्दुस्तान के साम्राज्य के लिये युद्ध की तैयारी करने लग गया। बहादुरशाह नर्मदा पार करके १७ मई १७०८ को कामबख़्श से मिला और उससे शांतिपूर्वक समझौता करने का

अनुरोध किया। कामबख़्श ने उसके इस अनुरोध को ठुकरा कर १३ जनवरी १७०८ को हैदराबाद के समीप युद्ध छेड़ दिया जिसमें कामबख़्श बुरी तरह से हार गया। घावों के कारण रात को उसकी मृत्यु हो गई। अब बहादुरशाह साम्राज्य का निष्कण्टक स्वामी बन गया।

आज़म पर विजय प्राप्त करने के बाद बहादुरशाह को राजपूताना जाना पड़ा। यहाँ जोधपुर का अजीतसिंह अपने को स्वतंत्र घोषित कर अजमेर के मुग़ल प्रदेश पर हमले कर रहा था। सम्राट जनवरी १७०८ में आमेर पहुँचा। इस समय यहाँ उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर झगड़ा हो रहा था। बहादुरशाह ने इसमें हस्तक्षेप कर विजयसिंह को कछवाहा राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। इसके बाद वह जोधपुर गया। उसने मेरटा में अजीतसिंह को हरा कर उसे क्षमा कर दिया और ३,५०० की मनसबदारी देकर महाराजा की उपाधि दी। इसके बाद वह कामबख़्श से युद्ध करने के लिये अजमेर होता हुआ दक्खिन के लिये रवाना हुआ। जब वह दक्खिन की यात्रा कर रहा था तब अजीतसिंह, दुर्गादास और जयसिंह कछवाहा इत्यादि राजपूत राजे ३० अप्रैल १७०८ को उसके शिविर से भागकर मेवाड़ के महाराजा अमरसिंह से जा मिले। उन्होंने मिल कर मुग़लों का मुकाबला करने की प्रतिज्ञा की और जोधपुर के मुग़ल-किलेदार को निकाल दिया। इसके बाद उन्होंने हिंडौन और बयाना के फौज़दार को हरा कर आमेर को छीन लिया जिस पर राजा जयसिंह कछवाहा का अधिकार हो गया। उन्होंने मेवात के किलेदार सय्यद हुसैन ख़ाँ बारहा पर भी हमला कर सितम्बर १७०८ में उसे मार डाला। इन सब कारणों से बहादुरशाह को मई १७१० में राजपूताना लौटना पड़ा। किन्तु अपनी दुर्बलता के कारण और पंजाब में सिक्खों के उपद्रव के कारण उसने राजपूत राजाओं से संधि करने का निश्चय कर लिया। उसने उन्हें क्षमा प्रदान कर २१ जून १७१० को उपहार सहित अपनी अपनी रियासतों को भेज दिया।

मारवाड़ के राजपूतों की तरह पंजाब के सिक्ख भी औरंगज़ेब की मृत्यु का लाभ उठाकर खुले विद्रोही बन गये थे। नवम्बर १७०८ में गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु हो जाने पर उनके अनुयायियों ने दक्खिन में एक ऐसे आदमी को उपस्थित किया जो गुरुजी से आकृति में मिलता था। उन्होंने उसे पंजाब भेजा और यह घोषणा कर दी कि गुरुजी सिक्खों को मुसलमानों से मुक्ति दिलाने के लिये पुनः जीवित हो गये हैं। बन्दा नाम का यह व्यक्ति दिल्ली के उत्तर पश्चिम में अकस्मात् प्रकट हुआ। उसने अपनी उपाधि 'सच्चा बादशाह' रक्खी और मुग़लों के विरुद्ध सिक्खों का धर्म युद्ध के लिये आवाहन किया। उसने सोनीपत के फौज़दार को हराया, अम्बाला से २६ मील

पूर्व में स्थित सधौरा नगर को लूटा और २२ मई १७१० को सरहिन्द के फौज़दार वज़ीर ख़ाँ को हरा कर मार डाला। उसने सरहिन्द को चार दिन तक लूट कर, मुसलमानों का क़त्ले आम किया और मस्जिदों को भ्रष्टकर अन्त में उस पर अधिकार कर लिया। इस हमले और लूट में उसे २ करोड़ रुपये मिले और उसके अनुयायियों की संख्या बढ़कर ४०,००० हो गई। बन्दा ने सरहिन्द को अपनी प्रधान छावनी बना कर वहीं से मुग़लों के पंजाब और आधुनिक उत्तर प्रदेश पर लूट मार मचाना आरंभ कर दिया। कुछ सिक्खों ने अमृतसर से इकट्ठा हो कर लाहौर पर हमला किया किन्तु वे हरा दिये गये। किन्तु फिर भी उन्होंने दिल्ली से लाहौर तक अपना अधिकार जमा कर इन दोनों नगरों के बीच के यातायात को रोक दिया।

राजपूतों से संधि कर लेने के बाद बहादुरशाह सिक्खों को दंड देने के लिये अजमेर से २७ जून १७१० को चल कर दिसम्बर के प्रथम सप्ताह में सधौरा पहुँचा। किन्तु बन्दा ने बहादुरशाह के आने के कुछ दिन पूर्व ही सधौरा को छोड़ कर लोहगढ़ में अपनी प्रधान छावनी बना ली थी। यह स्थान मुखीशपुर का एक किला था और सधौरा से १२ मील उत्तर पूर्व में था। उसने यहाँ राजा बन कर अपने नाम के सिक्के चलाये। सम्राट ने लोहगढ़ का घेरा डाला किन्तु सिक्खों ने कड़ा मुकाबला करके अपने साहस से किले को बचा लिया। अधिक वर्षा और शीत के कारण तथा रसद न पहुँचने के कारण साम्राज्यवादियों को यहाँ बड़ी हानि उठानी पड़ी। अन्त में उन्होंने लोहगढ़ पर अधिकार कर लिया किन्तु बन्दा दुर्ग के पतन के पूर्व ही भाग गया। यहाँ बहुत से क़ैदियों के साथ साथ २ करोड़ रुपये मुग़लों के हाथ लगे।

मुग़लों ने जनवरी १७११ में सरहिन्द पर फिर अधिकार कर लिया किन्तु सिक्खों ने शाही प्रदेशों पर हमले जारी रक्खे। उन्होंने पहाड़ियों से उतर कर उत्तरी पंजाब में फिर से उपद्रव आरंभ कर दिये। उनके उपद्रवों के प्रधान स्थान बारी और रचना के दोआब थे जिन्हें उन्होंने बिलकुल उजाड़ दिया था। मुहम्मद अमीन ख़ाँ और रुस्तम ख़ाँ ने बन्दा को हराकर पसरूर के पास जम्मू की पहाड़ियों में खदेड़ दिया। किन्तु २७ फरवरी १७१२ को बहादुरशाह की मृत्यु के कारण बन्दा के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया जा सका। गुरु ने सधौरा और लोहगढ़ पर फिर अधिकार कर पहिले की तरह फिर लूट खसोट जारी कर दी।

मृत्यु के समय बहादुरशाह की अवस्था ६९ वर्ष की थी। वह औरंगज़ेब की मस्जिद के आंगन में दफ़नाया गया जो दिल्ली के बाहर कुतुबुद्दीन काक़ी के मकबरे के पास है। वह कोमल और उदार था। यद्यपि उसका व्यवहार बहुत उत्तम था किन्तु तो भी वह एक दुर्बल शासक था। वह किसी से 'न' कहना तो जानता ही नहीं था।

कामों को इकट्ठ होते रहने देना और निर्णयों को स्थगित करते रहना ही उसकी नीति थी। उसे इस बात का डर रहता था कि कहीं उसके निर्णय से दरबार में कोई अप्रसन्न न हो जाय। महत्त्वपूर्ण राजनीतिक एवं शासन सम्बन्धी विषयों में भी उसे समझौता ही पसन्द था। उसने अपने अत्यन्त स्वामिभक्त और योग्य साथी मुनीम ख़ाँ को प्रधान मन्त्री बनाने का वचन दिया था किन्तु उसके पिता के प्रधान मन्त्री असद ख़ाँ ने इस पद पर अपना अधिकार बताया। बहादुरशाह ने मुनीम ख़ाँ को वज़ीर या अर्थ मन्त्री बना कर और असद ख़ाँ को अपने पद पर ही रख कर दोनों को प्रसन्न करने का उद्योग किया। इस प्रकार अधिकारों के बंट जाने से शासन के कार्य में बड़ी गड़बड़ी मच गई और दोनों सरदारों में से कोई भी संतुष्ट नहीं हुआ। बहादुरशाह उपाधि और इनाम तो ख़ूब देता था, किन्तु शासन पर पूरा नियन्त्रण रखने में असमर्थ था। अतः वह आम तौर से असावधान राजा या शाह बेख़बर कहा जाता था। वह अपने पिता की तरह धार्मिक असहिष्णु था। उसने भी ज़ज़िया जारी रक्खा और हिन्दुओं को ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त नहीं किया। परम्परा से मुग़ल साम्राज्य की जो प्रतिष्ठा चली आ रही थी उसी के बलबूते पर शासन का कार्य किसी तरह चलाता रहा। किन्तु बहादुरशाह में एक गुण था कि उसने अपने पिता के समय के अनुभवी अफ़सरों को उनके पदों से न तो हटाया और न उनके काम में हस्तक्षेप ही किया। अतः उसका शासन-काल बहुत कुछ सफल रहा।

जहाँदारशाह, १७१२-१७१३

बहादुरशाह की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिये उसके पुत्रों में तीन युद्ध हुए। उसके पुत्रों के नाम जहाँदारशाह, अज़ीम उश शान, रफ़ी उश शान और जहानशाह थे। ये चारों ही उस समय लाहौर में थे। प्रधान मंत्री असद ख़ाँ के पुत्र ज़ुल्फ़िकार ख़ाँ ने अज़ीम उश शान के विरुद्ध गुप्त रूप से षड्यन्त्र रचकर तीनों भाइयों में मेल करा दिया जिससे वे तीनों मिलकर उस पर हमला कर दें। अज़ीम उश शान हार कर लड़ाई में मारा गया और उसका सारा धन तथा समृद्धि विजेताओं के हाथ लग गई। फिर तीनों भाइयों में आपस में झगड़ा हुआ और ज़ुल्फ़िकार की सहायता से रफ़ी उश शान और जहानशाह युद्ध करते हुए मारे गये। अतः २९ मार्च १७१२ को जहाँदारशाह गद्दी पर बैठा। इस समय इसकी आयु ५१ वर्ष की थी। इसने ज़ुल्फ़िकार ख़ाँ को अपना प्रधान-मंत्री बनाया।

नया सम्राट २२ जून १७१२ को दिल्ली पहुँचा। यह बड़ा विलासी था अतः राजकाज छोड़कर भोग-विलास में फंसा रहता था। हालाँकि यह ५१ वर्ष का था और बेटे पोते वाला था तो भी अपना सारा समय लालकुमारी नाम की वैश्या के साथ बिताता था। इसने इसे रानियों से भी अधिक सम्मान दे रक्खा था। इस वैश्या को

वस्त्र और आभूषणों के अतिरिक्त २ करोड़ सालाना भत्ता मिलता था। उसके सम्बन्धियों को राज्य में ऊँचे ऊँचे पद मिले हुए थे। जहाँदार अपने दिन हंसी दिल्लगी में और रातें शराबियों की मस्ती में बिताता था। उसने असभ्यों को और विशेषकर लालकुमारी के रिश्तेदारों को बड़े बड़े सरदारों को अपमानित करने की तथा राजकाज में गड़बड़ी डालने की पूरी छूट दे रक्खी थी। सम्राट का धात्री भाई अलीमुराद, जो 'अमीर-उल-उमरा' नाम से प्रसिद्ध था, वज़ीर ज़ुल्फ़िक़ार ख़ाँ के शासन-कार्य में बुरी तरह दखल देता था। अत: जहाँदार के दस महीने के छोटे से शासन-काल में सारा राजकाज अस्त व्यस्त हो गया था।

अज़ीम उश शान के द्वितीय पुत्र फ़र्रुख़सियर ने जहाँदार के विरुद्ध गद्दी का दावा किया। इस राजकुमार की आयु उस समय तीस वर्ष की थी और यह बंगाल का सहायक सूबेदार था। पिता की मृत्यु के बाद इसने अप्रैल १७१२ में अपने आपको सम्राट घोषित कर दिया। इसने पटना के सहायक सूबेदार सैयद हुसेन अली ख़ाँ और उसके बड़े भाई तथा इलाहाबाद के सहायक सूबेदार अब्दुल्ला ख़ाँ से सहायता ली। ये दोनों भाई 'सैयद भाई' नाम से विख्यात थे और फिर भारतीय इतिहास में 'शासक निर्माता' नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। फ़र्रुख़सियर २५,००० आदमियों को अपने साथ लेकर १८ अक्टूबर १७१२ को पटना से रवाना हुआ। पहले वह ख़जूवा गया। यहां उसने युवराज अज़्ज़उद्दीन को हराया। इस युवराज को जहांदारशाह ने उस पर चढ़ाई करने के लिये भेजा था। अज़्ज़उद्दीन अपने ख़ज़ाने तथा शिविर को छोड़कर आगरे को भागा। दूसरे दिन उसके ख़ज़ाने और शिविर पर फ़र्रुख़सियर का अधिकार हो गया। पुत्र की हार के कारण जहांदार को आगरे स्वयं आना पड़ा। उसकी सरकार बिलकुल अस्त व्यस्त और कंगाल हो गई थी और उसे अपनी सेना को धन से संतुष्ट करना था, अतः शाही भण्डार से वे वस्तुएँ निकाली गईं जिन्हें बाबर के समय से अब तक छुआ भी नहीं गया था। वह २९ दिसम्बर १७१२ को आगरा गया और १० जनवरी १७१३ को फ़र्रुख़सियर द्वारा बुरी तरह से हरा दिया गया। वह दाढ़ी मूंछ मुड़ाकर एक निर्धन ग्रामीण का वेश धारण कर लालकुमारी के साथ एक बैलगाड़ी में बैठकर दिल्ली भाग गया। मार्ग में बड़ी-बड़ी कठिनाइयां सहने के बाद वह २५ जनवरी की रात में चुपके से दिल्ली पहुँचा और शरण के लिये सीधा असद ख़ां के पास पहुँचा। इस चालाक बूढ़े मन्त्री ने इस भूतपूर्व सम्राट को फ़र्रुख़सियर को सौंप देने के लिये गिरफ़्तार कर लिया जिससे वह और उसका बेटा ज़ुल्फ़िक़ार नए सम्राट जहाँदार के कोप से बच जायें। नये सम्राट के दिल्ली आने से एक ही दिन पूर्व फ़र्रुख़सियर की आज्ञा से ११ फरवरी १७१३ को जहांदारशाह मार डाला गया।

मुग़ल वंश में जहाँदारशाह ही पहला शासक था जो राज काज के करने में अयोग्य सिद्ध हुआ। यद्यपि वह अपने प्रारम्भिक जीवन में फुर्तीला सिपाही था किन्तु जवानी में वह आलसी और विषयी बन गया था। प्राचीन और शक्तिशाली राज्य घराने में पैदा होने पर भी उसने ऐसा व्यवहार किया जैसा एक साधारण नवोत्थान वाला हो जिसे भाग्यवश शक्ति और ऐश्वर्य स्वयं अपने जीवन में देखने को मिले हों। उसने सारे सरकारी काम काजों को ऐसे नीच दुराचारी और मूर्खों के हाथ में सौंप दिया था जिन्होंने राज काज की थोड़ी सी भी शिक्षा या योग्यता प्राप्त नहीं की थी। इस असावधानी का बदला उसे दस महीने के छोटे से शासन-काल में उचित ही मिल गया।

फर्रुख़सियर, १७१३—१७१६

११ जनवरी को फ़र्रुख़सियर गद्दी पर बैठा। इस समय इसकी अवस्था ३० वर्ष की थी। यह परम सुन्दर था किन्तु अत्यन्त कायर, अविवेकी और चरित्रहीन था। दुर्बल अविवेकी होने के कारण उसे कोई भी सलाहकार बहका देता था और वह किसी बात का निश्चय करके भी उसे पूरा नहीं कर पाता था। न वह अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रख सकता था और न दूसरों पर। वह योग्य से योग्य मंत्रियों पर भी विश्वास नहीं करता था अपितु बच्चों की तरह अपने मन्त्रियों पर सन्देह कर उनके विरुद्ध षडयन्त्र रचने लगता था। उसके मन्त्री सईद अब्दुल्ला ख़ाँ और मीर बख़्शी हुसेन अली ख़ाँ (सैयद भाई) ने ही उसे गद्दी पर बिठाया था किन्तु उसने उन्हीं के विरुद्ध बहुत दिन तक कमीना षड्यन्त्र रचने का प्रयत्न किया। मार्च १७२३ के आरम्भ में सम्राट तथा उसके मन्त्रियों में कलह का सूत्रपात हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि मन्त्री ने दरबार में आना छोड़ दिया और निरुपाय सम्राट को उसके घर जाकर उससे संधि करनी पड़ी। प्रत्येक महीने में सम्राट विशेषकर अपने दो सलाहकारों की सहायता से वज़ीर और मीर बख़्शी के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता था। उसके सलाहकारों में दो का नाम उल्लेखनीय है—मीर जुमला जो शाही चोबदारों का दरोग़ा था और ख़्वाज़ा आसिफ जिसको ख़ान दौरान समसुद्दौला की उपाधि प्राप्त थी और जो शाही दीवाने आम का दरोग़ा था। किन्तु ये दोनों नये सरदार घर के ही शूर थे तथा साहस एवं योग्यता से हीन थे अतः ये सैयद भाइयों का मुक़ाबला करने में असमर्थ रहे और इन दोनों का षड्यन्त्र सफल न हो सका। यह षड्यन्त्र दीर्घ काल तक चलता रहा और इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि मन्त्रियों तथा सम्राट का पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद हो गया और राज काज में गड़बड़ी मच गई।

फ़र्रुख़सियर ने गद्दी पर बैठने के बाद सबसे पहला काम यह किया कि उसने

१३ फरवरी १७१३ को जुल्फ़िक़ार ख़ाँ को मरवा कर असद ख़ाँ को जेल में डाल दिया और उन दोनों की सम्पत्ति ज़ब्त कर ली। इस समय ऊँचे-ऊँचे पदों पर जो लोग प्रतिष्ठित थे उनमें से 'निज़ाम-उल-मुल्क' नाम से प्रसिद्ध चिन क़िलिच ख़ाँ भी एक था। यह दक्खिन के ६ सूबों का सूबेदार बनाया गया था। यह तूरानी पार्टी का नेता था। फ़र्रुख़सियर के शासन-काल में मेवाड़ के राजा अजीतसिंह पर आक्रमण किया गया। अजीतसिंह ने बहादुरशाह की मृत्यु के बाद शाही अफ़सरों को जोधपुर से निकाल दिया था और अपने राज्य में गौ-हत्या तथा मुसलमानों की अज़ा बन्द करवा दी थी। इसने अजमेर पर भी अधिकार जमा लिया था। हुसेन अली ख़ाँ को राठौर राजा के दमन करने की आज्ञा दी गई थी। अजीतसिंह ने आत्म-समर्पण कर दिया। उसने अपने पुत्र अभयसिंह को सेवा के लिये दरबार में भेजना तथा अपनी एक पुत्री का मई १७१४ को सम्राट के साथ विवाह कर देना स्वीकार कर लिया। हुसेन अली ख़ाँ को शीघ्र ही लौटना पड़ा क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में कायर सम्राट ने अब्दुल्ला ख़ाँ के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रच लिया था। मन्त्री परेशान हो कर स्तीफा देने को तैयार हो गया। फ़र्रुख़सियर इस घटना से डर गया और उसने सैयद भाइयों को प्रसन्न करने के लिये अपने प्रधान सलाहकार मीर जुमला को दरबार से हटाकर बिहार का सूबेदार (गवर्नर) बना कर भेज दिया। इसके बदले में हुसेन अली ख़ाँ ने दक्खिन की सूबेदारी स्वीकार कर ली और वह अप्रैल १७१५ को चार्ज लेने के लिये रवाना हो गया।

सिक्खों के गुरु बन्दा ने सधौरा के निकट एक बड़ा दुर्ग बना कर आस पास के प्रदेश पर शासन करना आरम्भ कर दिया था अतः फ़र्रुख़सियर ने उस पर बड़ा भारी हमला करने का आदेश दिया। लाहौर के सूबेदार अब्दुल समद ख़ाँ ने किले का घेरा डाल दिया। सिक्खों ने बड़ी वीरता से युद्ध किया। किंतु फिर भी सिक्खों को किला छोड़ कर लोहगढ़ में आकर शरण लेनी पड़ी। यहीं उनके गुरुजी रहा करते थे। फिर अब्दुल समद ने लोहगढ़ का घेरा डाल दिया, जिससे विवश होकर गुरु (बन्दा) को अक्टूबर १७१३ में इसे भी खाली कर पहाड़ियों में चला जाना पड़ा। अब इन्होंने वहीं से पंजाब में लूट मार जारी रक्खी। अप्रैल १७१५ में बन्दा को गुरुदासपुर में पुनः घेरा गया। लम्बी और ज़बर्दस्त लड़ाई के बाद १७ दिसम्बर १७१५ को उसे आत्म-समर्पण कर देना पड़ा और वह ७४० अनुयायियों के साथ क़ैद कर लिया गया। फिर इन सबों को दिल्ली में लाकर इनकी निर्मम हत्या कर दी गई। "इस समय सिक्खों ने अद्भुत धैर्य और आत्म-शक्ति का परिचय देकर मृत्यु का मुक्ति के रूप में स्वागत किया। प्राण रक्षा के लिये किसी ने भी इस्लाम धर्म स्वीकार नहीं किया। १९ जून १७१६ को बन्दा तथा उसके तीन बरस के मासूम बच्चे की निर्दयता पूर्वक हत्या कर दी गई।"

चूरामन जाट के दमन करने के भी प्रयत्न किये गये। यद्यपि बहादुरशाह ने इसे साम्राज्य में बड़ा पद दे कर अपने पक्ष में कर लिया था तो भी यह आगरा के आस पास बड़े बड़े डाके डालता रहा था। आमेर के राजा जयसिंह ने थून नामक नये दुर्ग में इसका घेरा डाला किन्तु नई शाही सेना के आने पर भी वह इस पर अधिकार करने में असफल रहा। यह घेरा बीस महीने तक डला रहा। सैयद भाइयों के बीच में पड़ने से चूरामन को किले पर अधिकार बनाये रखने की आज्ञा दे दी गई किन्तु शर्त यह लगा दी गई कि उसे सम्राट के अधीन रहना पड़ेगा। जयसिंह को घेरा उठा लेने की आज्ञा दे दी गई। अप्रेल १७१८ को चूरामन को दिल्ली जाने के लिए विवश किया गया।

इस बीच में फर्रुख़सियर सैयद भाइयों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता रहा। इस काम में वह निज़ाम-उल-मुल्क की सहायता चाहता था जिसे सैयद हुसेन अली ने दक्खिन की सूबेदारी से हटा दिया था। किन्तु निज़ाम-उल-मुल्क को सम्राट के अस्थिर स्वभाव से घृणा हो गई थी अतः वह दो वर्ष बाद दरबार छोड़ कर चला गया। इसके बाद सम्राट ने इनायत उल्ला काश्मीरी को चार हज़ारी की पद्वी देकर माल मन्त्री बना दिया। यद्यपि उसने शासन में सुधार करने के प्रयत्न किये और हिन्दुओं पर ज़ज़िया भी लगाया किन्तु वह सैयद भाइयों के निकालने में असफल रहा। तब फर्रुख़सियर ने मुहम्मद मुराद नाम के दूसरे काश्मीरी सरदार को सैय्यद भाइयों के हटाने के लिये सात हज़ारी ओहदे पर नियुक्त किया किन्तु वह भी असफल रहा। इसके बाद सर बुलन्द खां को सात हज़ारी की पदवी दी गई किन्तु वह सैय्यद भाइयों के निकालने के षड्यन्त्र में शामिल नहीं हुआ। इसके बाद सम्राट ने ईद की नमाज़ में अब्दुल्ला ख़ां के घेरने का षड्यन्त्र रचा किन्तु बाद को उसे इस विचार को छोड़ देना पड़ा। इस बीच में मीर जुमला और समसामुद्दौला जैसे सम्राट के परम मित्र भी सैय्यद भाइयों के पक्ष में हो गये थे। अब भी मूर्ख फर्रुखसियर ने अपने कायरतापूर्ण कामों को बन्द नहीं किया और वह वज़ीर अब्दुल्ला ख़ां को परेशान करता रहा जिससे विवश होकर उसे अपने भाई हुसेन अली ख़ां को दक्खिन से दिल्ली बुलाना पड़ा। हुसेन अली ख़ां ने शाहू से सन्धि करके मराठों की सहायता प्राप्त कर ली। इस सन्धि की शर्तें ये थीं (१) शाहू को दक्षिण प्रान्त की मालगुज़ारी पर चौथ और सरदेशमुखी अर्थात् दशांश वसूल करने का अधिकार दे दिया जाय। (२) शाहू का पैत्रिक राज्याधिकार स्वीकार कर लिया जाय। (३) और दिल्ली जेल में पड़ी हुई शाहू की माता तथा उसका धात्री भाई छोड़ दिया जाय। वह उन ११,००० मराठा सैनिकों के वेतन देने के लिये भी राजी हो गया जिन्हें वह पेशवा बालाजी विश्वनाथ के नेतृत्व में दिल्ली ले जा रहा था। मीर बख़्शी १४ दिसम्बर १७१८ को बुरहानपुर

से चलकर १६ फरवरी १७१८ को दिल्ली पहुँचा और उसने यह बहाना किया कि वह औरंगज़ेब के चतुर्थ पुत्र अकबर को दिल्ली लिये जा रहा है। यद्यपि इस बीच में फ़र्रुख़सियर ने सैय्यद अब्दुल्ला ख़ां से माफ़ी मांग कर उसे और उसके भाई को अच्छी-अच्छी बख़्शीशें भी दीं और उनकी पार्टी के सरदारों को प्रसन्न करने की चेष्टा की तो भी उसे गद्दी से उतारने का ही पक्का निश्चय रहा जिससे कि उसकी मक्कारियों का सदा के लिये अन्त हो जाय। हुसेन अली ख़ाँ २३ फरवरी को सम्राट से मिला। सम्राट ने बड़ी दीनता पूर्वक उससे क्षमा माँग कर उसके सिर पर अपनी पगड़ी रख दी। पहले तो सैय्यद भाइयों ने दरबार को अपने नामज़द आदमियों से भरा और फिर २७ फरवरी १७१६ को उन्होंने अजीतसिंह तथा उसके साथियों के साथ महल में घुस कर किले के फाटक, दफ़्तर और शयनागारों पर अधिकार कर लिया। हुसेन अली ख़ाँ ने अपने आदमियों को नगर में तथा मराठों को इसकी चहार दीवारी पर नियुक्त कर दिया। किले के भीतर सम्राट और वज़ीर के बीच एक तूफान खड़ा हो गया था। फ़र्रुख़सियर ने भयभीत होकर जनानखाने में शरण ली। नगर में दंगा फिसाद होने के कारण फ़र्रुख़सियर को गद्दी से तुरन्त उतार देना ही उचित समझा गया। २८ फरवरी १७१६ को रफ़ी उश शान का पुत्र रफी-उद-दरजात लाया गया और मयूर-सिंहासन पर बिठा कर सम्राट घोषित कर दिया गया। फ़र्रुख़सियर को घसीट कर बाहर लाने के लिये कुछ अफ़ग़ान जनानखाने में भेजे गये। सम्राट को गद्दी से उतार कर और अंधा बना कर जेल में डाल दिया गया। २७-२८ अप्रैल १७१६ को उसे गला घोंट कर मार डाला और हुमायूँ के मकबरे में दफ़ना दिया गया। दिल्ली के सिंहासन पर बाबर वंश के जितने भी सम्राट अब तक बैठे उनमें यह सबसे अधिक निकम्मा साबित हुआ।

रफी-उद-दरजात, २८ फरवरी-४ जून, १७१६

रफी-उद-दरजात रफी-उश-शान का पुत्र था और २८ फरवरी को सिंहासन पर बैठने के समय वह २० वर्ष का नवयुवक था। किन्तु यह क्षय रोग से बुरी तरह पीड़ित था। नया सम्राट सैयद भाइयों के हाथ की कठपुतली मात्र था। वास्तव में उसके नाम पर वे ही शासन करते थे। अब अकबर के पुत्र निकू-सियर ने राजविद्रोह किया। यह नागर ब्राह्मण मित्रसेन को मंत्री बना कर आगरा के किले में सम्राट बन बैठा। ४ जून १७१६ को रफी-उद-दरजात गद्दी से उतार दिया गया क्योंकि वह रोग के कारण मरणासन्न हो गया था। गद्दी से उतारने के एक सप्ताह बाद वह मर गया।

रफी-उद-दौला उर्फ शाहजहाँ द्वितीय, ६ जून—१७ सितम्बर १७१६

रफी-उद-दौला गद्दी से उतारे हुए राजा रफ़ी-उश-शान का बड़ा भाई था। वह ६ जून १७१६ को शाहजहाँ द्वितीय के नाम से सिंहासन पर बिठाया गया था।

यह भी क्षयग्रस्त था और सैयद भाइयों के हाथ की कठपुतली था। इसके शासन-काल में हुसेन अली ख़ाँ ने आगरा जाकर निकू-सियर के विद्रोह को शान्त किया। निकू-सियर गिरफ़्तार कर जेल में डाल दिया गया और मित्रसेन ने आत्महत्या कर ली। रफी-उद्-दौला जवान तो था किन्तु सदा बीमार रहता था। १७ सितम्बर १७१६ को उसकी मृत्यु हो गई।

मुहम्मदशाह, १७१६—१७४८

सैय्यद भाइयों ने अब जहानशाह के पुत्र रौशन अख़्तर को मुहम्मदशाह नाम से २८ सितम्बर १७१६ को गद्दी पर बिठाया। यह राजकुमार दुर्बल और अनुभवहीन था, अतः सारी शक्ति सैय्यद भाइयों ने अपने ही हाथ में रक्खी। निज़ाम-उल-मुल्क मालवा का सूबेदार नियुक्त हुआ और वह ३ मार्च १७१६ को वहाँ का काम संभालने के लिये चला गया। गिरधर बहादुर अपने चाचा छबेलाराय की जगह इलाहाबाद का सूबेदार नियुक्त हुआ। वह भी संधि करके अवध के सूबे को काम संभालने के लिये अप्रैल १७२० को इलाहाबाद से चल दिया। निज़ाम-उल-मुल्क और सैय्यद भाइयों में अब चल गई थी अतः मई १७२६ में निज़ाम-उल-मुल्क ने खानदेश पर आक्रमण कर दिया जो सैयद हुसेन अली के वायसरायी अधिकार में था। अतः सैय्यद भाइयों का भतीजा दिलावर अली ख़ाँ निज़ाम को दण्ड देकर खदेड़ने के लिये भेजा गया। इसी बीच में निज़ाम ने पहले असीरगढ़ और फिर बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। उसने बुरहानपुर में रहने वाली सैय्यद भाइयों की माता के साथ अच्छा व्यवहार किया। उसने ख़ानदेश में दिलावर अली ख़ाँ को हरा कर मार डाला। इसके बाद उसने हुसेन अली ख़ाँ के भतीजे और उसके नायब आलम अली ख़ाँ के साथ युद्ध किया और उसे भी हरा कर १० अगस्त को मार डाला। इस समाचार से सैय्यद भाई बहुत घबड़ाये और उन्होंने बड़े वाद-विवाद के बाद निज़ाम-उल-मुल्क के दबाने के लिये हुसेन अली को सम्राट के साथ दक्खिन भेजने का तथा अब्दुल्ला खाँ को शासन प्रबन्ध के लिये दिल्ली में छोड़ने का निश्चय किया। सम्राट दक्खिन के रास्ते में ही था कि हुसेन अली ख़ाँ के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा गया। इन षड्यन्त्रकारियों में तूरानी पार्टी का नेता मुहम्मद अमीन ख़ाँ मुख्य था। इसके सहायकों में ईरानी साहसी योद्धा मुहम्मद अमीन और शाही तोपख़ाने का सुपरिण्टेण्डेण्ट हैदर कुली ख़ाँ इत्यादि थे। प्रातःकाल ६ अक्टूबर १७२० को सम्राट हुसेन अली का अभिवादन स्वीकार कर ज्यों ही टोडा भीम के पास के अपने शिविर में घुसा और हुसेन अली अपने शिविर के लिये रवाना हुआ त्यों ही मुहम्मद मुनीम ख़ाँ की टुकड़ी के एक हैदरबेग़ नामक सैनिक ने हुसेन अली को एक प्रार्थना-पत्र दिया और जब वह उसे पढ़ने लगा तब मीर बख़्शी की बगल में छुरा भोंक कर उसे

मार डाला। स्वर्गीय हुसेन अली की सम्पत्ति तथा सामान को लोगों ने लूट लिया। अब सम्राट को सैन्य-संचालन के लिये शिविर से बुलाया गया। हुसेन अली के स्थान पर मुहम्मद अमीन ख़ाँ मन्त्री नियुक्त हुआ। उसे आठ हज़ारी का ओहदा तथा इतिमाद-उद-दौला का खिताब दिया गया। सम्राट ने दिल्ली जाकर १५ नवम्बर को बिलोचपुर के पास सैय्यद अब्दुल्ला ख़ाँ से युद्ध किया और सैय्यद अब्दुल्ला को हराकर क़ैद कर लिया गया। हुसेन अली ख़ाँ के मर जाने का समाचार सुन कर सैय्यद अब्दुल्ला ने राजकुमार इब्राहीम को सिंहासन पर बिठा दिया। अब यह राजकुमार मुहम्मदशाह के सामने लाया गया और क्षमा करके दिल्ली की जेल में भेज दिया गया।

मुहम्मदशाह ने विजयोल्लास के साथ २३ नवम्बर १७२० को दिल्ली में प्रवेश किया। ३० जनवरी १७२१ को नये मन्त्री मुहम्मद अमीन ख़ाँ की मृत्यु हो गई। अब मन्त्री का पद निज़ाम-उल-मुल्क को दिया गया और उसके दक्खिन से न आने तक इनायत-उल्ला काश्मीरी उसकी जगह काम करता रहा। निज़ाम-उल-मुल्क १६ जनवरी १७२२ को दिल्ली गया और २१ फरवरी को उसकी मंत्री पद पर नियमानुसार नियुक्ति हुई। किन्तु यह सम्राट और उसके नौजवान सरदारों के साथ काम नहीं कर सका क्योंकि यह औरंगज़ेब के समय का अन्तिम अवशेष था और दिल्ली दरबार में कठिन अनुशासन रखना चाहता था, जिसे ये लोग पसन्द नहीं करते थे। ये तो उसकी वेशभूषा तथा व्यवहार की मज़ाक उड़ाया करते थे। इसके अतिरिक्त यह बड़ा महत्वाकांक्षी था और दक्खिन के ६ सूबों के अतिरिक्त मालवा को भी अपने अधिकार में रखना चाहता था। उसने नवयुवक सम्राट को राज-काज में और अधिक ध्यान देने की, ख़ालसा भूमि में खेती रोक देने की तथा हिन्दुओं पर ज़ज़िया लगाने की सलाह दी। निज़ाम की सलाह ठुकरा दी गई अत: वह १८ दिसम्बर १७२३ को शिकार के बहाने दिल्ली छोड़ कर दक्खिन वापस चला गया। अब मुहम्मद अमीन ख़ाँ का पुत्र क़मरुद्दीन ख़ाँ वज़ीर नियुक्त हुआ।

निज़ाम-उल-मुल्क मुबारिज़ ख़ाँ हैदराबाद की सूबेदारी से हट कर दक्खिन के ६ सूबों का वास्तविक एवं स्वतन्त्र शासक बन गया। बादशाह ने मुबारिज़ ख़ाँ को निज़ाम का विरोध करने के लिए बहुत उकसाया था। मुबारिज़ ख़ाँ शंकर खेलदा के मैदान में हार कर ११ अक्टूबर १७२४ को मारा गया। निज़ाम-उल-मुल्क ने हैदराबाद को अपनी राजधानी बनाया। दुर्बल सम्राट ने अब उसे आसफ़जाह की उपाधि देकर शान्त करने का प्रयत्न किया। वह दक्खिन का सूबेदार था किन्तु उसने गुजरात की सूबेदारी हथिया ली थी अत: दरबार ने उससे गुजरात की सूबेदारी छीन

ली। मराठों के आक्रमण के कारण निज़ाम को अपने वाइसराय काल में बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़ीं। बाजीराव ने उसे अनेक बार हराया। इसलिये निज़ाम ने अपने सूबों को मराठों से बचाने के लिए कूटनीति से काम लिया और पेशवा के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वह उत्तरी भारत में मराठा राज्य स्थापित करने के लिए मुग़ल सम्राट के प्रदेश पर आक्रमण करे।

बाजीराव ने इस सुझाव का स्वागत किया और १७३१ से उत्तर भारत में मुग़ल प्रदेशों पर आक्रमण शुरु कर दिये। फरवरी १७३४ में मराठों ने आगरा से ७० मील दक्षिण में स्थित हिंडौन पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में ले लिया। यद्यपि वे आगामी मार्च में वहाँ से खदेड़ दिये गये किन्तु उन्होंने फिर सांभर पर हमला कर दिया। सम्राट ने बाजीराव को प्रसन्न करने लिये उसे मालवा का सूबेदार मान लिया। किन्तु पेशवा इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ और उसने सम्पूर्ण मालवा, दक्षिणी चम्बल के प्रदेश तथा प्रयाग, काशी, गया और मथुरा जैसे हिन्दू तीर्थ स्थानों पर अपने पूरे अधिकार की मांग की। उसने दक्खिन के ६ सूबों से मराठों की चौथ तथा सरदेशमुखी कर की उघाई चाही और पचास लाख की आय की एक जागीर की मांग की। पेशवा की ये अंधाधुन्ध मांगें ठुकरा दी गईं और उसकी प्रगति को रोकने के लिए शाही सेना भेज दी गई। बाजीराव मार्च १७३७ को बुरहान-उल-मुल्क और ख़ान दौरान को चकमा देकर दिल्ली के निकट जा धमका और उसने राजधानी के आस-पास के गांवों को जला दिया। सम्राट ने निज़ाम-उल-मुल्क को मराठों के दबाने का आदेश दिया। निज़ाम-उल-मुल्क हार गया और उसे विवश होकर १७ जनवरी १७३८ को सिरोंज के निकट एक समझौते पर हस्ताक्षर करने पड़े, जिसके अनुसार उसे बाजीराव को पूरा माल देकर नर्मदा से चम्बल तक उसका पूर्ण आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा तथा पचास लाख रुपये की आर्थिक सहायता भी देनी पड़ी।

मुहम्मदशाह के शासन-काल में मुग़ल साम्राज्य के दो और प्रान्त अर्थात् अवध और बंगाल भी स्वतन्त्र हो गये। ६ सितम्बर १७२२ को सआदत ख़ाँ बुरहान-उल-मुल्क नाम का एक ईरानी साहसी योद्धा अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ। इसने इस प्रान्त में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और दिल्ली से केवल नाम-मात्र का सम्बन्ध रक्खा।

१७०७ से १७१२ तक बहादुरशाह के शासन-काल में बंगाल, बिहार और उड़ीसा एक सूबेदार के अधीन थे। ये प्रान्त बहादुरशाह के द्वितीय पुत्र अज़ीम-उश-शान के अधिकार में थे।

बंगाल में जाफर ख़ाँ राजकुमार अज़ीम-उश-शान का प्रतिनिधि (डिप्टी) था। जब फ़र्रुख़सियर ने १७१२ में सिंहासनाधिकार के युद्ध के लिये आगरा को प्रस्थान किया तब जाफ़र ख़ाँ ही तीनों सूबों का अधिकारी बना दिया गया और वह १७२६ तक आजीवन इन प्रान्तों का सूबेदार रहा। इसकी मृत्यु के बाद ये प्रान्त इसके दामाद शुजा-उद्-दीन मुहम्मद के हाथ आ गये, यद्यपि ख़ान दौरान नाम मात्र का सूबेदार बना रहा। २४ मार्च १७३९ को शिया-उद्-दीन की मृत्यु हो गई अत: उसका पुत्र सरफराज़ ख़ाँ सूबेदार हुआ। सरफराज़ ख़ाँ का प्रबन्ध ठीक नहीं था। १२ मई १७४० को बिहार के सहायक सूबेदार अलीवर्दी ख़ाँ ने सरफराज़ ख़ाँ को हराकर मार दिया। अब अलीवर्दी ख़ाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बन गया और मुहम्मदशाह ने इसे सूबेदार मान भी लिया। इस तारीख से बंगाल, बिहार और उड़ीसा दिल्ली की अधीनता से वास्तव में मुक्त हो गये।

केन्द्रीय सरकार अब ऐसी कमजोर हो गई थी कि १७३७ में एक ईरानी साहसी योद्धा नादिरशाह ने देश पर हमला कर दिया। नादिर एक विजेता तुर्की सिपाही था। अफ़ग़ानी आक्रमणकारियों से अपने देश को स्वतंत्र करने के बाद यह उन अफ़ग़ानियों को दंड देने के लिये अफ़ग़ानिस्तान गया जो भागकर भारत में आ रहे थे। उसने एक के बाद एक करके दो दूत मुहम्मदशाह के पास दिल्ली भेजे और बादशाह से प्रार्थना की कि वह अफ़ग़ानी शरणार्थियों को अपने देश में न घुसने दें। इसके बाद नादिर ने २४ मार्च १७३८ को कन्धार पर अधिकार कर लिया और ११ जून को ग़ज़नी में घुस गया। मुहम्मदशाह इसके तीसरे दूत को एक साल तक रोके रहा और इसकी बार-बार की प्रार्थनाओं के उत्तर देने की तनिक भी चिन्ता नहीं की। फलतः नादिरशाह ने २९ जून को काबुल का घेरा डाल कर उस पर अधिकार कर लिया और फिर जमरूद और पेशावर पर लगाई गई मुग़ल सेना का विनाश करता हुआ पंजाब पर हमला करने के लिये आगे बढ़ चला। २७ दिसम्बर को अटक के पास सिन्ध को पार कर लाहौर के सूबेदार को हराया। जब वह दक्षिण की ओर बढ़ रहा था तब उसे मालूम हुआ कि मुहम्मदशाह उसका विरोध करने के लिये आ रहा है अत: उसने करनाल के पास अपना शिविर डाल लिया। इस बीच में मुहम्मदशाह के दरबार को नादिर के आक्रमण की अफवाह सुनाई दी। उसने पहले तो इसे हँसी में उड़ा दिया किन्तु उसे देश पर आने वाली विपत्तियों का होश तब आया जब उसे मालूम पड़ा कि नादिर काबुल पर अधिकार कर लाहौर की ओर बढ़ रहा है। अब यह निश्चय हुआ कि बादशाह स्वयं जाकर इस आक्रमणकारी को खदेड़ दे। वह एक बड़ी सेना लेकर करनाल पहुँचा और अली मरदान ख़ाँ की नहर के किनारे उसने सुरक्षा के लिये अपने शिविर के आस पास खाई का घेरा बना लिया। नादिरशाह

कुछ दिन बाद करनाल के पास आया और उसने नगर से पश्चिम ६ मील दूर अपना शिविर डाल दिया। अवध का सूबेदार सआदत ख़ाँ बुरहान-उल-मुल्क २४ फरवरी को सम्राट की सहायता के लिये करनाल आया किन्तु उसके पीछे आने वाली सामान की गाड़ी पर ईरानियों ने हमला कर दिया, जिसकी खोज ख़बर के लिये उसे पीछे लौटना पड़ा। परिणामस्वरूप २४ फरवरी १७३९ को करनाल की लड़ाई हुई। ख़ान दौरान ने बुरहान-उल-मुल्क की सहायता की किन्तु निज़ाम-उल-मुल्क और सम्राट युद्ध-पंक्ति से कुछ दूर ही रहे और आक्रमणकारी सेना के सम्पर्क से बच गये। बुरहान-उल-मुल्क घायल होकर क़ैद कर लिया गया। ख़ान दौरान के घातक घाव लगे जिससे वह अपने शिविर में दूसरे दिन मर गया। नादिरशाह की विजय हुई और दोनों सेनाएँ सन्ध्या के समय अपने अपने शिविरों को लौट गईं।

बुरहान-उल-मुल्क ने आक्रमणकारी नादिर से मिल कर सम्राट की शक्ति की बड़ी डींग मारी और उसे २ करोड़ की क्षति-पूर्ति स्वीकार कर फ़ारस लौट जाने की सलाह दी। बुरहान-उल-मुल्क ने नादिर से दो बार बातचीत की और सम्राट उसके द्वारा नादिर को २ करोड़ की भेंट देने को तैयार हो गया। किन्तु जब बुरहान-उल-मुल्क को मालूम हुआ कि ख़ान दौरान की मृत्यु के कारण खाली हुआ मीर बख़्शी का पद निज़ाम-उल-मुल्क को पुरस्कार मे इस लिये दिया जा रहा है कि वह बातचीत में बिलकुल सफल रहा है तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ। वह इस पद का बहुत इच्छुक था किन्तु निज़ाम-उल-मुल्क ने अब अपने षड्यन्त्र से उसे इससे वंचित कर दिया। अतः उसने नादिर को २ करोड़ की जगह २० करोड़ की मांग की सलाह दी। नादिर की धन लालसा बढ़ गई। उसने निज़ाम को बुलाकर तो गिरफ्तार कर लिया और शाह के शिविर के चारों ओर अपनी सेना बिठा दी। मुहम्मदशाह नादिर से दो बार मिला और यह निश्चय हुआ कि नादिर अपनी क्षति-पूर्ति के धन को लेने के लिये दिल्ली चले।

नादिर मुहम्मदशाह के साथ दिल्ली रवाना हो गया। उसने तो नगर से ६ मील दूर शालामार बाग में अपना डेरा डाला और मुहम्मदशाह को अपने स्वागत की तैयारी के लिये दिल्ली भेज दिया। २० मार्च को नादिर का नगर में जुलूस निकला। दूसरे दिन ईद तथा ईरानी नया साल था जिनके उपलक्ष में दिल्ली की हर मस्जिद में नादिर के नाम का ख़ुतबा पढ़ा गया। २२ मार्च को नगर में दंगा हो गया जिसमें कुछ ईरानी सिपाही मारे गये। नगर में अफवाह फैल गई कि नादिर मारा गया। इससे आग बबूला होकर नादिर ने दूसरे दिन कत्ले आम की आज्ञा दे दी। यह कत्ले आम आठ घंटे तक होता रहा और लगभग ३०,००० नागरिक मारे गये। सायंकाल के समय नादिर ने मुहम्मदशाह की प्रार्थना पर कत्ले आम बन्द करवा दिया।

नादिर दिल्ली में १५ मई तक रहा। उसने शाही ख़ज़ाने के मोती, हीरे, जवाहरात और प्रसिद्ध मयूर-सिंहासन (तख़्त ताऊस) को अपने अधिकार में कर लिया। उसने सभी दरबारियों से नज़राने लिये। बुरहान-उल-मुल्क को तो बीस करोड़ रुपये के न देने के अपराध में शारीरिक दंड देने की धमकी दी जिसके कारण वह विष खा कर मर गया। अब बुरहान-उल-मुल्क के स्थान पर सफ़दर जंग की नियुक्ति हुई जिसने बुरहान-उल-मुल्क के हिस्से के २ करोड़ रुपये नादिर को भेंट किये। नादिर मुहम्मदशाह को गद्दी पर बिठा कर १६ मई को दिल्ली से रवाना हुआ। जाते समय वह मुहम्मदशाह को निज़ाम से सचेत रहने की सलाह देता गया क्योंकि निज़ाम धोखेबाज़, धूर्त, स्वार्थी और अनुचित महत्त्वाकांक्षी था। इस लूट में जवाहरात, सोना, चांदी, बर्तन, असबाब (फ़र्नीचर) और दूसरे क़ीमती सामान के साथ ३० करोड़ रुपये नगद नादिर के हाथ लगे। इसके अतिरिक्त वह एक हज़ार हाथी, सात हज़ार घोड़े, दस हज़ार ऊँट, सौ खोजे, एक सौ तीस लेखक (क्लर्क), दो सौ संगतराश, सौ राज और दो सौ बढ़ई भी अपने साथ ले गया। इसके अतिरिक्त उसने काबुल का प्रान्त भी ईरान में मिला लिया।

नादिरशाह के आक्रमण से मुहम्मदशाह और उसके दरबार पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा और देश तबाह हो गया। किन्तु बादशाह की आँखें अब भी नहीं खुलीं। यद्यपि उसे निज़ाम-उल-मुल्क की ओर से सन्देह तो हो गया था किन्तु फिर भी उसमें न तो क़मरुद्दीन ख़ाँ को वज़ीर के पद से हटाने की हिम्मत हुई और न वह शासन प्रबन्ध मे कोई सुधार ही कर सका। शासन-प्रबन्ध दिन पर दिन ख़राब ही होता गया। मराठों के आक्रमण मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड पर हो नहीं अपितु इन प्रान्तों के उत्तरी प्रदेश पर भी पहले की तरह ही होते रहे। रघुजी भोंसले ने चौथ वसूल करने के लिये बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर हमला किया और सम्राट उसे दबाने में स्वयं बिल्कुल असमर्थ रहा और केवल नये पेशवा बालाजी बाजीराव से ही उसे दबाने की प्रार्थना करता रहा। अब पेशवा मालवा प्रान्त का विधिपूर्वक सूबेदार नियुक्त किया गया। कठेर का प्रान्त अलीमुहम्मद ख़ाँ रुहेला के हाथ में चला गया और इसी के नाम पर इस प्रान्त का नाम रुहेलखण्ड पड़ गया। मुहम्मदशाह ने बदायूँ के १४ मील उत्तर पूर्व में स्थित रुहेला के सुदृढ़ बनगढ़ पर आक्रमण कर दिया। अली मुहम्मद को हरा कर क़ैद कर लिया किन्तु क़मर-उद्-दीन ख़ाँ ने बीच में पड़ कर उसे छुड़वा दिया। उसने रुहेलखण्ड लौट कर उस पर फिर अधिकार जमा लिया।

१७४८ के आरम्भ में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर हमला किया। यह अफ़ग़ान जाति के अब्दाली अथवा दुर्रानी फ़िरके के सदोज़ै नामक वंश का अफ़-

ग़ान था और १७४७ के अन्त में नादिर के क़त्ल होने पर वह अफ़ग़ानिस्तान का बादशाह बन बैठा था। इस समय शाहनवाज़ ख़ाँ पंजाब का हठपूर्वक सूबेदार बन बैठा था और इसने अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया। वह लाहौर पर अधिकार कर दिल्ली की ओर बढ़ा किन्तु सम्राट मुहम्मदशाह के पुत्र शाहज़ादे अहमद ने उसे मच्छीवाड़ा के पास मनूपुर में हराकर काबुल लौट जाने के लिये विवश कर दिया (मार्च १७४८)।

२६ अप्रैल १७४८ को मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका पुत्र अहमद सम्राट अहमदशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। मुहम्मदशाह जो अब तक 'मुहम्मद रंगीला' के नाम से प्रसिद्ध है, एक दुर्बल शासक था तथा राज काज को मन्त्रियों के हाथ में छोड़ कर अपना सारा समय भोग विलास में ही बिताता था। इसके शासन-काल में केन्द्रीय सरकार की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई, सेना का अनुशासन तथा चरित्र गिर गया और साम्राज्य का विस्तार बहुत कम हो गया। दक्खिन के ६ सूबे तथा वायसराय के अधिकार में रहने वाले अवध और बंगाल, तथा बिहार और उड़ीसा भी स्वतन्त्र हो गये। मालवा, बुन्देलखंड और गुजरात पर मराठों का अधिकार हो गया। राजपूताना दिल्ली की सत्ता से बिलकुल मुक्त हो गया और योरोपियन व्यापारी दक्षिणी भारत में पहले पहल साम्राज्य-स्थापना के स्वप्न देखने लगे।

अहमदशाह, १७४८–१७५४

शाहज़ादा अहमद २८ अप्रेल १७४८ को दिल्ली से उत्तर शालामार बाग़ में अहमदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। वह इस समय २१ वर्ष का नवयुवक था। इसे न तो राज-काज का अनुभव था और न इसमें नेता होने की योग्यता ही थी। वह नीच, दुराचारी और व्यभिचारी था और शासक के गुणों से सर्वथा हीन था। उसने बुरहान-उल-मुल्क के भतीजे तथा दामाद और अवध के सूबेदार सफदर जंग को अपना वज़ीर तथा क़मर-उद्-दीन ख़ाँ के लड़के मुईन-उल-मुल्क को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया। सादात ख़ाँ जुल्फ़िक़ारजंग मीर बख़्शी बना। हिजड़ों के सरदार जावेद ख़ाँ को बहुत ऊँची ऊँची उपाधियाँ दी गईं और यह 'नवाब बहादुर' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह व्यक्ति दरबार की उस पार्टी का नेता बना दिया गया जो औरतों और हिजड़ों की महफिल थी। शासन-प्रबन्ध में इस पार्टी का प्रभुत्व था और यह साम्राज्य के बड़े-बड़े सरदार और अफ़सरों के विरुद्ध जाल रचा करती थी।

अपने शासन-काल के आरम्भ से ही अहमदशाह नवाब बहादुर की पार्टी के हाथ का खिलौना बन गया। यह पार्टी सफ़दर जंग के विरुद्ध षड्यन्त्र रचती रहती थी। नवम्बर १७४८ के अन्त में नवाब बहादुर ने वज़ीर की हत्या का असफल

प्रयत्न किया जिसके कारण सम्राट का हृदय उसकी ओर से खट्टा हो गया। वज़ीर ने दरबार में आना छोड़ दिया। किन्तु उसे शीघ्र ही मना लिया गया। दूसरे वर्ष के आरम्भ में वज़ीर के हटाने का षड्यन्त्र रचा गया और सम्राट की सहायता के लिये निज़ाम-उल-मुल्क के द्वितीय पुत्र नासिर जंग को दक्खिन से बुलाया गया। किन्तु ये मनसूबे पूरे नहीं हुए। इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि सफ़दर जंग और हिजड़े नवाब बहादुर की दरबारी पार्टी तथा राजमाता मलका-ए-ज़मानी में भेद-भाव हो गया जिससे शासन प्रबन्ध बिलकुल अस्त व्यस्त हो गया।

सफ़दर जंग अवध का सूबेदार था। अवध रुहेलखण्ड की सीमा से लगा हुआ था। रुहेलखण्ड दो कबीलों के अधिकार मे था, उनमें से एक कबीला था रुहेलों का जो रुहेलखण्ड खास पर आधिपत्य जमाये था और दूसरा कबीला था बंगश पठानों का जो फरुख़ाबाद और कन्नौज पर राज्य करता था। फरुख़ाबाद के मुहम्मद ख़ाँ बंगश की १७४३ में मृत्यु हो गई। उसके बाद उसका पुत्र क़ायम ख़ाँ गद्दी पर बैठा। सफ़दर जंग अपने प्रान्त के पास पड़ोस में अफ़ग़ानों की शक्ति कमज़ोर करना चाहता था अत: उसने क़ायम ख़ाँ को रुहेलों पर आक्रमण करने के लिये उकसाया। उसकी योजना के अनुसार क़ायम ख़ाँ ने बदायूँ में रुहेलों का घेरा डाल दिया। किन्तु अली मुहम्मद ख़ाँ रुहेला के बड़े लड़के साद-उल्ला ख़ाँ ने उसे हराकर मार दिया। इसका लाभ उठा कर सफ़दर जंग ने सम्राट को साथ ले कर दिसम्बर १७४८ में फरुख़ाबाद को कूच कर बंगश प्रदेश पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त उसने साठ लाख रुपये भी हथियाये तथा इलाहाबाद के किले में क़ायम ख़ाँ के पाँच भाइयों को कैद में डाल दिया। उसने बंगश परिवार को वे ही जिले दिये जो बादशाह की तरफ से मुहम्मद ख़ाँ को दिये गये थे। उसने बंगश परिवार के जो जिले साम्राज्य में मिलाये उनका अधिकार राजा नवलराय को सौंप कर वह दिल्ली लौट आया। उसकी अनुपस्थिति में अफ़ग़ानों ने विद्रोह कर १३ अगस्त १७५० को नवलराय को मार दिया। वज़ीर बड़ी शीघ्रता से नवलराय की सहायता के लिये गया किन्तु अहमद ख़ाँ बंगश ने सहावार और पटियाली के बीच रामचतौनी में २३ दिसम्बर १७५० को उसे हरा कर घायल कर दिया। वज़ीर ने दिल्ली जाकर देखा कि सम्राट और उसकी माता नवाब बहादुर और इन्तिज़ाम उद्दौला के सहयोग से उसे हटाने का प्रबल षड्यन्त्र रच रहे हैं। वज़ीर के समय पर आ जाने से षड्यन्त्र-कारी डर गये और उन्होंने अपनी योजना को ठप्प कर दिया। अहमद ख़ाँ बंगश ने अवध तथा इलाहाबाद के अनेक प्रान्तों पर बड़ी तेज़ी के अधिकार कर लिया अत: वज़ीर के लिये बड़ा गम्भीर खतरा पैदा हो गया। भाग्यवश वीर नागा सन्यासियों ने सफ़दर जंग का पक्ष ले कर राजेन्द्र गिरि गुसाईं के नेतृत्व में इलाहाबाद के किले की

दीवार पर बंगश सरदार का कड़ा मुकाबला किया और आक्रमणकारी पठानों को खदेड़ दिया। इस बीच में सफ़दर जंग ने तैयारी कर ली और मराठों की सहायता से उसने मार्च १७५१ के अन्तिम सप्ताह में क़ायमगंज के निकट अहमद ख़ाँ बंगश को हरा दिया। इसके बाद वज़ीर ने फतहगढ़ किले का घेरा डाल दिया और २८ अप्रैल १७५१ को उस पर अधिकार कर लिया। अब अहमद ख़ाँ तथा उसका मित्र सादुल्ला ख़ाँ रुहेला पहाड़ियों में भाग गये किन्तु गढ़वाल में काशीपुर से उत्तर-पूर्व २२ मील पर स्थित चिलकिया स्थान पर घेर लिये गये। अब पठान हार गये और मराठे सादुल्ला के विनाश के विरुद्ध हो कर युद्ध में तटस्थ हो गये। अत: वज़ीर को संधि के लिये राज़ी होना पड़ा। उसने अहमदशाह बंगश को इस शर्त पर क्षमा किया कि वह जुर्माने में तीस लाख (कुछ इतिहासकारों के अनुसार ८० लाख) रुपया दे और जब तक इसे न चुकाए तब तक के लिये अपने राज्य का आधा प्रदेश ज़मानत के रूप में वज़ीर को दे दे। वज़ीर ने बंगश का आधा राज्य अर्थात् १६½ परगने अहमद ख़ाँ को दे दिये और १६½ परगने युद्ध में सहायता देने वाले अपने मराठा मित्रों को ३० लाख की एवज़ में दे दिये। मराठों को जो प्रदेश दिया गया उसका विस्तार उत्तर में अलीगढ़ से लेकर दक्षिण-पूर्व में कोरा जहानाबाद तक था। अब रुहेले अपने देश को लौट आये। यह संधि फरवरी १७५२ के आरंभ में हुई थी।

वज़ीर के राजधानी में न रहने के कारण अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया। यह उसका तीसरा हमला था। उसका पहला हमला मुहम्मदशाह के अन्तिम दिनों में अर्थात् जनवरी-मार्च १७४८ में हुआ था। दूसरा हमला १७४९ के आरम्भ में हुआ था। दूसरे हमले में उसने पंजाब के सूबेदार मुइन-उल-मुल्क को हराकर उसे चौदह हज़ार सालाना देने के लिये विवश किया था। मुइन-उल-मुल्क हर साल अपना कर नहीं भेज सका अत: अहमद ने तीसरी बार सिन्ध पार कर उसे लाहौर में घेर लिया और आक्रमणकारी (अहमद) को अपना अधिपति मानने के लिये विवश कर दिया। भारतीय पठानों को जीत लेने के बाद सफ़दर जंग इसी समय बनारस के राजा बलवन्तसिंह को दण्ड देने के लिये चला। सम्राट ने घबरा कर वज़ीर को बुलाने के लिये प्रमाद पूर्ण आज्ञा दी। उसने उसे लिखा कि वह आक्रमणकारी से युद्ध करने के लिये मराठों को अपने साथ ले आये। सफ़दर जंग ने २ अप्रैल १७५२ को मल्हार राव होलकर तथा जयप्पा सिन्धिया से संधि कर ली। इस सन्धि के अनुसार ये दोनों पेशवा की ओर से अब्दाली इत्यादि शत्रुओं से लड़खड़ाते हुए साम्राज्य की रक्षा करने के लिये वचन बद्ध हो गये और सम्राट ने प्रतिज्ञा की कि वह बदले में उन्हें पचास लाख नगद देने के साथ साथ पंजाब तथा सिन्ध में चौथ उघाने का अधिकार दे देगा। अजमेर और आगरा में पेशवा को

सूबेदार नियुक्त कर देगा तथा उन्हें नागौर और मथुरा की फौज़दारी भी दे देगा। वज़ीर ५ मई १७५२ को ५०,००० मराठा सेना के साथ दिल्ली लौटा। वहाँ जाकर उसने देखा कि सम्राट ने आक्रमणकारी अबदाली को पंजाब और मुलतान के सूबे पहले से ही दे दिये हैं और वह काबुल को लौट भी गया है। वज़ीर को इस बात से बड़ी घृणा हुई। उसने देखा कि उसके साथ आई हुई मराठा सेना ने दिल्ली के आस पास के गांवों का लूटना आरंभ कर दिया है, तब उसने विवश होकर मल्हार राव को कुछ लाख रुपये दिये और उससे अनुरोध किया कि वह निज़ाम-उल-मुल्क के ज्येष्ठ पुत्र गाज़ी-उद्-दीन खाँ को जो इस समय दक्खिन के ६ सूबों का सूबेदार नियत किया गया था, इस ओहदे के कार्य सभालने में सहायता दे। मराठों को तो इस प्रकार भेज दिया गया किन्तु अब वज़ीर तथा नवाब बहादुर में पूर्णतः मत-भेद हो गया। ज़ावेद ख़ाँ ने सारी शक्ति अपने हाथ में ले ली थी अतः सफ़दर जंग नाम मात्र का वज़ीर रह गया। वज़ीर ने ६ सितम्बर १७५२ के दिन उसे दावत के बहाने बुलाकर मरवा दिया। इससे सम्राट और मंत्री का सम्बन्ध पूर्णत: विच्छेद हो गया जिसके परिणाम स्वरूप गृह युद्ध आरंभ हो गया। ४ मई से १६ नवम्बर १७५३ तक दिल्ली की गलियों में लम्बी और जोर की लड़ाई होती रही। गाज़ी-उद्-दीन ख़ाँ का पुत्र इमाद्-उल-मुल्क अमीर-उल-उमरा पद पर नियुक्त हुआ। इसने युद्ध में बड़ा साहस दिखाया और साम्राज्य की रक्षा के लिये सफ़दर जंग की लगभग सभी सुन्नी सेना को अपने पक्ष में कर लिया। वज़ीर ने अपनी सहायता के लिये भरतपुर के जाट राजा सूरजमल को बुलाया। अन्त में सफ़दर जंग हार गया। सम्राट और वज़ीर सफ़दर जंग में संधि हो गई और उसे अवध तथा इलाहाबाद का वायसराय बहाल रक्खा। सफ़दर जंग ७ नवम्बर १७५३ को दिल्ली से फैज़ाबाद के लिये रवाना हो गया। गृह युद्ध के काल में कम-रुद्दीन ख़ाँ का पुत्र तथा इमाद्-उल-मुल्क का चचा इन्तिज़ामुद्दौला प्रधान मंत्री बना दिया गया था अत: सफ़दर जंग के स्थान पर उसी को स्थायी बना दिया गया।

जब सफ़दर जंग के साथ लड़ाई चल रही थी तब इमाद्-उल-मुल्क ने मराठों को बुलाया था किंतु वे दिल्ली उस समय आये जब सन्धि हो गई थी और भूतपूर्व वज़ीर चला गया था। अतः महत्वाकांक्षी मीर बख़्शी ने उन्हें सूरजमल को दण्ड देने की आज्ञा दी क्योंकि सूरजमल सफ़दर जंग से मिल गया था। इमाद्-उल-मुल्क जाटों के डीग और कुंभेर के किलों का घेरा डालने के लिये मल्हार राव के साथ स्वयं गया। उसने सम्राट से बड़ी बड़ी तोपों के देने के लिये अनुरोध किया क्योंकि उनके बिना किलों पर अधिकार करना असम्भव था। सम्राट को इमाद्-उल-मुल्क की बड़ी बड़ी बातों का विश्वास नहीं हुआ अतः उसने नये वज़ीर की सलाह से उसे मनचाही सामग्री नहीं दी। इससे क्रुद्ध हो कर मीर बख़्शी ने वज़ीर के घर पर हमला कर दिया

किंतु वह उसे वहाँ से निकाल न सका। सम्राट और वज़ीर को होश आया और उन्होंने सूरजमल से बातचीत आरम्भ की। सूरजमल ने सफ़दर जंग को अवध से वापस बुलाने की सलाह दी। वे एक बड़ी सेना के साथ दिल्ली से चले और इमाद-उल-मुल्क की गति विधि जानने के लिये सिकन्दराबाद आये। इमाद-उल-मुल्क ने मल्हार राव होल्कर को सम्राट के शिविर को आतंकित करने के लिए उभाड़ दिया। सम्राट ने जब शिविर के आस-पास मल्हार राव के आने का समाचार सुना तो वह सेना को वहीं छोड़ कर अपनी माता तथा वज़ीर के साथ दिल्ली की ओर भागा और प्रातःकाल मराठों ने उसकी सेना को लूट लिया। मराठों ने डीग का घेरा डाल दिया और इमाद-उल-मुल्क तथा मल्हार राव ने दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया। मल्हार राव ने सम्राट को इन्तिज़ामुद्दौला के स्थान पर इमाद-उल-मुल्क को वज़ीर बनाने के लिए विवश कर दिया। २ जून १७५४ को नये वज़ीर ने अहमदशाह को सिंहासन से उतार कर जहांदार के द्वितीय पुत्र अजीज़-उद-दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठा दिया और एक सप्ताह बाद भूतपूर्व सम्राट तथा उसकी माता को अंधा बना दिया।

आलमगीर द्वितीय, १७५४–१७५६

सिंहासन पर बैठने के समय आलमगीर द्वितीय की अवस्था ५५ वर्ष की थी। उसका सारा जीवन जेल में बीता था अतः उसे न तो युद्ध का अनुभव था और न शासन-प्रबन्ध का। वह इतिहास की पुस्तकों के पढ़ने का शौकीन था और पाँचों वक्त नमाज़ पढ़ता था। वह अत्यन्त दुर्बल, चरित्र का अस्थिर और नेता के गुणों से हीन था। अपने पाँच वर्ष के स्वल्प शासन-काल में वह अपने वज़ीर इमाद-उल-मुल्क के हाथ का खिलौना बना रहा। यह वज़ीर अत्यन्त सिद्धान्तहीन और स्वार्थी था और राज कोप का दुरुपयोग करता था। इसने शाही परिवार को भूखों मार दिया और सम्राट के बड़े लड़के अली गौहर (शाह आलम) को तंग कर उसे उत्तरी प्रान्तों में शरण लेने के लिये दिल्ली से निकाल दिया। इस वज़ीर ने मूर्खतावश मराठों को उत्तरी भारत से निकालने के लिए उनके विरुद्ध एक मिली-जुली पार्टी बनाई। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठों की शक्ति पहले से और अधिक बढ़ गई और वे (अप्रैल-जून १७५६) में लाहौर पर अपना शासन स्थापित कर उत्तरी दोआब में लूट मार करने लगे। इमाद-उल-मुल्क को अपने वज़ीरी शासन-काल में प्राय: मराठों की संगीनों पर निर्भर रहना पड़ा था।

वज़ीर का सबसे पहला काम यह था कि उसने अबदाली के शासन से पंजाब को वापिस लेने का प्रयत्न किया। पंजाब में काबुल के अहमदशाह अब्दाली की ओर

से मुईन-उल-मुल्क नाम का सूबेदार था जिसकी मृत्यु नवम्बर १७५३ में हो गई। अबदाली ने उसके अबोध बालक को उस स्थान पर सूबेदार तथा उसकी माता मुग़-लानी बेगम को उसका संरक्षक मान लिया। इस बच्चे सूबेदार की शीघ्र ही मृत्यु हो गई और मुग़लानी बेग़म उसके स्थान पर स्थायी सूबेदार बना दी गई। इसके शासन-काल में पंजाब की शासन व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई और सारे प्रान्त में अराजकता फैल गई। इमाद-उल-मुल्क ने इसका लाभ उठा कर एक बड़ी सेना लेकर सम्राट के साथ दिल्ली से पंजाब के लिए फिर प्रस्थान कर दिया। किन्तु सेना में विद्रोह हो जाने के कारण उसे पानीपत से ही लौट आना पड़ा। कुछ ही महीनों बाद उसने लाहौर के लिये फिर कूच कर दिया और लुधियाना पहुँच कर मुग़लानी बेग़म को क़ैदी बना कर लाने के लिये एक शक्तिशाली सेना भेज दी। बेग़म के गिरफ़्तार हो जाने पर वज़ीर ने अदीना बेग़ ख़ाँ को पंजाब का सूबेदार नियुक्त कर दिया। वास्तव में पंजाब के सारे उपद्रवों का उत्तरदायी यही विश्वासघाती अदीना बेग़ था। इसने अपनी नियुक्ति के लिए वज़ीर को ३० लाख की घूस दी थी। वज़ीर के पंजाब में हस्तक्षेप करने पर अहमदशाह अब्दाली ने चौथी बार भारत पर आक्रमण कर दिया क्योंकि वह इस प्रान्त को अपना ही प्रान्त समझता था। अफ़ग़ान राजा ने लाहौर के लिए कूँच कर दिया, इसे सुनकर अदीना बेग़ भय से हिसार भाग गया। अब आक्रमण-कारी बड़ी तेज़ी से दिल्ली की ओर रवाना हुआ। इमाद-उल-मुल्क ने भयभीत होकर अपनी सास मुग़लानी बेग़म से उसकी ओर से शाह से माफी मांगने का अनुरोध किया और स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया। अब्दाली ने उसे क्षमा कर स्थायी वज़ीर बना दिया।

इस आक्रमणकारी ने २८ जनवरी सन् १७५७ में दिल्ली में प्रवेश किया। वह आलमग़ीर द्वितीय से मिला और शाही नगर के लूटने की आज्ञा दे दी। उसने प्रत्येक सरदार, अफ़सर और नगरवासी को सेना के लिये चन्दा देने को बाध्य किया। बहुत से लोग भाग गये और कुछ ने अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिये आत्महत्या कर ली। यह आक्रमणकारी नगर में लगभग एक महीने ठहरा। इसने आलमग़ीर द्वितीय की पुत्री के साथ अपने पुत्र युवराज तिमूर का विवाह किया। इसने अपनी सेना की एक टुकड़ी को जाट राजा सूरजमल को दण्ड देने को भेजा क्योंकि वह सफ़दर जंग से मिल गया था। कुछ दिन बाद वह आगरा के लिये स्वयं रवाना हुआ। इमाद-उल-मुल्क की सलाह से अवध के शुजाउद्दौला तथा दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्तियों से कर वसूल करने के लिये दोआब में अपनी एक फ़ौज़ी टुकड़ी भेजी। शुजाउद्दौला बिलग्राम के पास सांडी में आक्रमणकारियों से मिला और सादुल्ला ख़ाँ रुहेला की सहायता से (जो थोड़े दिन पहले उसका मित्र बन गया था) उनसे संधि

कर ली। जिससे दोनों पक्षों में बिना युद्ध के ही मेल हो गया। शुजाउद्दौला ने पाँच लाख रुपये दिये तथा और देने का गोल मोल वायदा कर लिया। अतएव आक्रमणकारी की सेना इमाद-उल-मुल्क के साथ फर्रुखाबाद को लौट गई और अब्दाली ने उसे वापिस बुला लिया। सूरजमल के विरुद्ध जो सेना गई थी वह निराश होकर लौट आई। जाट राजा बहुत दिन तक लम्बी बात चलाता रहा और अन्त में उसने कुछ नहीं दिया।

अब्दाली ने अपनी दूसरी सेना मथुरा भेजी। इसने नगर को लूटा और बहुत से निहत्थे यात्रियों का वध किया। भाग्यवश नगर में महामारी फैल गई जिसके कारण अफ़ग़ान सेना में बहुत सी मौतें हो गईं और अहमदशाह को लौटने के लिये बाध्य होना पड़ा। दिल्ली के पास आलमग़ीर द्वितीय उससे मिला और उससे वज़ीर के व्यवहार की शिकायत की। अब्दाली ने नज़ीब ख़ाँ रुहेला को मीर बख़्शी नियुक्त किया और उसे नज़ीब-उद्-दौला की उपाधि देकर सम्राट की रक्षा का भार उस पर सौंपा। अब्दाली ने मोहम्मदशाह की कुमारी पुत्री के साथ विवाह किया और शाही वंश की अनेक स्त्रियों के साथ उसकी दो विधवाओं को भी अपने साथ ले गया। इस हमले की लूटमार में उसके हाथ कई करोड़ रुपये लगे।

१७५७ में अब्दाली के चले जाने के बाद सम्राट ने राजधानी के आस-पास के सारे जिलों को नजीबुद्दौला के अधिकार में दे दिया। इसने राजकोष का अधिकांश अपने काम में लगाया और शाही वंश को भूखों मार दिया। आलमग़ीर ने नजीब को इमाद्-उल-मुल्क से भी बुरा पाया। नये रईस होने के कारण नजीब ने सम्राट के साथ ऐसा बुरा व्यवहार किया जैसा कोई ख़ानदानी वज़ीर नहीं कर सकता। इसी समय इमाद्-उल-मुल्क ने मराठों से सन्धि करके उनकी सहायता से ११ अगस्त १७५७ को नजीब के मकान का घेरा डाल दिया। वह नजीब को दरबार से हटाकर उसके स्थान पर अहमद ख़ाँ बंगश को मीर बख़्शी बनाना चाहता था। ४५ दिन के घेरे के बाद नजीब ने आत्मसमर्पण कर दिया और अपनी जागीर सहारनपुर तथा नजीबाबाद को चला गया। इमाद-उल-मुल्क के शासन-प्रबन्ध के संभालते ही राजधानी पर मराठों का प्रभाव फिर कायम हो गया।

मराठों का नेता रघुनाथ राव अब पंजाब में स्वेच्छापूर्वक घुसकर अहमद-शाह अब्दाली के पुत्र और एजेन्ट युवराज तिमूर को (अप्रैल १७५८ में) वहाँ से मार भगाने में पूर्ण स्वतंत्र हो गया। वह अदीना बेग़ ख़ाँ को पंजाब प्रान्त का सूबेदार नियुक्त कर दिल्ली होता हुआ दक्खिन लौट गया। जाते समय वह अपना एक एजेन्ट और एक छोटी सी सेना को दिल्ली छोड़ गया। अदीना बेग़ की मृत्यु के बाद शाबाजी सिन्धिया पंजाब का सूबेदार नियुक्त हुआ।

मराठों की सहायता से अपना पद प्राप्त कर लेने के बाद स्वार्थी वज़ीर इमाद-उल-मुल्क ने सम्राट आलमगीर द्वितीय पर फिर प्रभाव डालना आरंभ कर दिया। उसने सम्राट को बाध्य किया कि वह अपने बड़े बेटे अली गौहर को वापस बुलाले क्योंकि वह उसका (वज़ीर का) विरोध करने के लिये रोहतक और हिसार ज़िलों में सेना इकट्ठी करने को गया था। युवराज के लौटने पर वज़ीर ने उसके घर का घेरा डाला किन्तु वह शत्रु सेना से बचता हुआ यमुना की दूसरी पार विट्ठलराव मराठा के शिविर में चला गया। विट्ठलराव ने उसे अपने संरक्षण में फर्रुख़ाबाद पहुँचा दिया। यहाँ अहमदशाह बंगश के आदमियों ने इसका स्वागत कर उसे आवश्यक वस्तुएँ दीं। इसके बाद उसने सहारनपुर में नजीबुद्दौला के यहाँ शरण ली। नजीबुद्दौला ने आठ महीने तक उसका अतिथि-सत्कार किया और उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा को पुनः जीतने की सलाह दी। इस सलाह को मान कर युवराज ने अवध के लिये कूच कर दिया। यहाँ शुजाउद्दौला ने लखनऊ के पास उसका स्वागत किया (जनवरी १७५८)। लखनऊ से वह इलाहाबाद गया और उस प्रान्त के नायब सूबेदार मुहम्मद कुली ख़ाँ ने पटना के आक्रमण में उसका साथ दिया।

जब रघुनाथ राव ने पंजाब को जीत कर लाहौर में छावनी डाल दी (अप्रैल १७५८) तब मराठा-शक्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई। उत्तरी भारत में उनका शक्तिशाली शत्रु भूतपूर्व मीर बख़्शी नज़ीबुद्दौला था जिसे कुचलने के लिये दत्ताजी सिन्धिया ने प्रस्थान कर दिया। नजीब ने मुज़फ़्फ़रनगर से १८ मील पश्चिम शकरताल में शरण ली। दत्ताजी १७५६ की सारी बरसात भर उसका घेरा डाले रहा। नज़ीब ने अपनी रक्षा के लिए रुहेलखण्ड के अपने सम्बन्धियों से, अवध के शुजाउद्दौला से तथा काबुल के अहमदशाह अब्दाली से दर्द भरी अपील की। यह भली-भाँति जान कर कि रुहेले नज़ीब की सहायता के लिये अवश्य आयेंगे मराठों ने गोविन्द पन्त बुन्देले के नेतृत्व में अपनी सेना रुहेलखण्ड भेज दी जिसने गंगा पार कर रुहेलों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया। अतः नज़ीब को उधर से सहायता मिलने की तनिक भी आशा न रही। किन्तु बरसात बाद शुजाउद्दौला ने चाँदपुर के पास गोविन्द पन्त को हरा कर नजीब की सहायता के लिये शकरताल जाने की तैयारी कर ली। किन्तु जब उसे पता लगा कि अहमदशाह अब्दाली नजीब की सहायता के लिए काबुल से आ रहा है तब वह अवध लौट गया। दत्ताजी ने शकरताल का घेर उठा लिया और यमुना पार कर आक्रमणकारी अब्दाली का मुक़ाबिला करने के लिये उत्तर की ओर बढ़ गया।

इस बीच में आलमगीर और उसके वज़ीर इमाद-उल-मुल्क का विरोध अपनी

चरम-सीमा पर पहुँच गया। सम्राट ने नज़ीबुद्दौला के लिये शकरताल सहायता ही नहीं भेजी अपितु उसने आक्रमणकारी अब्दाली से पत्र व्यवहार भी जारी कर दिया। यह जान कर वज़ीर उसे लुभा कर सन्त के दर्शन कराने के बहाने शाही महल के बाहर कोटिला फिरोज़शाह ले गया और वहाँ उसकी हत्या करवा दी (२६ नवम्बर १७५६)। दूसरे दिन पिछले वज़ीर इन्तिज़ामुद्दौला को भी मरवा डाला। अब वज़ीर ने कामबख़्श के पोते मुही-उल-मिल्लत को शाहजहाँ तृतीय के नाम से सम्राट घोषित कर दिया। इसके बाद वह दत्ताजी की सहायता के लिये शकरताल की ओर बढ़ा किन्तु उसे मार्ग में मालूम हुआ कि मराठा सरदार घेरा उठा कर आक्रमणकारी अब्दाली से लड़ने के लिये लाहौर की ओर बढ़ रहा है।

शाहआलम द्वितीय, १७५६—१८०६

आलमग़ीर द्वितीय ने अपने सबसे बड़े पुत्र को अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने के लिये बाहर भेज दिया था। पिता की मृत्यु के समय वह बिहार में था। उसका बिहार का प्रथम आक्रमण असफल रहा अत: वह रींवा में बरसात बिताने के लिये बाध्य हुआ। अक्टूबर १७५६ के अंत में वह रींवा से बिहार वापस गया और गोथौली में अपना डेरा डाला जो आधुनिक सोन ईस्ट बेंक रेलवे स्टेशन से ५ मील पर है। यहाँ पर २० दिसम्बर १७५६ को इसने अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुना। इसने उसी दिन शाहआलम नाम से अपने को सम्राट घोषित कर दिया। उसने शुजा-उद्दौला को अपना वज़ीर नियुक्त किया। उस समय दिल्ली इमाद-उल-मुल्क के हाथ में थी और वह उसका जानी दुश्मन था। इसके अतिरिक्त मराठे तथा अहमदशाह अब्दाली में लम्बी लड़ाई होने को थी अतः शाहआलम ने शाही राजधानी दिल्ली में जाकर अपने पूर्वजों के सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न नहीं किया। वह १२ वर्ष तक पूर्वी प्रान्तों में ही रहता रहा। इस बीच में लगभग अधिकांश काल में दिल्ली का सिंहासन खाली ही पड़ा रहा।

पहले बताया जा चुका है कि अहमदशाह अब्दाली नजीब की प्रार्थना पर उसकी सहायता के लिये सिंध पार करके अगस्त १७५६ में पंजाब में घुस आया था। वह पंजाब के मराठा सूबेदार साबाजी सिन्धिया को प्रान्त से निकाल कर लाहौर से दिल्ली की ओर बढ़ा। मराठों के उत्पातों के कारण यमुना के पश्चिमी प्रदेशों में रसद नहीं मिल सकती थी। अत: अहमदशाह अब्दाली नदी को पार कर उत्तरी दोआब में गया और अपनी सेना की एक टुकड़ी को दत्ताजी सिन्धिया से लड़ने के लिये पश्चिमी मार्ग से भेजा। दत्ताजी शकरताल का घेरा उठा कर सरहिन्द की ओर बढ़ गया। नजीबुद्दौला, अहमद ख़ाँ बंगश, सादुल्ला ख़ाँ तथा रुहेलखण्ड के दूसरे सभी रुहेला सरदार इस आक्रमणकारी से आकर मिल गये। उसने दिल्ली से १० मील

उत्तर में बरारी घाट पर दत्ताजी पर बगल पर आक्रमण किया। वीर मराठा ने अपने भतीजे जनकोजी को दक्खिन में सेना इकट्ठी करने को भेज दिया और स्वयं घोड़े से उतर कर ६ जनवरी १७६४ को बहादुरी के साथ युद्ध करते करते मारा गया। इस विजय के बाद अब्दाली १४ जनवरी को राजधानी के दक्षिण में खिज्राबाद पहुंचा। उसने सूरजमल जाट तथा राजपूताना के सभी राजाओं को कर देने का तथा मराठों को कुचलने के लिये उसकी सेना में सम्मलित होने का आदेश दिया।

इसी बीच में मल्हारराव होल्कर ने अफ़ग़ानों को तंग करने के लिये एक हमले की योजना बनाई। उसने दोआब में जाकर उस रसद भण्डार और ख़ज़ाने को लूट लिया जो अहमद ख़ाँ बंगश द्वारा आक्रमणकारी अब्दाली के पास भेजा जा रहा था किन्तु शत्रु सेना ने उसे सिकन्दराबाद में खदेड़ दिया। अब्दाली ने दिल्ली पर अधिकार कर लेने के बाद बरसात सिकन्दराबाद में बिताई जिससे वह दोआब और रुहेलखण्ड के अफ़ग़ानों के पास आसानी से पहुंच जाय।

अबदाली के आक्रमण का तथा बरारी घाट के विनाश का समाचार सुन कर पेशवा ने आक्रमणकारी को उत्तरी भारत से खदेड़ कर मराठों का शासन फिर से स्थापित करने के लिये अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाउ के नेतृत्व में बड़ी मज़बूत सेना भेजी। चम्बल पार कर लेने के बाद भरतपुर का सूरजमल भी अपने ३०,००० आदमियों के साथ भाउ से जा मिला किन्तु राजस्थान के सरदारों ने आगा पीछा सोचने के कारण आगे बढ़ना उचित न समझा। अवध के शुजाउद्दौला को अपने पक्ष में मिला लेने का मराठों का प्रयत्न भी विफल रहा क्योंकि नजीबुद्दौला ने उससे अब्दाली के पक्ष को इस्लाम का पक्ष बता कर उसी का पक्ष लेने का अनुरोध किया था (१८ जुलाई १७६०)। तो भी भाउ बिना किसी रुकावट और भय के दिल्ली की ओर बढ़ता हुआ चला गया और शाही राजधानी पर अधिकार कर अब्दाली के प्रतिनिधि को खदेड़ दिया। युद्ध की सामान्य नीति तथा उसके ढंग के विषय में मत-भेद हो जाने के कारण सूरजमल तथा इमाद-उल-मुल्क मराठों का साथ छोड़ कर जाटों के बल्लभगढ़ के किले में आ गये। भाउ ने शाहजहाँ तृतीय को गद्दी से उतार कर शाहआलम को सम्राट घोषित कर दिया और उसकी अनुपस्थिति में उसके पुत्र युवराज जवानबख़्त को अपने पिता की जगह काम करने के लिये नामज़द कर दिया। अब शुदाउद्दौला वज़ीर नियुक्त हुआ। बरसात के अन्त में मराठों ने पंजाब पर अधिकार करने तथा पीछे हटती हुई अब्दाली की सेना को छिन्न-भिन्न करने के लिये बिना किसी की सहायता के दिल्ली से सरहिन्द की ओर कूच कर दिया। १७ अक्टूबर को भाउ करनाल से ६ मील उत्तर-पूर्व में कुंजपुरा के दुर्ग पर अधिकार कर सरहिन्द की ओर बढ़ गया।

आक्रमणकारी अब्दाली ने १७६० की बरसात सिकन्दराबाद में बिताई। मराठों के पंजाब में घुसने का समाचार सुन कर अब्दाली ने दिल्ली से २५ मील उत्तर बागपत में यमुना पार कर भाउ का पीछा किया। यह सुन कर भाउ ने पानीपत में अपनी छावनी डाल दी। तीन दिन बाद अब्दाली भी वहाँ आ गया। मराठों ने अपनी छावनी की मोर्चाबन्दी कर आमने सामने की लड़ाई लड़ने का निश्चय कर लिया।

दो महीने से भी अधिक दोनों सेनाएँ आमने सामने डटी रहीं और एक दूसरे के भेदियों पर छुट पुट हमले करती रहीं। १ नवम्बर १७६० को पहली मुठभेड़ हुई और उसके बाद तीन बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुईं। अन्तिम लड़ाई १४ जनवरी १७६१ को हुई जिसमें दो महीने से भूखों मरने वाली तथा साधन-हीन मराठी सेना खदेड़ दी गई। मराठा सेनापति सदाशिवराव अन्तिम दम तक वीरतापूर्वक युद्ध करता हुआ मारा गया। पेशवा का पुत्र विश्वासराव इस सेना का सेनापति था। वह भी अनेक अफ़सर और सरदारों के साथ लड़ता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। मुख्य-मुख्य व्यक्तियों में महदजी सिन्धिया तथा मल्हारराव होल्कर ही युद्ध क्षेत्र से भाग पाये थे। इस युद्ध में बहुत से क़ैदियों तथा छावनी का सारा सामान शत्रु के हाथ लग गया।

मराठे सम्पूर्ण भारत में साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे किन्तु पानीपत की तीसरी लड़ाई ने उनकी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। मराठों का संगठन सदा के लिये छिन्न-भिन्न हो गया। यद्यपि ग्वालियर में महदजी सिन्धिया, नागपुर और बरार में रघुजी भौंसले, मालवा में मल्हार राव होलकर और गुजरात में दमाजी गायकवाड़ ने मराठा साम्राज्य के भाग पा लिये किन्तु पेशवा का अधिकार समाप्त हो गया और एकता की श्रृङ्खला नष्ट हो गई। इस लड़ाई ने मराठों की कमर तोड़ दी और उत्तरी भारत में साम्राज्य स्थापित करने के लिये अंग्रेजों का मार्ग खोल दिया।

अहमदशाह अब्दाली न तो विजय के बाद विजय चाहता था और न देश पर अधिकार कर शासन ही करना चाहता था। उसकी सेना को बड़ी शिकायत थी, वह अपने वेतन की चुकती चाहती थी और उसे काबुल लौटने के लिये बाध्य कर रही थी। उसने शाहआलम को सम्राट तथा इमाद-उल-मुल्क को वज़ीर बना दिया। उसने नजीबुद्दौला को अमीर-उल-उम्रा की उपाधि दे कर उसे दिल्ली का अधिकार सौंप दिया। अब्दाली पेशवा तथा सूरजमल से सन्धि करना चाहता था किन्तु इस काम में सफल न हो कर वह २० मार्च १७६१ को दिल्ली से काबुल के लिये रवाना हो गया।

सम्राट शाहआलम के बिहार में रहने के कारण दिल्ली का सिंहासन १७६० से

१७७१ तक खाली पड़ा रहा। १७६१ से १७७१ तक के समय में प्राय: दिल्ली तथा लड़खड़ाते हुए साम्राज्य का शासन नजीबुद्दौला के अधिकार में रहा। उसने तानाशाहों जैसा व्यवहार किया और जाट तथा सिक्खों से निरन्तर लड़ाई लड़ता रहा किन्तु सदा के लिये किसी को भी न कुचल सका। १७६७ के आरम्भ में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर अन्तिम बार आक्रमण किया और नज़ीबुद्दौला को अपने पास बुलाया। किन्तु सिक्ख इतने शक्तिशाली हो गये थे कि वे किसी तरह भी न दबाये जा सके अत: अब्दाली को अफ़गानिस्तान तथा नज़ीब को दिल्ली लौटना पड़ा (३० जुलाई १७६७)। अब नज़ीब वृद्ध तथा दुर्बल हो गया था, अत: मार्च १७६८ में दिल्ली-सरकार का भार अपने पुत्र ज़ाबिता ख़ाँ को सौंप कर नज़ीबाबाद चला गया। मराठे पानीपत में हारने के बाद १७७० में उत्तरी भारत में फिर आये और इन्होंने यहाँ आकर नजीब को बहुत अधिक तंग करना शुरू कर दिया। उनका यह पक्का विचार था कि 'अखिल भारत-मराठा साम्राज्य' की योजना के नष्ट भ्रष्ट करने का सारा उत्तरदायित्व नजीब पर ही है। उन्होंने इस रुहेला सरदार को अपना जानी दुश्मन समझ कर इसे सदा के लिए कुचल देने का निश्चय कर लिया। किन्तु नजीब के विरुद्ध कौनसी युद्ध-नीति अपनाई जाय इसके विषय में मराठों में मतभेद था। मराठा सेना का सेना-नायक रामचन्द्र गनेश नजीब का सहयोग प्राप्त कर लेना चाहता था। तुकोजी नजीब का वंश परम्परा का मित्र था अत: उसने भी रामचन्द्र गनेश का ही समर्थन किया। इसके विपरीत महदजी सिन्धिया इस रुहेला सरदार को बिलकुल कुचल देना चाहता था। जब इस विषय में पेशवा से सलाह ली गई तो वह भी राजनैतिक औचित्य की मांगों को तरजीह देकर रामचन्द्र गनेश से ही सहमत हो गया। मराठों में मतभेद होने के कारण नजीब के लिए यह कठिन काम नहीं था कि वह उनमें आपस में फूट डलवा कर स्वयं विपत्ति से बच जाय। उसने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अनुभव कर लिया था कि भारत में मराठों का प्रभुत्व शीघ्र ही स्थापित हो जायेगा, अत: उसने ज़ाबिता ख़ाँ का हाथ तुकोजी के हाथ में सौंप कर उससे प्रार्थना की कि वह उस पर इसी प्रकार कृपालु बना रहे जिस प्रकार उस पर (नजीब पर) मल्हार कृपा करता रहा था। इसके बाद उसने मराठा सरदारों को अपने पुत्र के संरक्षण में विदा कर दिया और स्वयं घर चला गया, जहाँ उसकी ३१ अक्टूबर, १७७० को मृत्यु हो गई।

दिल्ली में जब तक नजीब की तानाशाही रही तब तक सम्राट शाहआलम निर्वासित रहा। अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का नवाब बना दिया था, अत: शाहआलम ने इन प्रान्तों को अंग्रेजों से छीनने के लिये तीन बार प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा। उसने पटना का पहला घेरा युवराज की हैसियत

से डाला जो अप्रैल १७५६ में समाप्त हुआ। उसने १७६० में अपने को सम्राट घोषित करने के बाद बिहार का फिर दुबारा घेरा डाला। उसने पटना में नायब सूबेदार राजा रामनारायन का भी घेरा डाला किन्तु नोक्स के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ठीक समय पर आ गई, जिसने सम्राट को घेरा उठा लेने के लिये (३० अप्रैल १७६०) तथा यमुना के किनारे चला जाने के लिये बाध्य कर दिया। बरसात के बाद सम्राट ने फ्रांसीसी सेनापति जीन लॉ के साथ बिहार पर तीसरी बार अन्तिम हमला किया, किन्तु कारनेक ने उसे हरा दिया (१५ जनवरी १७६१)। अंग्रेज़ उसे सान्त्वना देकर अन्याय के कलंक को धोना चाहते थे, अतः उन्होंने उसे सम्मान और सुरक्षा के साथ पटना भेज दिया। अंग्रेजों ने मीरजाफर के स्थान पर मीरकासिम को नवाब बनाया जिसने पटना में सम्राट की सम्मान के साथ भेंट दी (१२ मार्च)। सम्राट ने मीरकासिम को स्थायी नवाब बना दिया। अंग्रेजों ने बदले में सम्राट को १,००० रु० उसके दैनिक व्यय के लिये प्रतिदिन दिये। सम्राट ने अपने पूर्वजों के सिंहासन पर बैठने के लिये पटना से दिल्ली को प्रस्थान किया। वज़ीर शुजाउद्दौला १६ जून को उससे सराय सईद राज़ी में मिला और सम्राट ने बरसात बिताने के लिये जाजऊ में छावनी डाली।

शाहआलम बरसात के बाद भी दिल्ली न जासका क्योंकि वह समझता था कि वह नज़ीबुद्दौला के हाथ से शासन छीनने में असमर्थ है। इस समय दिल्ली में नजीब की तानाशाही चल रही थी। शुजाउद्दौला सम्राट की सहायता करना नहीं चाहता था, अतः वह उसे छत्रसाल बुन्देले के पड़पोते राजा हिन्दू पति से बुन्देलखण्ड को वापस लेने के लिये वहाँ लिवा ले गया, किन्तु यह हमला असफल रहा (१७६२)। सम्राट ने एक वर्ष और व्यर्थ खो दिया। अंग्रेज़ों ने मीर कासिम को बंगाल और बिहार से निकाल दिया अतः सम्राट को अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध में शुजाउद्दौला का साथ देना पड़ा। बक्सर की लड़ाई में इन तीनों मित्रों की हार हो गई (२३ अक्टूबर १७६४)। अब अंग्रेजों ने सम्राट से संधि की बातचीत शुरू कर दी। वज़ीर ने सम्राट का अपमान किया था, अत: वह विजेताओं से सन्धि कर लेना चाहता था। शुजाउद्दौला के भाग जाने के बाद अंग्रेज़ों ने सम्राट को इलाहाबाद में रक्खा और यहीं उसने ईस्ट इन्डिया कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानगीरी दे दी। सम्राट १७६५ से १७७१ तक अंग्रेज़ों की सुरक्षा में रहा। किन्तु वह दिल्ली जाने के लिये सदैव उत्सुक रहा। यद्यपि उसे बंगाल से कर के रूप में २६ लाख सालाना मिल जाते थे किन्तु वह फिर भी विदेशियों के अधीन रहने में अपना अपमान समझता था। उसके पास नियुक्त किया गया अंग्रेज़ कमान्डर उसका सदा अपमान करता रहता था। इसके अतिरिक्त दूसरी बात

यह थी कि नजीबुद्दौला की मृत्यु के बाद उसका पुत्र ज़ाबित ख़ाँ उसका उत्तराधिकारी बन गया था जो दिल्ली के किले में ज़नानखाने में घुसने का प्रयत्न करता रहता था और उसने शाहआलम की बहन ख़ैरुन्निसा इत्यादि रमणियों का अपमान भी कर दिया था। अतः शाही ख़ानदान की इज़्ज़त बचाने के लिये राजमाता उसे इलाहाबाद से दिल्ली बराबर बुला रही थी। अतः १७७० के आरंभ में जब मराठे उत्तरी भारत में लौटे तब सम्राट ने उनसे बातचीत शुरू की और उनकी सहायता से वह इलाहाबाद से दिल्ली गया और ६ जनवरी १७७२ को वहाँ पहुँच गया।

शाहआलम के सामने बड़ी कठिन समस्या थी। दिल्ली का ख़ज़ाना ख़ाली हो गया था और शाही परिवार ग़रीब हो कर भूखों मर रहा था। उसने सिंहासन का अधिकार दिलाने के लिये मराठों को चालीस लाख रुपये तथा मेरठ और दूसरे सात परगने तथा कोरा जाहानाबाद और कड़ा मानिकपुर के ज़िले देने की प्रतिज्ञा कर ली। इसके अतिरिक्त उसे अपनी सेना को कई महीने का पिछला वेतन भी बांटना था। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसने ज़ाबिता ख़ाँ पर आक्रमण कर दिया और पथरगढ़ में उसका घेरा डाल दिया किन्तु उससे और रुहेलों से जो धन मिला वह मराठों के देने के लिये पर्याप्त नहीं था, अतः मराठों ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। मराठों तथा मिर्ज़ा नज़फ ख़ाँ के नेतृत्व में सम्राट की सेना में युद्ध हुआ जिसमें मिर्ज़ा हार गया (जनवरी १७३३)। सम्राट को आत्मसमर्पण करना पड़ा और उसे नज़फ ख़ाँ को नौकरी से हटाकर मराठों के पिट्ठू ज़ाबिता ख़ाँ को मीर बख़्शी बनाना पड़ा। उसने कोरा और इलाहाबाद भी मराठों को सौंप दिये। सम्राट ने ख़ालसा और वह प्रान्त जो उसके जेब ख़र्च के लिये नियत थे उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु वह असफल रहा और दरबार में ग़रीबी सदा अड्डा जमाये रही। शाहआलम अपने मन्त्रियों तथा मराठों के हाथ की कठपुतली बना रहा। मिर्ज़ा नज़फ ख़ाँ नवम्बर १७७६ से अपने सारे जीवन तक (६ अप्रेल १७८२) मन्त्री रहा। इसने जाटों का प्रभाव तो कम कर दिया किन्तु पतित साम्राज्य को उन्नत करने तथा उसकी आर्थिक दशा सुधारने में असफल रहा।

उसके उत्तराधिकारी मिर्ज़ा शफ़ी और अफ़रा सियाब (१७८२-८४) तो उससे भी अधिक निकम्मे निकले और सर्वथा असफल रहे। नवम्बर १७८४ में महदजी सिन्धिया वकील मुतलक़ (संरक्षक) नियुक्त हुआ। उसने जाटों से डीग तथा आगरा और अफ़रा सियाब से अलीगढ़ जीता। उसे दोआब के गुसाइयों तथा दिल्ली के उत्तर-पश्चिम के सिक्खों से भी लड़ना पड़ा। इसके बाद वह राजस्थान में फंस गया और वहाँ से छुटकारा पाने के बाद वह कर वसूली में लग गया। उसकी अनुपस्थिति में

दिल्ली में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाने लगे जिनके परिणाम स्वरूप वह दरबार से हटा दिया गया। ज़ाबिता ख़ाँ का पुत्र तथा नजीबुद्दौला का प्रपौत्र गुलाम क़ादिर रुहेला उसका उत्तराधिकारी हुआ जो सितम्बर १७८७ में मीर बख़्शी के पद पर नियुक्त हुआ। वह सम्राट के विरुद्ध हो गया और उसके राजमहल पर अधिकार कर उसे गद्दी से उतार दिया (३० जुलाई १७८८)। उसने अपने खन्जर से वृद्ध सम्राट की आँखें निकाल कर उसे बिलकुल अन्धा कर दिया (१७ अगस्त)। उसने उसका तथा उसकी औरतों का अपमान किया और सारा का सारा धन पाने के लिये शाही भण्डार को खुदवा डाला। भारत के इतिहास में मुग़ल परिवार को जैसी कठिनाई और विपत्ति इस रुहेले गुण्डे अत्याचारी के हाथों सहनी पड़ीं वैसी पहले कभी नहीं सहनी पड़ीं (जुलाई-अगस्त १७८८)। अन्धे सम्राट ने महदजी सिन्धिया से दिल्ली आ कर गुलाम क़ादिर को उचित दण्ड देने की दर्दभरी अपील की। सिन्धिया ने अक्टूबर में दिल्ली पर अधिकार कर लिया। गुलाम क़ादिर भाग गया किन्तु ३१ दिसम्बर १७८८ को वह पकड़ लिया गया। सम्राट ने सिन्धिया को लिखा कि क़ैदी की हत्या कर दी जाय अन्यथा वह राज्य छोड़कर मक्का भाग जायगा। अत: महदजी सिन्धिया की आज्ञा से गुलाम क़ादिर तथा उसके साथी धूर्त मनजूर अली ख़्वाजा—जिसके द्वारा रुहेला ने महल में घुसने का प्रयत्न किया था—मरवा दिये गये (२–४ मार्च १७८९)। इस प्रकार शाहआलम ने अपना बदला लिया।

१७९२ के आरम्भ में महदजी सिन्धिया उत्तरी भारत को छोड़ कर पेशवा से मिलने के लिए पूना गया। वहाँ १२ फरवरी १७९४ को उसकी मृत्यु हो गई। अब दिल्ली दरबार में फिर निराशा छा गई और षड्यन्त्र रचे जाने लगे। सितम्बर १८०३ में लार्ड लेक ने महदजी सिन्धिया के उत्तराधिकारी दौलतराव सिन्धिया से दिल्ली छीन ली। शाहआलम को अब अंग्रेजों से पेन्शन मिलने लगी। सन १८०६ में उसकी मृत्यु हो गई।

शाह आलम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अकबर द्वितीय गद्दी पर बैठा। यह शाही वंश का प्रधान बना और नाम मात्र का ख़ानदानी सम्राट ही रहा। पिता के समान इसे भी अंग्रेजों से पेन्शन मिलती रही। सन् १८३७ में इसकी मृत्यु हो गई। इसका पुत्र बहादुरशाह भी नाम मात्र का सम्राट बना रह सका। उसने १८५७ के विद्रोह में भाग लिया अतः अंग्रेजों ने इस पर मुकदमा चला कर इसे रंगून भेज दिया जहाँ कुछ वर्ष बाद इसकी मृत्यु हो गई।

विशेष अध्ययन के लिये पुस्तकें

(अ) फारसी

१. बहादुरशाह नामा (हस्तलिखित) लेखक दानिशमन्द ख़ाँ ।
२. इबरत नामा (हस्तलिखित) लेखक मुहम्मद क़ासिम लाहौरी ।
३. तज़कीरात-उस-सलातीने चग़ताईया लेखक मुहम्मद हादी कामवर ख़ाँ ।
४. बयाने वाक़या (हस्तलिखित) लेखक अब्दुल क़रीम काश्मीरी ।
५. गुलिस्तान-ए-रहमत (हस्तलिखित) लेखक मुस्तज़ाब ख़ाँ ।
६. तारीख़े अहमदशाह (हस्तलिखित) लेखक अज्ञात ।
७. तारीख़े आलमग़ीरे सानी (हस्तलिखित) लेखक अज्ञात ।
८. सियर-उल-मुताख़रीन (मूल) लेखक सैय्यद गुलाम हुसैन ।
९. तारीख़े मुज़फ़्फ़री (हस्तलिखित) लेखक मुहम्मद अली अन्सारी ।
१०. तारीख़े जहाँ कुशाए नादिरी (मूल) लेखक मिर्ज़ा मुहम्मद महदी ।
११. वाक़या शाहआलम सानी (हस्तलिखित) डायरी लेखक अज्ञात ।
१२. परशियन अख़बारात (हस्तलिखित) ।

(ब) हिन्दी

१. सुजान चरित्र लेखक सुदान ।
२. वीर विनोद लेखक कविराज श्यामलदास ।
३. वंश भास्कर लेखक सूरजमल चारण ।

(स) आधुनिक साहित्य

१. The Fall of the Mughal Empire लेखक एच० जी० नीन ।
२. The Later Mughals लेखक डब्लू० इरविन, दो जिल्द ।
३. Fall of the Mughal Empire जिल्द १-४, लेखक सर यदुनाथ सरकार ।
४. The First Two Nawabs of Awadh लेखक ए० एल० श्रीवास्तव ।
५. Shuja-ud-Daulah दो जिल्द, लेखक ए० एल० श्रीवास्तव ।
६. History of the Jats जिल्द १, लेखक डा० के० आर० कानूनगो ।
७. Cambridge History of India जिल्द ४ ।

अध्याय ११

मराठों का अभ्युदय १७०७-१७३१

शाहू १७०७-१७४८

१३ नवम्बर १६८० में रायगढ़ का पतन हो गया और शिवाजी जो आगे चल कर शाहू नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसकी माता येसू बाई और मराठा राज्य वंश के कई एक सदस्य गिरफ्तार हो कर औरंगज़ेब के शिविर में नज़रबन्द कर दिये गये। शाहू की अवस्था उस समय ७ वर्ष की थी और उसे १७३ वर्ष तक बन्दी जीवन व्यतीत करना पड़ा। यद्यपि उसकी साधारण सुख-सुविधा का प्रबन्ध कर दिया गया था और औरंगज़ेब की सुपुत्री ज़ीनतुन्निसा की दयापूर्ण देख रेख में उसे अपनी स्वतन्त्रता की बहुत कम आशा रह गई थी। वास्तव में उस समय उसका भाग्य बड़ा डांवा डोल हो रहा था। ख़्याल यह किया जाता था कि या तो वह मुसलमान बना लिया जायेगा अथवा उसका वध कर दिया जायगा। औरंगज़ेब की तीव्र इच्छा थी कि शाहू को मुसलमान बना लिया जाय परन्तु उसने अपने इस निश्चय को अपनी पुत्री ज़ीनतुन्निसा की प्रार्थना पर त्याग दिया और शाहू के केवल दो सम्बन्धियों को मुसलमान बना लिया। जब शाहू की चतुर माता येसूबाई ने राजाराम के प्रति अपना वैर भाव प्रदर्शित कर यह घोषणा कर दी कि वे औरंगज़ेब की सुरक्षा में पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं तब औरंगज़ेब का सन्देह दूर हो गया। शाहू कभी कभी औरंगज़ेब के अभिवादन के लिये लाया जाता था जिससे औरंगज़ेब उसके व्यवहार और राजभक्ति से सन्तुष्ट हो गया।

शाहू ने मुग़ल शिविर में मराठी लिखना और पढ़ना तथा हिन्दी बोलना सीख लिया। उसे शिविर के ही भीतर घोड़े पर चढ़ना, शिकार खेलना और तलवार चलाना भी सिखाया गया। मुग़ल दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध रहने के कारण उसे इस्लाम धर्म का कुछ ज्ञान हो गया और उसकी उसमें श्रद्धा भी बढ़ गई। १७०३ ई० में उसने दो स्त्रियों के साथ अपना विवाह किया। औरंगज़ेब के जीवन के अन्तिम दिनों में मुग़लों को अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा, अतः उनके साथ साथ शाहू, उसकी माता तथा उसके अनेक साथियों को भी कठिनाइयाँ सहनी पड़ीं और अपने दैनिक व्यय के लिये रुपया उधार लेना पड़ा।

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका पुत्र आज़मशाह गद्दी पर बैठा। जुल्फ़िकार ख़ाँ ने शाहू को उसके सामने उपस्थित किया और प्रार्थना की कि मराठा राजकुमार को मुक्ति दे कर घर जाने की आज्ञा दे दी जाय किन्तु यह शर्त लगा दी जाय कि वह मुग़ल सम्राट के प्रति वफ़ादार रहेगा और समय पर सेना सहित सम्राट की सहायता करेगा। उसका विश्वास था कि ऐसा करने से मराठों में परस्पर मतभेद हो जायगा और उनकी शक्ति क्षीण हो जायगी और वे किसी प्रकार का उपद्रव न कर सकेंगे। किन्तु आज़म अपने भाई बहादुरशाह से लड़ने की तैयारी में था, अतः वह कोई निश्चय न कर सका और शाहू तथा उसके परिवार के साथ नर्मदा पार करने के लिये चल पड़ा। शाहू अधीर हो उठा था और वह अपने मुग़ल-मित्रों की सलाह से १८ मई १७०७ को भूपाल से २० मील उत्तर-पश्चिम में दोराहा में पड़े हुए शिविर को छोड़ कर चला गया। आज़म उसके विरुद्ध कोई क़दम न उठा सका क्योंकि वह बहादुरशाह के साथ जीवन-मरण के संघर्ष में फंसा था। वह जून १७०७ में आगरा के निकट लगभग ७ मील जाजऊ में हरा कर मार दिया गया। अत: शाहू अपने साथियों के साथ निर्विघ्न यात्रा करता रहा।

शाहू अपने मुट्ठी भर साथियों के साथ नर्मदा पार कर बीजागढ़ और सुलतानपुर होता हुआ ख़ानदेश के पश्चिमी भाग में बढ़ता चला गया। बीजागढ़ में मोहनसिंह रावल ने उसका साथ दिया और सुलतानपुर में कुछ मराठा सरदार भी आकर मिल गये। महाराष्ट्र में उसका हार्दिक स्वागत हुआ और जिन लोगों ने उसका पक्ष लिया उनमें नागपुर के भावी शासकों के पूर्वज परसोजी भोंसले, भावी पेशवा बालाजी विश्वनाथ और नामाजी सिन्धिया सर्व प्रमुख थे। शाहू जून और जुलाई के दिन ख़ानदेश में बिताकर अगस्त में अहमदनगर पहुँचा और उसने आगे बढ़ने की योजना बना कर मराठों की तत्कालीन राजधानी सतारा का घेरा डाल दिया। ताराबाई ने घोषणा कर दी कि शाहू छली कपटी है और उसका उस राज्य पर कोई अधिकार नहीं है जिसे उसके पिता शम्भूजी ने नष्ट कर दिया था। उसने कहा कि वर्तमान राज्य का निर्माण तो उसके पति राजाराम ने किया है अतः उसका वास्तविक न्यायानुकूल शासक उसका छोटा पुत्र शिवाजी द्वितीय है। उसने शाहू की प्रगति को रोकने के लिये धानाजी जाधव के नेतृत्व में सेना भेजी अतः शाहू को अपनी चाची ताराबाई से भी युद्ध के लिये तैयार होना पड़ा। नवम्बर १७०७ में भीमा के किनारे खेद नामक स्थान पर लड़ाई हुई जिसमें ताराबाई का प्रतिनिधि परसराम पन्त हार कर भाग गया। ताराबाई के सेनापति धानाजी को युद्ध के समय शाहू ने अपने पक्ष में कर लिया इसलिये उसने युद्ध में भाग नहीं लिया। अब धानाजी शाहू से मिल गया और उसने उसे सेनापति बना दिया। शाहू ने खण्ड

बलाल को तरक्की दे कर चितनीस का पद दे दिया। ताराबाई के अनेक प्रमुख अधिकारी शाहू से आ मिले और शाहू ने विजयोल्लास में सतारा की ओर प्रस्थान किया और २२ जनवरी १७०८ को वहाँ पर अपना राज्याभिषेक किया। ताराबाई तथा उसके पुत्र ने सतारा छोड़ कर पनहाला में पहले से ही शरण ले ली थी। शाहू ने उस किले पर भी अधिकार कर लिया, अतः ताराबाई को बांगना को भागना पड़ा और फिर वहाँ से पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित मलवान जाना पड़ा। किन्तु वह शीघ्र ही लौट कर पनहाला में अन्तिम रूप से बस गई। यहाँ उसे शाहू के सेनापति चन्द्रसेन तथा दूसरे प्रमुख सरदारों का सहारा मिल गया। उसने मुग़लों के दक्षिणी प्रदेश से चौथ एवं सरदेशमुखी अधिकार की मांग की और उसकी गति विधि तथा कूटनीति से १७११ और १७१२ में शाहू की स्थिति डांवाडोल हो गई। किन्तु शाहू के सौभाग्य से १७१४ में महल में षडयन्त्र के फलस्वरूप ताराबाई के हाथ से शक्ति निकल गई। राजाराम की दूसरी विधवा राजसबाई ने ताराबाई तथा उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय को जेल में डाल कर अपने पुत्र शम्भाजी को सिंहासन पर बिठा कर और स्वयं उसकी संरक्षिका बनने का प्रयत्न किया। शम्भाजी कोल्हापुर में बस गया और निज़ाम-उल-मुल्क के हाथों में खेल कर वह शाहू के विरुद्ध षडयन्त्र रचता रहा। शाहू ने उसे हरा कर १७३१ में वारना के स्थान पर एक सन्धि-पत्र हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य किया। इसके अनुसार वारना नदी के दक्षिण प्रदेश शम्भाजी को मिल गये और उत्तरी प्रदेश शाहू को।

बालाजी विश्वनाथ की पेशवा पद पर नियुक्ति, १७१३

उत्तरी महाराष्ट्र शाहू की पैतृक सम्पत्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था अतः उसने ताराबाई के साथ युद्ध में फँसे रहने पर भी उसकी विजय और संगठन से अपना ध्यान नहीं हटाया। फलत: उसने बग़लान और ख़ानदेश पर अपना पूर्ण अधिकार करने के लिये सेनाएँ भेज दीं। उसके सेनापति धानाजी जाधव की मृत्यु जून १७०८ में हो गई अत: शाहू ने उसके स्थान पर उसके पुत्र चन्द्रसेन को नियुक्त कर दिया। किन्तु चन्द्रसेन ताराबाई की पार्टी की ओर झुका हुआ था अतः शाहू ने विश्वासघात से बचने के लिये सेनाकार्ते (सेना-संगठन-कर्ता) के नये पद का निर्माण कर बालाजी विश्वनाथ को उस पर प्रतिष्ठित कर दिया जिससे वह सेनापति पर कड़ी दृष्टि रख सके। बालाजी विश्वनाथ शाहू का योग्य और विश्वासपात्र सेवक था, अतः शाहू ने उसका विश्वास और भरोसा करके उसे १७१३ में पेशवा अथवा प्रधान मन्त्री बना दिया।

बालाजी विश्वनाथ के पूर्वज श्रीवर्धन ग्राम के देशमुख थे। यह ग्राम पश्चिमी समुद्री तट पर बसा हुआ था और जंज़ीरा के सिद्दियों के अधिकार में था। बालाजी चिपलूण के नमक-विभाग में क्लर्क था और १६८० से १६९० के बीच पश्चिमी घाट

के उत्तरी प्रदेश में आ बसा था। १६८६ में वह रामचन्द्र अमात्य की अधीनता में माल विभाग में क्लर्क था और उसके बाद पूना और दौलताबाद ज़िलों का सरसूबा हो गया था। औरंगज़ेब ने १७०४ और १७०५ में इसी प्रदेश में अपना शिविर डाला था और बालाजी विश्वनाथ इन्हीं ज़िलों में मराठा राजा की सेवा में था, अतः उसे मुग़ल-दरबार के निकट सम्बन्ध में आना पड़ा था। यह भी निश्चय है कि औरंगज़ेब के कुछ अफ़सरों से उसकी मित्रता हो गई थी और मुग़ल शिविर के बन्दी शाहू से भी उसने सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी योग्यता, राजभक्ति और चरित्र के सम्बन्ध में शाहू की अच्छी सम्मति बन गई थी। बालाजी उन प्रमुख व्यक्तियों में सर्व प्रथम था जिन्होंने शाहू की मुक्ति के बाद उसके सब विरोधियों को शान्त कर महाराष्ट्र के सब महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को उसके पक्ष में कर दिया था। इन्हीं सब कारणों से वह सेनाकार्ते के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। शाहू के सेनापति चन्द्रसेन और बालाजी मे झगड़ा हुआ और चन्द्रसेन ने जोश में आकर त्यागपत्र दे दिया। ताराबाई उस समय अपने खोये हुए अधिकारों के प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील थी अत: चन्द्रसेन उससे आकर मिल गया किन्तु बालाजी ने अपनी योग्यता और स्वामि-भक्ति से परिस्थिति को गंभीर नहीं होने दिया। कान्होजी आँगरे ताराबाई का प्रबल सहायक था और शाहू का प्रबल शत्रु था। यह पश्चिमी समुद्री तट का रक्षक और मराठा नौ-सेना का प्रधान था। यह शाहू के साथ भयंकर युद्ध करना चाहता था किन्तु बालाजी ने अपनी योग्यता से उसे शाहू के पक्ष में करके इसे राजा के विरुद्ध युद्ध न करने के लिये बाध्य कर दिया। शाहू ने बालाजी की इन सब सेवाओं से प्रभावित हो कर उसकी तरक्की कर दी और २७ नवम्बर १७१३ को उसे पेशवा बना दिया।

मुग़ल सम्राट के साथ शाहू की संधि, १७१६

शाहू की मुग़लों के प्रति सच्ची वफ़ादरी थी। यद्यपि उसने बहादुरशाह की सेवा में रहना तो अस्वीकार कर दिया था किन्तु उसने उसकी सेवा में भेंटें भेजी थीं और प्रार्थना की थी कि वह उसे सनदें देकर उसके चौथ और सरदेशमुखी कर की वसूली के अधिकार को चिरस्थायी बना दे। उस पर न तो बहादुरशाह की मृत्यु का प्रभाव पड़ा और न उसके पुत्रों के सिंहासनाधिकार के युद्ध का। वह दिल्ली की उस प्रबल राज-क्रान्ति से भी विलचित नहीं हुआ जिसके कारण अनेक राजकुमारों की हत्याएं तक हो गई थीं। सैय्यद भाई दिल्ली में राज-निर्माता थे और फ़र्रुख़सियर उन्हीं की कृपा से गद्दी पर बैठा था; किन्तु वह इतना कृतघ्न निकाला कि उन्हें उखाड़ फेंकने के लिये षड्यन्त्र रचने लगा। अतः मीर बख़्शी सैय्यद हुसैन अली को

दक्खिन की सूबेदारी का कार्य भार संभालना पड़ा जिससे वह वहाँ अपने पार्टी के हितों की सुरक्षा कर सके। जब वह दक्खिन में था तब उसने सुना कि दिल्ली दरबार में उसके बड़े भाई वज़ीर अबदुल्ला ख़ाँ के विरुद्ध एक नया षड्यन्त्र रचा जा रहा है। अतः उसने फ़र्रुख़सियर पर घातक प्रहार करने का निश्चय कर लिया और इसके लिये उसने शाहू से प्रार्थना की कि वह एक सुदृढ़ मराठा सेना उसके अधिकार में रख दे। बातचीत के बाद ये शर्तें तय हो गईं:—(१) सम्राट शाहू को वे सब प्रदेश और उनके अन्दर स्थित किले लौटा देगा जो शिवाजी के 'स्वराज' नाम से प्रसिद्ध हैं। (२) शाहू को वे प्रदेश भी लौटा दिये जायंगे जिन्हें मराठों ने ख़ानदेश, बरार, गोंडवाना, हैदराबाद और कर्नाटक में हाल ही में जीता है। (३) मराठों को मुग़ल-दक्खिन के छहों प्रान्तों में चौथ और सरदेशमुखी कर वसूली की आज्ञा दे दी जायेगी। चौथ के बदले में तो शाहू १५,००० जवानों की एक सेना-टुकड़ी सम्राट की इच्छा पर निर्भर कर देगा और सरदेशमुखी के बदले वह दक्खिन में शान्ति और सुव्यवस्था का जिम्मा अपने ऊपर ले लेगा और डाके तथा विद्रोह को भी रोक देगा। (४) शाहू कोल्हापुर के शंभाजी को तंग नहीं करेगा। (५) शाहू सम्राट को १० लाख का वार्षिक कर देगा। (६) सम्राट दिल्ली में नज़रबन्द शाहू की माता येसू बाई, उसकी पत्नी, उसके भाई मदनसिंह तथा सेवकों सहित दूसरे मराठा राजपरिवार के सदस्यों को मुक्त कर वापस भेज देगा।

सैय्यद हुसेनअली ख़ाँ इन शर्तों से सहमत हो गया और उसने सम्राट को भी सहमत कर लेने की प्रतिज्ञा कर ली। जब हुसेनअली ने दिल्ली को प्रस्थान किया तब बालाजी विश्वनाथ तथा खांडे राव धमादे के नेतृत्व में १५,००० मराठा जवानों ने उसका साथ दिया। सैय्यद भाइयों ने फ़र्रुख़सियर को गद्दी से उतार कर रफी-उद-दरज़ाक को बिठा दिया जिसने इस संधि का पालन किया। परिणाम स्वरूप १३ मार्च को चौथ की और २५ मार्च १७१६ को सरदेशमुखी की सनदें तैयार कर पेशवा को दे दी गईं और शाहू की माता येसूबाई तथा परिवार के दूसरे सदस्य छोड़ दिये गये। अब शाहू को मुग़ल-दक्खिन के ६ सूबों में ३५ प्रतिशत कर उघाने का न्याया-नुकूल अधिकार मिल गया किन्तु वह सम्राट का अधीनस्थ राजा रहा।

बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु, उसका व्यक्तित्व और चरित्र

१२ अप्रैल १७२० को बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के समय उसके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। उस समय उसके सबसे बड़े पुत्र बाजीराव की अवस्था १६ वर्ष की थी अतः पिता के पेशवा पद का वही उत्तराधिकारी हुआ।

बालाजी विश्वनाथ कोंकण के चितपावन वंश का था और खास महाराष्ट्र (देश) में आ बसा था। उसने स्वाध्याय स्वयं किया था और आत्म निर्माण भी स्वयं

ही किया था। वह साधारण पद से उन्नति करते करते बहुत बड़े पद पर पहुँच गया था। मध्य कालीन भारत के इतिहास में वह उन थोड़े से व्यक्तियों में से था जो बिना सैनिक बने ही इतने उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। कहा जाता है कि बालाजी घोड़े पर भी बड़ी कठिनाई से चढ़ पाता था और उसमें सैनिक बनने का कोई गुण नहीं था किन्तु वह एक अच्छा प्रबन्धक और चतुर राजनीतिज्ञ था। महाराष्ट्र के पुरन्दर, बौकिल तथा दूसरे मुख्य मुख्य परिवारों तथा प्रमुख राजनैतिक तत्वों को शाहू के पक्ष में मिला देना उसी का काम था। कुशल अर्थ शास्त्री होने के कारण उसने शाहू की आर्थिक दशा को बहुत उन्नत कर दिया और बड़े बड़े सेठों की आर्थिक सहायता भी प्राप्त कर ली। अपनी युक्ति और कूटनीति से उसने चन्द्रसेन जाधव और धानाजी थोरट के विद्रोहों को शान्त कर दिया और शाहू के प्रतिद्वन्द्वी कोल्हापुर के मराठा राजपरिवार की प्रतिष्ठा को बहुत घटा दिया। तानाजी को अपने पक्ष में मिला लेना और १७१६ में मुग़ल-सम्राट के साथ सन्धि कर लेना उसकी सबसे बड़ी कूटनीतिक सफलताएँ थीं। इसी सन्धि के अनुसार मराठों को दक्खिन में मुग़लों के छह सूबों में चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल करने का अधिकार मिला था। चौथ और सरदेश-मुखी अर्थात् मालगुज़ारी के ३५ प्रतिशत के वसूल करने का उसका ढंग भी मौलिक था जो टोडरमल की भूमि-कर योजना पर आधारित था। उसने मुग़ल-दक्खिन के विभिन्न भागों में अपने आदमी नियुक्त कर रक्खे थे जो कर वसूल करते थे। इसके चौथ एवं सरदेशमुखी कर कसूल करने का तरीका मराठा राज्य की उन्नति का सुरक्षित साधन बन गया था और जो दरिद्र प्रदेश इन बड़े बड़े करों को नहीं दे सकते थे उनके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का यह सरल बहाना था। बालाजी ने इस आमदनी को मराठा सरदारों में बाँट दिया था, जिससे कि प्रत्येक सरदार राज्य की आमदनी के बढ़ाने में दिलचस्पी लेता रहे। किन्तु उसने बुद्धिमानी यह की कि किसी भी सरदार को किसी प्रदेश विशेष का अधिकारी नहीं बनाया जिससे कि वह सरकार के अंकुश से स्वतंत्र हो जाय। सर रिचार्ड टेम्पुल ने बालाजी के सम्बन्ध में लिखा है कि "वह अपने भावी उत्तराधिकारियों की अपेक्षा अधिक आदर्श ब्राह्मण था। उसका मस्तिष्क शान्त एवं क्रियाशील था। उसका प्रबंध कल्पनाशील एवं उत्साहवर्धक था। वह अपने चरित्र-बल से नीचों को वश में कर सकता था। वह एक अच्छा कूटनीतिज्ञ और कुशल अर्थशास्त्री था। राजनैतिक कार्यकर्ता होने के कारण उसे अनेक आपत्तियों का सामना करना पड़ा। उसे अनेक बार मौत की धमकी दी गई। किन्तु उसने अवसर आने पर इसका दृढ़ता से मुकाबिला किया। उसके भय तथा तर्क से मुग़लों ने मराठों का छत्रपतित्व स्वीकार कर लिया। वह अपनी सभी कूटनीतिक चालों में विजयी रहा। यद्यपि उसकी मृत्यु असमय हो गई थी, किन्तु उसे इस बात का

अभिमान था कि वह मुसलमानी शासन के खण्डहरों पर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना कर सका है और उस साम्राज्य में उसकी वंश-परम्परा का प्रधान मंत्रित्व सुरक्षित हो गया है।" (Oriental Experience, पृष्ठ ३८६-६०) उसको मराठा-साम्राज्य का द्वितीय संस्थापक कहना सर्वथा उचित है।

५ बाजीराव, १७२०-४०

शाहू ने अपने सरदार और सलाहकारों के प्रबल विरोध के होने पर भी २७ अप्रैल सन् १७२० में बालाजी विश्वनाथ के सबसे बड़े लड़के बाजीराव को ही पेशवा नियुक्त किया। बाजीराव उस समय बच्चा ही था। वह ४ माह कम २० वर्ष का था किन्तु उसका शरीर दृढ़ और गठा हुआ था। उसमें बहुत अधिक उत्साह तथा विलक्षण प्रतिभा थी और वह व्यवहार में बहुत कुशल था। कुशल घुड़सवार होने के साथ साथ वह हिसाब-किताब का अच्छा ज्ञाता था और प्रबंध एवं कूटनीति में अत्यन्त निपुण था। उसने मुग़ल साम्राज्य की शोचनीय दशा का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लिया था और वह उसके अधिक से अधिक प्रदेश छीन लेना चाहता था। प्रतिनिधि श्रीपतिराव ने उसका विरोध किया और उसके विचार को अदूरदर्शिता-पूर्ण बता कर कोल्हापुर तथा कर्नाटक पर अधिकार कर लेने पर ज़ोर दिया। किन्तु बाजीराव के व्याख्यान से सारा विरोध शांत हो गया और शाहू उसके पक्ष में हो गया। उसने कहा "हमारे लिये यही समय है कि हम विदेशियों को हिन्दू देश से निकाल कर अक्षय कीर्ति प्राप्त कर लें। हमको सूखे वृक्ष की जड़ों पर प्रहार करना चाहिये शाखायें तो आप से आप गिर जायेंगी। हमारे प्रयत्नों से हिन्दुस्तान में कृष्णा से अटक तक मराठों का झण्डा फहरायेगा।" शाहू पेशवा की नीति से प्रभावित हो गया और उसे स्वीकार करते हुए उल्लास के साथ बोला "तुम मराठा पताका को हिमालय की चोटी पर फहरा दोगे। तुम वास्तव में योग्य पिता के योग्य पुत्र हो।" यह निश्चय हो जाने के बाद पेशवा मुग़ल साम्राज्य से विरोध करने की तैयारी में लग गया।

मालवा और गुजरात पर आक्रमण, १७२४-२८

अपनी नीति के अनुसार बाजीराव ने नर्मदा पार करके १७२४ ई० में मालवा जीत लिया। नवम्बर १६६६ के आरम्भ में मराठे उस प्रांत में पहले पहल घुसे थे। उस समय ये केवल उस प्रान्त पर लूटमार ही करते रहे थे। बाजीराव ने मालवा में अपनी जड़ें जमानी चाहीं और उस समय की परिस्थिति उसके अनुकूल भी पड़ गई। राजपूत सरदार, विशेष कर जयपुर का जयसिंह, मराठों के आदर्श से सहानुभूति रखते थे और देश में हिन्दू शासन चाहते थे। अतः वे बाजीराव के मित्र बन गये। पेशवा को बहुत कम विरोध का सामना करना पड़ा। वह अपने सहायक ऊंदाजी

पवार, मल्हारराव होलकर तथा रानोजी सिन्धिया को कर उघाने के लिये छोड़ कर स्वयं पूना चला गया। कुछ समय बाद ये ही धार, इन्दौर और ग्वालियर में राजकीय भवनों के संस्थापक हुए। इस समय मराठे गुजरात पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। वे मार्च १७०६ में धानाजी जादव के नेतृत्व में पहले पहल यहाँ आये थे। इस प्रान्त की तथा बगलान की कर की आमदनी सेना-पति खांडेराव दाभाडे के नाम कर दी थी। उसके सहायक धानाजी गायकवाड़ ने बड़ौदा में राजवंश की नींव डाली। उसके भतीजे पिलाजी गायकवाड़ ने गुजरात को जीत कर सोनगढ़ में अपना किला बनाया जो सूरत से ५० मील पूर्व में था।

बाजीराव और निज़ाम, १७२१-१७२८

नये पेशवा के लिये सबसे जटिल समस्या मराठा और निज़ाम-उल-मुल्क के सम्बन्धों को व्यवस्थित करना था। निज़ाम के अधिकार में दक्षिण के छै सूबे थे। सैयद भाइयों के पतन के बाद वह मुग़ल साम्राज्य में सबसे अधिक शक्तिशाली सरदार बन गया था। उसने अपने वायसरायी अधिकार को राज्य में बदल देने का पक्का इरादा कर लिया था अतः वह मराठों को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझने लगा। उसने १७१६ की सन्धि का मानना अस्वीकार कर दिया था और यह घोषणा करके कि वह शाहू और शम्भाजी में से उसी एक को चौथ और सरदेशमुखी देगा जो महाराष्ट्र में निर्विरोध शासक होगा, निज़ाम ने शाहू और शम्भाजी में विरोध का बीज बो दिया। बाजीराव ने चालाक निज़ाम की चालों को भली भाँति समझ कर खुले युद्ध का समर्थन किया किन्तु शान्तिप्रिय शाहू ने झगड़े को शान्तिपूर्वक निबटाने की ही सलाह दी। इसके परिणामस्वरूप शाहू निज़ाम से तीन बार मिला। पहली बार वह १४ जनवरी १७२१ को चिखलथान में और दूसरी बार २३ फरवरी १७२३ को केलशा में मिला जो दोहाद से २५ मील दक्षिण में था। तीसरी बार वह २८ मई १७२४ को धार के पास नालछा में मिला और उससे अनुरोध किया कि वह १७१६ की सन्धि को मान कर शाहू को तन्जोर का राज्य और शिवनेर, चकन, महूली, करनाल, पाली और मिराज के क़िले तथा उन किलों से सम्बन्धित भूमि को लौटा दे। उसने और भी अनेक माँगें रक्खीं किन्तु इन सभाओं का कुछ भी परिणाम नहीं निकला। निज़ाम लगभग २ वर्ष (१७२२-२३) दिल्ली में वज़ीर रहा और उसके वायसरायी क्षेत्र का प्रबन्ध उसका नायब मुबारिज़ ख़ाँ करता रहा। जब वह अपना कार्य-काल (फरवरी १७२२ दिसम्बर १७२३) समाप्त कर मन्त्री पद से असफल होकर लौटा तब उसे मुबारिज़ ख़ाँ से युद्ध करना पड़ा। बाजीराव ने इस परिस्थिति का लाभ उठा कर बुरहानपुर ज़िले पर अधिकार कर लिया। निज़ाम ने

मुबारिज़ को सखरखेलदा में १० अक्टूबर १७२४ को हरा कर मार डाला और अपने बायसरायी क्षेत्र पर फिर अधिकार जमा लिया। बाजीराव इस युद्ध में तटस्थ रहा और युद्ध के समाप्त होने पर उसने निज़ाम के सामने मिल कर कर्नाटक पर चढ़ाई करने का सुझाव रक्खा।

१७२५ और १७२६ के बीच बाजीराव के नेतृत्व में मराठों के दो लगातार हमले कर्नाटक पर हुए। निज़ाम ने इसमें भाग ही नहीं लिया अपितु अपने नायब एवाज़ ख़ाँ को एक शक्तिशाली सेना के साथ कर्नाटक को निजी तौर पर विजय करने के लिये भेज दिया। मराठों ने चीतल दुर्ग में पहुँच कर बकाया कर की वसूली की। किन्तु निज़ाम तो अपने को सारे दक्खिन का न्यायोचित स्वामी समझता था, अतः उसने बाजीराव के कर्नाटक हमले से यह अभिप्राय निकाला कि बाजीराव उसके प्रदेश को हड़प जाना चाहता है अतः वह बाजीराव के कर्नाटक में रहने पर महाराष्ट्र में उपद्रव मचाता रहा। उसने शाहू के समर्थकों को फुसलाने का प्रयत्न किया और कोल्हापुर के शंभाजी को सारे महाराष्ट्र की मांग के लिये भड़का दिया। शंभाजी अपने मन्त्री नीलकण्ठ त्रयम्बक की सलाह से अक्टूबर १७२६ के आरंभ में निज़ाम-उल-मुल्क से जा मिला और दोनों ने मिलकर शाहू के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। शाहू डर कर निज़ाम-उल-मुल्क से शान्तिपूर्ण बातचीत करने के लिये बाध्य हो गया। निज़ाम ने शाहू से प्रार्थना की थी कि वह चौथ का रुपया स्वयं निज़ाम से ले लिया करे और कर वसूल करने वाले मराठा-अफसरों को दक्खिन के प्रान्तों से हटा ले। शाहू इस प्रस्ताव को स्वीकार करने वाला ही था कि बाजीराव कर्नाटक से लौट आया। अब निज़ाम ने चौथ का रुपया देना भी अस्वीकार कर दिया और घोषणा कर दी कि वह तो शंभाजी को मराठा राज्य का न्यायोचित प्रधान मानता है। अब शाहू निज़ाम की चाल ताड़ गया और वह निज़ाम-उल-मुल्क से युद्ध करने के लिये बाजीराव से सहमत हो गया। पेशवा ने ६ मार्च १७२८ को औरंगाबाद से लगभग २० मील पश्चिम में पालखेद स्थान पर निज़ाम को अपने जाल में फांस लिया। उसने उसकी रसद और पानी बन्द कर उसे सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य कर दिया (१६ मार्च)। यह सन्धि इतिहास में मुंगी शिवगांव नाम से प्रसिद्ध है। इसके द्वारा शाहू को कृष्णा से उत्तर के महाराष्ट्र प्रदेश का एक मात्र छत्राधिपति स्वीकार कर लिया गया। इसकी शर्तें ये थीं : (१) निज़ाम ने शंभाजी की सुरक्षा कर उसे पनहाला भेज देना स्वीकार कर लिया (२) निज़ाम ने स्वीकार कर लिया कि वह कृष्णा से उत्तर के ज़िलों में तथा दूसरी जागीर में शंभाजी के कर वसूली अधिकार को नहीं मानेगा किन्तु उन्हीं प्रदेशों में मानेगा जिन्हें शाहू ने उसे कृष्णा और पंचगंगा के बीच दे दिया है। (३) उसने मराठों के छीने हुए प्रदेशों को तथा मराठा क़ैदियों के छोड़ देने की

प्रतिज्ञा कर ली। (४) उसने १७१६ की संधि के अनुसार शाहू के चौथ तथा सरदेशमुखी अधिकार को मान लिया। १६ मार्च १७२८ की यह सन्धि इतिहास में अपना महत्त्व रखती है क्योंकि इसके अनुसार निज़ाम ने १७१६ की सन्धि में दिये हुए मराठों के अधिकारों को नियम पूर्वक स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त यह भी लाभ हुआ कि निज़ाम ने शम्भाजी की सुरक्षा न करने की प्रतिज्ञा कर ली जिससे शाहू के प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति क्षीण हो गई। इस सन्धि के कारण बाजीराव युद्ध-विद्या-विशारद और कूटनीति-कुशल प्रसिद्ध हो गया। निज़ाम 'मुङ्गी शिवगांव' नामक सन्धि करके भी प्रसन्न नहीं था। उसने त्रिम्बक राव दभाडे के साथ एक षड्यन्त्र रचा किन्तु त्रिम्वक पेशवा द्वारा क़त्ल कर दिया गया (अप्रैल १७३१)। फिर उसने मालवा के मुहम्मदशाह बंगश के साथ मित्रता करके बाजीराव का पीछा किया किन्तु फिर हरा दिया गया। लड़ाई से घबरा कर निज़ाम ने बाजीराव से एक गुप्त सन्धि कर ली जिसके अनुसार चौथ और सरदेशमुखी के बदले निज़ाम के प्रदेश पर पेशवा ने प्रतिज्ञ करली कि वह आक्रमण नहीं करेगा। और चालाक निज़ाम ने मराठों के उत्तरी भारत के आक्रमण में तटस्थ रहना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उसने मराठों का ध्यान उत्तरी भारत की ओर लगाकर अपने प्रदेश को उनके हमले से बचा लिया।

मालवा और बुन्देलखण्ड की वास्तविक विजय, १७२८

इसके बाद बाजीराव ने बुन्देलखण्ड और मालवा के प्रान्तों पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। अक्टूबर १७२८ में उसने अपने भाई चिमनाजी अप्पा को मालवा पर आक्रमण करने के लिये भेजा। मालवा का सूबेदार गिरधर बहादुर योग्य और परीक्षित अफसर था और उसने प्रान्त की सुरक्षा का पूरा प्रयत्न कर लिया, किन्तु ६ दिसम्बर को वह धार के निकट अमझेरा के भयङ्कर युद्ध में मारा गया। उसका चचेरा भाई दयाबहादुर भी इसी लड़ाई में मारा गया। अब मालवा पर मराठों का दृढ़ अधिकार हो गया। लगभग इसी समय बुन्देला के प्रसिद्ध राजा छत्रसाल के निमंत्रण पर बाजीराव ने बुन्देलखण्ड पर स्वयं आक्रमण किया। उस समय इलाहाबाद के मुग़ल सूबेदार मुहम्मद ख़ाँ बंगश ने जैतपुर में उसका घेरा डाल रक्खा था क्योंकि बुन्देलखण्ड इलाहाबाद सूबे का ही एक भाग था। पेशवा ने देवगढ़ से महोबा के लिये बड़ी तेज़ी से कूच किया और २२ मार्च को वहाँ पहुँच गया। बंगश ने छत्रसाल को हरा कर उसे कैद कर रक्खा था। यह जेल से भाग कर महोबा में छत्रसाल से जा मिला। मुहम्मद ख़ाँ बंगश का पुत्र क़ायम ख़ाँ अपने पिता की सैन्य-शक्ति बढ़ाने के लिये आ रहा था किन्तु इन मित्रों, छत्रसाल और बाजीराव ने, जैतपुर के निकट उसे खदेड़ दिया। इसके बाद उन्होंने स्वयं मुहम्मद ख़ाँ पर आक्रमण किया और उसे हरा दिया।

इस युद्ध में बहुत अधिक हत्याएँ हुईं। जब मुहम्मदशाह ने इस बात का लिखित वचन दे दिया कि वह बुन्देलखण्ड जाकर छत्रसाल को फिर कभी तंग नहीं करेगा, तब उसे फ़रुख़ाबाद जाने की आज्ञा दे दी गई। छत्रसाल ने खुला दरबार किया और अपने दोनों पुत्र हिरदेशाह और जगतराज को बाजीराव की सुरक्षा में सौंप दिया। उसने बाजीराव को अपने राज्य का एक बड़ा भाग भी दिया किन्तु शर्त यह लगा दी कि वह (बाजीराव) उसके पुत्रों के साथ अपने छोटे भाइयों जैसा व्यवहार करेगा और उनकी सदा रक्षा करता रहेगा। शायद इसी समय छत्रसाल ने बाजीराव को सुन्दरी मस्तानी भी भेंट की। बाजीराव जून १७२९ के आरम्भ में जैतपुर से पूना आ गया। बाजीराव को जो प्रदेश मिला उसमें कालपी, माटा, सागर, झांसी, सिरोंज, कुंच, गरखोटा और हिरदे नगर शामिल थे। बाजीराव ने इनको गोविन्द पन्त खेर के प्रबन्ध में सौंप दिया और गोविन्द पन्त इसके बाद गोविन्द पन्त बुन्देला नाम से प्रसिद्ध हो गया। जयपुर का राजा जयसिंह उस समय मालवा का मुग़ल सूबेदार था। उसने पेशवा को इस शर्त पर नायब सूबेदार बनाने के लिये राजी कर लिया कि वह मुग़ल प्रदेशों पर आक्रमण नहीं करेगा। सम्राट ने तो इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया किन्तु फिर भी मालवा और बुन्देलखण्ड मराठों के वास्तविक अधिकार में आ गये।

गुजरात पर अधिकार और दाभाडों का पतन

इसके बाद बाजीराव ने गुजरात पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया और फरवरी १७३१ में उसने अहमदाबाद जा कर प्रान्त के नये सूबेदार मारवाड़ के राजा अभयसिंह के साथ सन्धि कर ली। इस बीच में पेशवा और त्रिम्बकराव दाभाड़े में कलह हो गया। त्रिम्बक शाहू का सेनापति था और बाजीराव की योग्यता और शक्ति से द्वेष रखता था और निज़ाम से मिला हुआ था। इस कारण इन दोनों का वैमनस्य चरम सीमा तक पहुँच गया। दोनों दल दभोय के पास भीलापुर के मैदान में डट गये और शस्त्र द्वारा निपटारा करने का निश्चय कर लिया। सेनापति हरा कर मार दिया गया। उसकी मृत्यु से बाजीराव का अन्तिम शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी नष्ट हो गया। अब शाहू नाम मात्र का राजा रह गया और वास्तविक राजा बाजीराव हो गया। शाहू ने त्रिम्बकराव के छोटे भाई यशवन्तराव को अपना सेनापति नियुक्त किया किन्तु दाभाड़े परिवार फिर कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका। अब गुजरात पिलाजी गायकवाड़ के हाथ में चला गया और दाभाड़े परिवार का प्रभुत्व वहाँ से हट गया। अभयसिंह ने १७३८ में पिलाजी गायकवाड़ का क़त्ल कर दिया। उसके बाद उसके स्थान पर दामाजी द्वितीय उसका उत्तराधिकारी हुआ।

दिल्ली पर आक्रमण (१७३७) और निज़ाम की अन्तिम पराजय

१७३७ में बाजीराव ने पहले पहल यमुना पार की, दोआब को लूटा और उत्तरी भारत पर सबसे बड़ा हमला करने की योजना बनाई। उसने मल्हारराव होल्कर के नेतृत्व में एक सेना भेजी जिसे अवध के सूबेदार सादत ख़ाँ ने मार्च १७३७ में हरा दिया। सादत ख़ाँ ने इसकी सूचना दिल्ली भेजी और उसमें अपनी डींग मारते हुए लिखा कि उसने मराठों को चम्बल पार खदेड़ दिया है। बाजीराव ने इस समाचार का खण्डन करने के लिए दिल्ली पर बड़ी तेज़ी से धावा बोल दिया और १४ दिन के सफर को दो दिन में ही तय करके उस वर्ष मार्च के महीने में दिल्ली पर टूट पड़ा। सम्राट भयभीत हो गया किन्तु बाजीराव ने उसके पास संदेश भेजा कि वह किसी और इच्छा को न लेकर केवल यह दिखाने आया है कि वह अभी तक जीवित है। लौटते समय वह एक मुग़ल सेना को हराकर ग्वालियर लौट गया। सम्राट को अब निश्चय हो गया कि केवल निज़ाम ही उसके साम्राज्य को मराठों से बचा सकता है। अतः उसने उसे दिल्ली बुलाया। निज़ाम इस निमन्त्रण को स्वीकार कर जुलाई १७३७ ई० में दिल्ली गया और मराठों को नर्मदा के पार खदेड़ने का बीड़ा उठा लिया। सदा की भाँति बाजीराव उसका मुक़ाबिला करने के लिए तैयार हो गया। उसने दिसम्बर सन् १७३७ में भूपाल में निज़ाम का घेरा डाला और १७ जनवरी १७३८ को 'दोराहा सराय' नामक संधि करने के लिये उसे बाध्य कर दिया। इसके अनुसार उसने सम्पूर्ण मालवा तथा नर्मदा से लेकर चम्बल तक के प्रदेश को पूर्ण अधिकार के साथ बाजीराव के आधिपत्य में छोड़ दिया। उसने इस सन्धि को सम्राट से भी स्वीकार कराने की प्रतिज्ञा कर ली। निज़ाम मराठों को उत्तरी भारत से खदेड़ने के बजाय विपत्तियों में स्वयं फँस गया, और सम्राट को भी फँसा दिया।

१७३९ के आरम्भ में फ़ारस के नादिरशाह ने उत्तर पच्छिमी भारत पर आक्रमण किया और करनाल में मुहम्मदशाह को हरा कर दिल्ली को लूट लिया। बाजीराव ने सोचा कि यह आक्रमणकारी दक्षिण पर भी हमला करेगा, अतः वह मुग़लों के विरोध भाव को भुला कर देश की रक्षा को तैयार हो गया। किन्तु नादिर दिल्ली से ही लौट गया, अतः पेशवा को सम्राट के प्रति अपनी नीति बदलनी न पड़ी।

चिमनाजी का बसीन पर अधिकार, १७३९

अब पेशवा का ध्यान कोंकण पर गया। यह पच्छिमी घाट और समुद्र के बीच एक उपजाऊ और लम्बा प्रदेश था। उसने इसे मराठों के अधिकार में लाने के लिये अपने भाई चिमनाजी को भेजा। इस प्रदेश में तीन प्रतिद्वन्द्वी शक्तियाँ थीं। कोलाबा के आंग्रे, जंजीरा के सिद्दी और गोआ के पुर्तगाली प्रभुता प्राप्त करने के लिये झगड़

रहे थे। यद्यपि कन्होजी आंग्रे का शाहू से समझौता हो गया था, फिर भी उसने पेशवा के अधिकार को न मानकर जाने वाले जहाजों पर चौथ लगा दी। सिद्दी भी मराठों के समान ही शक्तिशाली थे और उनके सदा के शत्रु थे। पुर्तगालियों की राजधानी बसीन थी और वे धार्मिक और राजनैतिक मतभेद के कारण मराठों के विरुद्ध थे। बसीन के पुर्तगाली सूबेदार ने "निगार" कहकर पेशवा का अनादर किया था। अतः पेशवा ने उस विदेशी ढीठ को दण्ड देने के लिये अपने भाई चिमनाजी को भेजा। चिमनाजी ने अप्रैल सन् १७३७ में थाना पर अधिकार कर लिया और सालसर नगर को लूट कर उस द्वीप में स्थित किले को अपने अधीन कर लिया। बरसात के बाद उसने बसीन पर आक्रमण किया परन्तु असफल रहा। अतः उसने बसीन का घेरा डाल कर किले की दीवारों की नींव में ही सुरंग लगा दी और नगर के किनारे तोपखाना लगाकर कंगूरों से बड़े बड़े पत्थरों का गिराना शुरू कर दिया। लम्बी और भयंकर लड़ाई के बाद पुर्तगालियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। चिमनाजी अप्पा ने बड़ी उदारता के साथ किलेदारों को बाहर निकल जाने की सुविधा दे दी और गोआ और दामन में उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध कर दिया और जो वहीं बस गये उनको पूर्ण रूप से धार्मिक स्वतंत्रता दे दी। बम्बई के अंग्रेज इस घटना से घबरा गये, अतः उन्होंने जुलाई सन् १७३६ ई० में मराठों से संधि कर ली। उन्हें दक्खिन में व्यापार करने की खुली छूट दे दी गई।

आँग्रे परिवार में मतभेद

जब चिमनाजी पुर्तगालियों पर असाधारण विजय प्राप्त करता चला जा रहा था तब आंग्रों ने मराठा राज्य के प्रति बड़ी घातक बेवफादारी का परिचय दिया। शेखोजी कन्होजी आंग्रे का उत्तराधिकारी हुआ। ये दोनों ही योग्य और स्वामिभक्त पदाधिकारी थे और मराठा नौ सेना के सेनापति थे। शेखोजी की मृत्यु के बाद उनके दो भाई शंभाजी और मानाजी में उत्तराधिकार के प्रश्न पर परस्पर झगड़ा हो गया। बाजीराव ने कोलाबा जाकर देखा कि दोनों भाइयों के झगड़े शांतिपूर्ण तरीकों से तय नहीं हो सकते हैं, अतः उसने आंग्रे राज्य को दो भागों में बाँट दिया। उसने बड़े भाग को शंभाजी को देकर उसे सरखेर की उपाधि दी। यह भाग सुवर्ण दुर्ग से विजय दुर्ग तक फैला हुआ था। उत्तरी भाग मानाजी को दिया गया जिसका प्रधान कार्यालय कोलाबा में रखा और उसे 'वज़ारत-माव' की उपाधि दी गई। किन्तु दोनों भाइयों में विद्वेष बढ़ता ही गया और वे दोनों आपस में लड़ते झगड़ते ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि अंगरेज और पुर्तगालियों ने इसका लाभ उठा कर मराठा नौ सेना को कमज़ोर बना दिया। २२ जनवरी १७४२ को शंभाजी की मृत्यु हो गई किन्तु आंग्रे का झगड़ा तय न हो सका।

१७४० के आरम्भ में बाजीराव ने निज़ाम-उल-मुल्क के द्वितीय पुत्र नासिर जंग को अपने जाल में फँसा कर औरंगाबाद के पास मुंगी-शिवगाँव में ८ मार्च १७४० को सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये बाध्य कर दिया। इसके अनुसार नासिर जंग ने हडिया और खरगाँव के ज़िले मराठों को सौंप दिये। यह बाजीराव की अन्तिम सफलता थी। ८ मई १७४० (२८ अप्रैल पुरानी गणना के अनुसार) को नर्मदा के किनारे रावर नामक स्थान पर उसकी अचानक मृत्यु हो गई।

बाजीराव का चरित्र

इतिहासकार इस विषय में एक मत हैं कि सैन्य संचालन और कूटनीति में शिवाजी के बाद बाजीराव ही का द्वितीय स्थान है। यद्यपि वह बीस वर्ष की अवस्था के पूर्व ही प्रधान मन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित हो गया था तो भी उसने मराठा राज्य की चौमुखी उन्नति की और उनके देशी विदेशी शत्रुओं को हरा दिया। उसके कार्यों का परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक केन्द्र दिल्ली से हट कर पूना हो गया। बाजीराव का व्यक्तित्व बड़ा प्रतिभाशाली था और वह अच्छा सैनिक और सफल राजनीतिज्ञ था। वह अपने समय का सबसे अच्छा घुड़सवार था और छापा-मार लड़ाई में अत्यन्त निपुण था। वह एक उदार मित्र और प्रभावशाली वक्ता था। उसमें आदमियों के परखने की शक्ति थी और वह उन्हें बड़े से बड़े काम करने के लिये प्रोत्साहन दे सकता था। इतिहासकार सर रिचार्ड टेम्पुल ने बाजीराव के चरित्र-चित्रण के उपसंहार में लिखा है "बाजीराव सबसे अच्छा घुड़सवार था, काम करने में सबसे आगे रहता था और आवश्यकता पड़ने पर कठिनाइयों का सामना करने के लिये आग में कूद पड़ने के लिये भी तैयार रहता था। वह सब प्रकार के कष्टों को सह सकता था और उसे इस बात का गौरव था कि वह अपने सैनिकों के समान ही कष्ट-सहिष्णु है और उनके समान ही उनके रूखे सूखे भोजन से सन्तुष्ट हो सकता है। उस समय राजनैतिक क्षितिज में मराठों के दो शत्रु थे, एक मुसलमान और दूसरे योरोपियन। बाजीराव ने हिन्दू देश-भक्ति से प्रेरित होकर राष्ट्र की रक्षा का सदा प्रयत्न किया। उसके जीवन का लक्ष्य मराठों का आतंक अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत देखना था। वह सदा शिविरों में रहा और वहीं अपने आदमियों के बीच में मर गया। वह महाराष्ट्र में आज भी सैनिक पेशवा और हिन्दू शक्ति का अवतार माना जाता है। मृत्यु के समय उसकी अवस्था ४० वर्ष से भी कम थी।

मस्तानी उपाख्यान

बाजीराव का घरेलू जीवन सुखमय नहीं था क्योंकि उसने मस्तानी नाम की एक मुसलमान नर्तकी से प्रेम कर लिया था। वह अपने समय में भारतवर्ष की

सब से अधिक सुन्दर स्त्री थी और शायद छत्रसाल बुन्देला ने इसे बाजीराव को भेंट में दिया था। कहा जाता है कि उसकी माता मुसलमान थी और पिता हिन्दू। वह अत्यंत गुणवती स्त्री थी और उसने अपने गुणों से बाजीराव के हृदय को ऐसा मोह लिया था कि वह उससे दिल से प्रेम करने लगा था। वह अच्छी गायिका थी और विवाहिता पत्नी की तरह बाजीराव की सुख सुविधा का ध्यान रखती थी। वह अच्छी घुड़सवार थी और पेशवा की तरह ही सब प्रकार के कष्टों को सह सकती थी। मराठी पत्रों में उसके विषय में टीका टिप्पणी तब आरम्भ हुई जब बाजीराव के सबसे बड़े पुत्र एवं भावी पेशवा बालाजी बाजीराव का २१ जनवरी को विवाह हुआ। मस्तानी पूना के 'शनिवार' नामक राजमहल के एक भाग में रहती थी जिसका नाम उसी के नाम पर रख दिया गया था। ब्राह्मण पुरोहितों ने रघुनाथ राव का यज्ञोपवीत तथा सदाशिवराव का विवाह-संस्कार कराना तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक कि मस्तानी बाजीराव के स्थान से न हटा दी जाय। बाजीराव जब युद्ध के मैदान में जाता था तब मस्तानी बालाजी राव और चिमनाजी की नज़रबन्दी में रहती थी। कहा जाता है कि बाजीराव में मांस और मदिरा का दुर्व्यसन मस्तानी के सम्पर्क से ही आया था। शायद पेशवा-परिवार के सदस्यों ने बाजीराव के सामने यह प्रस्ताव रक्खा था कि मस्तानी को मार डाला जाय जिससे कि बाजीराव का वंश परम्परागत रहन-सहन बना रहे और उस पर कोई कलंक न लगे। जब बाजीराव ने सुना कि उसकी प्रेमिका को कारागार में डाल दिया गया है तो वह अत्यन्त शोक के कारण बेबस हो गया। किन्तु जनमत का ध्यान रख कर उसने पूना में जाकर उसे मुक्त करना उचित नहीं समझा। इस बड़े सदमे से उसकी अचानक मृत्यु हो गई। इस समाचार को सुन कर मस्तानी भी पूना के महल में मर गई। यह कहना कठिन है कि उसने आत्महत्या की अथवा वह सदमे से मर गई।

बालाजी बाजीराव, १७४०-१७६१

पेशवा की मालवा के नायब सूबेदारी पद पर नियुक्ति, १७४१

शाहू ने ४ जुलाई १७४० को स्वर्गीय बाजीराव के सबसे बड़े पुत्र बालाजी (नाना साहब) को पेशवा नियुक्त किया। नये पेशवा की अवस्था इस समय १८॥ वर्ष की थी। बाबूजी नायक जोशी नाम का एक प्रसिद्ध महाजन भी इस उच्च पद का इच्छुक था किन्तु शाहू ने उसकी प्रार्थना पर तनिक भी ध्यान न देकर बिना किसी हिचकिचाहट के बालाजी को ही पेशवा नियुक्त कर दिया। बालाजी ने अपने पिता की देख-रेख में युद्धनीति और कूटनीति की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु वह अपने पिता के समान सैन्य संचालन में निपुण नहीं था। वह कोमल तथा मधुर प्रकृति का

था। निज़ाम-उल-मुल्क ने बाजीराव से मालवा देने की प्रतिज्ञा करली थी। अतः बालाजी ने अपनी नियुक्ति के बाद इसे नियम पूर्वक प्राप्त करने के लिये उत्तरी भारत पर हमला करने की योजना बनाई। वह अपने चाचा चिमनाजी के साथ मालवा गया। स्वास्थ्य के बिगड़ जाने से चिमनाजी को तो बीच से ही लौटना पड़ा और २७ दिसम्बर १७४० को पूना में उसकी मृत्यु हो गई। यद्यपि चिमनाजी में बाजीराव की सी योग्यता तो नहीं थी किन्तु वह प्रमुख सैनिक और प्रसिद्ध प्रबन्धक था। उसमें किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा नहीं थी। उसने बड़ी वफ़दारी से अपने भाई की सहायता की और उसकी सफलता में अच्छा सहयोग दिया। उसका पुत्र सदाशिवराव 'भाऊ साहब' नाम से प्रसिद्ध था। उसने भी अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी किन्तु उसका भी दुखमय अन्त हो गया। बालाजी ने अपने स्वर्गीय चाचा के लिये पर्याप्त शोक कर यात्रा आरम्भ की। धौलपुर पहुँच कर उसने मई १७४१ के अन्तिम सप्ताह में जयपुर के राजा जयसिंह से बातचीत की। इस बातचीत के परिणामस्वरूप यह समझौता हुआ (१) पेशवा और जयसिंह घनिष्ठ मित्रता रख कर एक दूसरे की सहायता करेंगे, (२) मराठे मुग़ल सम्राट के पूर्ण स्वामिभक्त रहेंगे, (३) छः महीने के अन्दर मालवा की सूबेदारी पेशवा को दे दी जायगी। अपनी कूटनीतिक सफलता के बाद बालाजी १७ जुलाई को पूना लौट गया। अब जयसिंह ने सम्राट से अनुरोध किया और उसने १४ जुलाई १७४१ को फ़रमान निकाल कर युवराज अहमद को मालवा का सूबेदार और बालाजी राव को उसका नायब नियुक्त कर दिया। अब बालाजी मालवा का सर्वेसर्वा हो गया। नवम्बर १७२८ से यह प्रान्त मराठों के अधिकार में था। १४ जुलाई १७४१ की सनद के कारण उनका यह बलपूर्वक अधिकार न्यायानुकूल हो गया। मालवा प्रदान करने की निम्न शर्तें थीं :— (१) मराठे किसी भी शाही प्रदेश में उपद्रव नहीं करेंगे। (२) पेशवा पाँच सौ सैनिक घुड़सवारों को शाही सेवा के लिये दिल्ली रक्खेगा। (३) आवश्यकता पड़ने पर उसे ४,००० मराठा सैनिक बादशाह की सेवा के लिये देने पड़ेंगे किन्तु इसका व्यय सम्राट देगा। (४) सम्राट ने व्यक्ति विशेष और धार्मिक संस्थाओं को १७४१ से पहले जो जागीर मालवा में दी थी पेशवा उन्हें ज़ब्त नहीं करेगा और वह रैयत पर कर नहीं बढ़ायेगा।

कर्नाटक की विजय, १७४०-४१

बाजीराव की मृत्यु के समय बरार का रघुजी भोंसले कर्नाटक के हमले में फंसा हुआ था। इसे उसने तंजौर के राजा प्रतापसिंह के निमंत्रण पर स्वीकार किया था। यह प्रताप शिवाजी महान के भाई व्यंकोजी का वंशज था और कर्नाटक के नवाब दोस्तअली ने उसकी स्वतंत्रता के अपहरण करने की धमकी दे रखी थी।

रघुजी ने दोस्त अली को हराकर मार डाला और उसके पुत्र सफ़दर अली से सन्धि कर ली। दिसम्बर सन् १७४१ में उसने दोस्त अली के दामाद चन्दा साहब को त्रिचनापल्ली में घेर लिया और उसको बन्दी बनाकर सितारा भेज दिया। त्रिचनापल्ली को मुराराव घोरपडे के अधिकार में सौंप दिया। अब रघुजी ने पाण्डुचेरी का घेरा डालने का विचार किया। पाण्डुचेरी पर पुर्तगालियों का पूरा अधिकार था और वे चन्दा साहब के मित्र थे किन्तु रघुजी इस विचार को छोड़कर पूना लौट आया।

रघुजी भोंसले का उड़ीसा पर अधिकार, १७५१

रघुजी भोंसले के विरोध को शान्त करने के लिए पेशवा ने उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा में पूरी छूट दे दी। अब तक ये प्रान्त अलीवर्दी ख़ां की अधीनता में पूर्ण स्वतन्त्र थे। रघुजी भोंसले ने इन प्रान्तों में अपने चौथ के अधिकार को जारी करने के लिये अपने माल मन्त्री भास्कर पन्त के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना भेजी। अलीवर्दी ने भास्कर पन्त को एक उत्सव में बुलाया और उसके साथ विश्वासघात करके उसे उसके प्रमुख अफ़सरों सहित मार डाला। किन्तु उसे अपनी इस नीचता के लिये बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी। रघुजी ने एक हाथ में आग और दूसरे में तलवार लेकर उसके प्रदेश में प्रवेश किया और उसे उड़ीसा प्रान्त को सौंप देने के लिये बाध्य कर दिया। इसके साथ साथ उसने बंगाल और बिहार में बारह लाख वार्षिक की चौथ भी लगा दी (१७५१) किन्तु मराठों ने उड़ीसा में शासन प्रबन्ध अपने हाथ में न लेकर सारा प्रबन्ध स्थानीय सामन्तों के हाथ में ही सौंप दिया। रघुजी भोंसले के घुड़सवारों का आतंक बंगाल और बिहार के सारे लोगों पर जम गया था।

मराठों और राजपूतों के मतभेद का प्रारम्भ

आमेर के सवाई जयसिंह की, जिसने जयपुर में नई राजधानी का निर्माण कर और विद्या का प्रचार कर बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी, ३ अक्टूबर १७४३ को ५५ वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई। ईश्वरीसिंह उसका बड़ा पुत्र था और माधोसिंह छोटा जो उदयपुर की राजकुमारी से पैदा हुआ था। पिता की मृत्यु के बाद ये दोनों उत्तराधिकार के लिये झगड़ने लगे। उदयपुर के महाराना जगतसिंह ने माधोसिंह के अधिकार का समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप घनघोर युद्ध हुआ जो सात वर्ष तक चलता रहा। महाराना ने जयपुर को कूच कर माधोसिंह के लिये आधे राज्य की मांग की। ईश्वरीसिंह ने रानोजी सिन्धिया तथा मल्हारराव होलकर की सहायता से १७४५ में माधोसिंह को हरा दिया। किन्तु रानोजी की शीघ्र ही मृत्यु हो गई और उसकी मृत्यु के तुरन्त बाद ही उसके पुत्र जयप्पा और मल्हारराव में तीव्र मतभेद

हो गया। मल्हारराव ने माधोसिंह का पक्ष लिया और सिन्धिया ने ईश्वरीसिंह का। १२ मार्च १७४७ को ठवेली के पास राजमहल में एक भयङ्कर युद्ध हुआ जिसमें माधोसिंह हार गया। महाराना ने पेशवा की सहायता प्राप्त करने के लिये अपना एक एजेण्ट पूना भेजा। सिन्धिया और होल्कर के प्रतिद्वन्द्वी होने के कारण परिस्थिति ऐसी भयङ्कर हो गई कि झगड़े को शान्त करने के लिये पेशवा को स्वयं जाना पड़ा। ईश्वरीसिंह काबुल वाले अब्दाली के विरुद्ध युद्ध करके लौटा था। उसकी और माधोसिंह की जो लड़ाई हुई थी उसमें मराठों ने स्वार्थ से काम लिया था जिससे असन्तुष्ट होकर वह पेशवा से क्रुद्ध हो गया और उससे नहीं मिला। किन्तु माधोसिंह जयपुर से ४० मील दक्षिण निवाई में पेशवा से मिला और बातचीत के परिणामस्वरूप यह निश्चय हुआ कि ईश्वरीसिंह अपने चार ज़िले माधोसिंह को दे दे। जून १७४८ में पेशवा के लौट जाने के बाद ईश्वरीसिंह ने ज़िलों का देना अस्वीकार कर दिया अत: मल्हारराव होल्कर को सेना के बल से उसे समझौता मानने के लिये बाध्य करना पड़ा।

१७५० की बरसात में पेशवा ने सिंधिया और होलकर को ईश्वरीसिंह से चौथ वसूल करने के लिये भेजा। कछवाहा सरदार के ख़ज़ाने में बहुत थोड़ा धन था अतः मल्हारराव होल्कर ने सेना के साथ जयपुर को कूच किया। ईश्वरीसिंह को लाख दो लाख देने की प्रतिज्ञा के लिये बाध्य होना पड़ा, किन्तु वह मराठों की माँग से इतना दुखी हो गया था कि वह विष खा कर और कोबरा साँप से अपने को कटवा कर मर गया। उसकी तीन स्त्रियों ने भी विष खा लिया और दूसरी २० स्त्रियाँ भी उनके साथ साथ सती हो गईं। जयपुर नगर में शोक और भय छा गया। मराठों के व्यवहार से माधोसिंह भी बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने ईश्वरीसिंह की मृत्यु का बदला लेने का निश्चय कर लिया। उसने जयप्पा और मल्हारराव को दावत में बुलाया और उनके सामने ज़हरीला भोजन परोसा किन्तु भोजन करने से पहले विष का पता चल गया जिससे सिंधिया और होल्कर मृत्यु से बच गये। दूसरे दिन जयप्पा को अपने साथियों सहित नगर की शोभा देखने के लिये बुलाया गया और वे ज्योंही नगर में घुसे त्योंही नगर के फाटक बन्द कर दिये गये। २० जनवरी १७५१ को दोपहर से लेकर आधी रात तक मराठों का क़त्ले आम होता रहा। इसमें लगभग ३ हज़ार मराठे मारे गये और १ हज़ार से अधिक घायल हुये। राजपूतों ने उनकी सम्पत्ति को लूट लिया। बचे हुए मराठे सैनिकों ने नगर से कुछ मील दूर अपना खेमा डाल लिया। भाग्यवश सिंधिया और होल्कर वज़ीर सफ़्दर जंग की ज़रूरी अपील पर रुहेलखंड तथा फ़र्रुख़ाबाद के पठानों के विरुद्ध उसकी सहायता करने के लिये जयपुर से दोआब चले गये थे किन्तु इस घटना ने मराठे और राजपूतों के बीच विरोध की खाई चौड़ी कर दी।

शाहू के अन्तिम दिन और उसका चरित्र

शाहू के अन्तिम दिन सुखमय नहीं रहे। उसकी रानियाँ परस्पर षड्यन्त्र रचने लगीं। उसका स्वास्थ्य भी गिरने लगा। ताराबाई शक्ति पाने के लिये आन्दोलन करने लगी और रघुजी भोंसले, मुरारराव घोरपड़े और आंग्रे भाई जैसे प्रमुख मराठा सरदार स्वार्थवश हो कर प्रतिद्वन्द्वी हो गये, जिससे शाहू बहुत दुखी हो गया। दरबार में एक गिरोह पेशवा बालाजी राव के कामों का विरोधी था। उसने उसके विरुद्ध शाहू से शिकायत भी की थी। मामला इतना बढ़ गया कि १७४७ में पेशवा को त्याग-पत्र देना पड़ा। किन्तु उसका रहना आवश्यक सिद्ध हो चुका था, अतः १७४७ में उसकी फिर नियुक्ति हो गई। इन कठिनाइयों के साथ साथ शाहू को अपने उत्तराधिकारी की भी चिन्ता थी। शाहू के कोई पुत्र नहीं था और वह कोल्हापुर के शंभाजी को गोद लेना नहीं चाहता था। सतारा की जेल में पड़ी हुई ताराबाई ने एक बच्चा पेश किया जिसे उसने अपने पुत्र शिवाजी का पुत्र बताया और शाहू से उसे गोद लेने की प्रार्थना की। उसका नाम रामराजा था। शाहू की रानी सकवारीबाई ने इसका खुला विरोध किया। कोलापुर के शंभाजी ने सिंहासन पर अधिकार जमाने का प्रयत्न किया किन्तु वह असफल रहा। शाहू का स्वास्थ्य तो गिर ही रहा था, इन परिस्थितियों में वह और भी गिर गया और २५ दिसम्बर १७४९ को अपने ही महल में उसकी मृत्यु हो गई। उस समय उसकी अवस्था ७६ वर्ष ७ महीने की थी। वह एक वसीयत कर गया जिसके अनुसार कोल्हापुर का शंभाजी उत्तराधिकार से वंचित रहा और रामराजा को तरजीह दी गई।

शाहू ही अन्तिम छत्रपति था जिसने सम्पूर्ण अधिकारों का भोग किया। उसके बाद मराठा छत्रपति नाम मात्र के ही राजा रहे। वह सतारा में लगभग बन्दी की भांति रहे और सारी शक्ति पेशवा के हाथ में चली गई। इतिहासकार सरदेसाई ने लिखा है कि "व्यक्तिगत रूप से शाहू न तो चतुर राजनीतिज्ञ था और न योग्य सेनापति ही किन्तु उसे लोक व्यवहार का अच्छा ज्ञान था और सहानुभूतिपूर्ण हृदय प्राप्त था। इन कारणों से वह दूसरों को परख कर उनसे उचित सेवा ले लेता था। उसमें मनुष्य की योग्यता के परखने की अच्छी शक्ति थी और वह बिना किसी रुकावट के उन्नति करने का खुला अवसर देता था। 'वह रैयत के हितों का विशेष ध्यान रखता था। उसने ऊसर भूमि को उपजाऊ बना लिया और वृक्ष लगाने के लिये लोगों को प्रोत्साहित किया। वह गरीबों की विपत्ति को दूर करता था और असह्य टैक्सों को हटा देता था।" (A New History of the Marathas, जिल्द दो, पृष्ठ २६) शाहू के चरित्र का सबसे अच्छा गुण यह था कि वह अपने मंत्रियों को एक बार

नियुक्त करने के बाद उनका पूरा विश्वास करता था और उनका समर्थन करता था। वह उनके काम में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। शासक के रूप में उसकी सफलता का यही रहस्य था।

शाहू अपने को मुग़ल सम्राट के अन्तर्गत एक वफ़ादार राजा मानता था और सतारा तथा दिल्ली के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं चाहता था। वह दयालु था और स्वतन्त्रतापूर्वक जनता के सामाजिक उत्सवों में भाग लेता था। वह मुसलमानी रहन-सहन को अधिक पसन्द करता था। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि यह औरंगज़ेब के शिविर में पला था। वह शिकार और हुक्का का शौकीन था और अपना हरम रखता था। वह हिन्दू मुसलमान में भेद भाव न मान कर सब धर्मों का समान आदर करता था। वह अपनी उदारता के लिये आज तक प्रसिद्ध है।

शाहू की मृत्यु के बाद १४ जनवरी १७५० ई० को रामराजा का छत्रपति के रूप में अभिषेक हुआ। ताराबाई उसे अपने कठिन नियन्त्रण में रखती थी और पेशवा से मिलने नहीं देती थी। जब रामराजा ने ताराबाई की संरक्षकता का विरोध किया तब उसने उसे छलिया घोषित कर दिया। इससे इन दोनों में झगड़ा हो गया। पेशवा ने ताराबाई तथा उसके प्रमुख समर्थक पंत सचिव को पूना बुलाया। उसने ताराबाई का तो आदर किया किन्तु पंत सचिव को जेल में डाल दिया। छत्रपति रामराजा से भी पूना-कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने की प्रार्थना की और "संगोला" समझौता नामक दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करने का अनुरोध किया। इसके अनुसार राज्य के सभी प्रमुख विभाग छत्रपति ने पेशवा के हाथ में सौंप दिये। अब पेशवा मराठा राज्य का सर्वेसर्वा बन गया।

महाराष्ट्र में गृह-युद्ध और पेशवा की अपने प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय

'संगोला' समझौता हो जाने के बाद पेशवा ने हैदराबाद के निज़ाम और मराठों के झगड़ों को तै करने के लिये निज़ाम की राजधानी पर आक्रमण कर दिया। किन्तु पेशवा ने ज्योंही पीठ मोड़ी त्योंही ताराबाई ने पेशवा के राज्य को उखाड़ फेंकने के लिये षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। अब शक्ति बड़ी तेजी के साथ छत्रपति के हाथ से ब्राह्मण पेशवा के हाथ में जा रही थी। अत: मराठा सरदार उससे जल रहे थे और उसे किसी प्रकार का भी सहयोग नहीं दे रहे थे। वे संगोला' समझौता से भी नाराज़ थे क्योंकि इसीके द्वारा पेशवा ने अपने साथियों को राज्य के मुख्य मुख्य पद दे रक्खे थे। ताराबाई ने सतारा दुर्ग का घेरा डाल दिया था अतः सरदार उसी से मिल जाना चाहते थे। ताराबाई ने रामराजा को दावत के बहाने बुला कर जेल में डाल दिया। उसने खाँडेराव दभाडे की विधवा उमा बाई को अपने पक्ष में कर लिया। उमा बाई

ने अपने पति के वृद्ध सेनापति दमाजी गायकवाड़ को गुजरात से दुर्जेय ताराबाई की शक्ति हथियाने में सहायता करने के लिये बुलाया था। दमाजी ने १५,००० सैनिक लेकर सतारा पर हमला किया किन्तु नाना पुरन्दर और पेशवा के कुछ दूसरे साथियों ने उसका विरोध किया। पेशवा ने जब दमाजी गायकवाड़ का सतारा पर आक्रमण सुना तब वह रायचूर के पास से सशस्त्र सेना सहित लौट आया। उसने दमाजी को हराकर आधा गुजरात और हर्जाने के पच्चीस लाख रुपये देने के लिये बाध्य किया। पेशवा इस समझौते से सन्तुष्ट नहीं हुआ और उसने अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर दमाजी पर फिर आक्रमण किया और उसके पुत्र और उमाबाई उभाडे सहित उसे बन्दी बना लिया। पेशवा और गायकवाड़ में पूर्ण विरोध हो गया और दमाजी ने अब से पेशवा को सीधे हाथ से कभी सलाम नहीं किया। उसने यथा-सम्भव पेशवा के अधिकार का विरोध किया। किन्तु बेबस हो कर उसने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे गुजरात जाने की आज्ञा मिल गई। वहाँ जाकर उसने मुग़ल सूबेदार को अहमदाबाद से निकाल बाहर किया और प्रान्त का वास्तविक राजा बन गया।

दमाजी गायकवाड़ की पराजय और उसका आत्मसमर्पण ताराबाई को भयभीत करने में असफल रहा क्योंकि वह अब भी सतारा दुर्ग में पेशवा को चुनौती देती हुई स्थित थी। जब पेशवा ने ताराबाई को सच्ची प्रतिज्ञा के साथ स्वतन्त्रता का विश्वास दिला दिया, तब उसने उससे सन्धि कर ली। ताराबाई ने रामराजा को कपटी घोषित कर दिया था अत: वह जेल में ही रहा और सन् १७७० में वहीं मर गया। उसने अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले छोटे शाहू नामक लड़के को गोद ले लिया था, जिसने जीवन पर्यन्त राज्य किया और सन् १७१० में उसकी मत्यु हो गई। शाहू प्रथम की मत्यु के बाद (१७४९) मराठा राजा नाममात्र के राजा रह गए और पेशवा मराठा राज्य के वास्तविक राजा बन गए। इसके लिये छत्रपति और पेशवा दोनों ही दोषी ठहराये जा सकते हैं। शाहू प्रथम ने अपने अधिकार पेशवा को दे दिये थे और पेशवा भी उस समय राजा और राज्य के हितों का ध्यान रखता था। शाहू के उत्तराधिकारी बहुत ही निकम्मे थे और अपने अधिकार प्राप्त साम्राज्य का उपभोग और अपने मंत्रियों की वास्तविक शक्ति को नहीं समझते थे। ताराबाई राज्य के हितों की अपेक्षा अपने स्वार्थों का विशेष ध्यान रखती थी। अतः बिगड़ती हुई परिस्थिति को संभालने के लिये पेशवा ने अधिकार अपने हाथ में ले लिये। यह परि-वर्तन हानिकारक सिद्ध हुआ क्योंकि इससे महाराष्ट्र के राज वंश की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गई।

निज़ाम के साथ विरोध, १७५१-१७६०

अपने घरेलू प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद बालाजी सन् १७५१ के अन्त में हैदराबाद पर आक्रमण करने मे समर्थ हो गया। जून १७४८ में निज़ाम-उल्-मुल्क की मृत्यु हो गई। बालाजी ने निज़ाम के छोटे लड़के सलावत जंग के विरुद्ध निज़ाम के सबसे बड़े लड़के ग़ाज़ीउद्दीन ख़ाँ का समर्थन किया। सलावत जंग किसी तरह से फ्रांसीसी जनरल के नेतृत्व में पैदल सिपाहियों की एक सुसज्जित टुकड़ी युद्ध के मैदान में ले आया था जो पेशवा को अनेक बार हराकर पूना में १६ मील तक घुस गई थी। किन्तु हैदराबादी सेना ने वेतन न मिलने से विद्रोह कर दिया जिससे उसे वापस बुला लेना पड़ा। इसी बीच १७५२ मे पेशवा के उम्मीदवार गाज़ीउद्दीन ख़ाँ को विष दे दिया गया जिससे लड़ाई समाप्त हो गई। इसके बाद बालाजी ने कर्नाटक पर हमला किया और बहुत सा धन लूटकर पूना वापस आ गया। उसने मैसूर भी लूटा। उसने निज़ाम से मित्रता करके सवानूर के नवाब पर हमला किया और उसे कर देने के लिये बाध्य कर दिया।

१७५८ में निज़ाम और पेशवा में फिर शत्रुता हो गई। उसी साल फ्रांसीसी जनरल बुसी को, जो निज़ाम की नौकरी में था, लैली ने वापस बुला लिया। अत: पेशवा ने निज़ाम पर हमला करने का अच्छा अवसर जानकर हैदराबाद पर आक्रमण कर दिया। उसने एक भी प्रहार किये बिना अहमदनगर पर अधिकार कर लिया और निज़ाम के तोपख़ाने के सेनापति इब्राहीम गार्दी को अपनी सेना में नौकरी करने के लिये फुसला लिया। अब पेशवा ने निज़ाम के राज्य पर चढ़ाई करने के लिये अपने भतीजे चिमनाजी अप्पा के पुत्र सदाशिवराव भाऊ को ४०,००० सैनिकों का नेतृत्व देकर रवाना कर दिया। निज़ाम सलावत जंग ने अपने प्रदेश बचाने का प्रयत्न किया किन्तु वह ३ फरवरी १७६० को पूना से २०० मील पूर्व उदगीर की लड़ाई में हरा दिया गया। इस लड़ाई में इब्राहीम गार्दी के तोपख़ाने ने अच्छा काम किया। निज़ाम की फौज़ में भगदड़ मच गई और वह भाग कर औसा के किले में छिप गई। किन्तु भाऊ नें उसका तुरन्त घेरा डाल दिया। निज़ाम को शर्त के साथ सन्धि करनें के लिये बाध्य होना पड़ा और यह सन्धि तुरन्त हो गई। निज़ाम ने बीजापुर, बिदार और औरंगाबाद के आसपास के प्रदेश जिसकी सालाना मालगुजारी ६० लाख थी, मराठों को सौंप दी और दौलताबाद, असीरगढ़, बीजापुर, अहमदनगर और बुरहानपुर के किले भी विजेता को दे दिये। कुशल युद्ध-विद्या-विशारद के रूप में भाऊ की अक्षय कीर्ति सर्वत्र फैल गई।

उत्तर में मराठों का आक्रमण और अप्रैल १७५२ की सन्धि

जब बालाजी राव महाराष्ट्र के घरेलू मतभेदों को दूर करने में लगा हुआ था

तब उत्तरी भारत में घटनाएँ बड़ी तेज़ी से घट रही थीं। मोहम्मदशाह के शासन काल के अन्तिम दिनों में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण किया। अब्दाली जून १७४७ में नादिरशाह को मारकर अफ़ग़ानिस्तान का राजा बन बैठा था। किन्तु मार्च १७४८ में वह मानूपुर में हार गया। मोहम्मदशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अहमदशाह गद्दी पर बैठा। इसने अवध के सफ़दर जंग को अपना वज़ीर बनाया। फ़रुंखाबाद और रुहेलखंड के पठान पड़ोसी इस नये वज़ीर के बहुत कटु विरोधी थे। अतः इसने पठानों के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। जब ये पठानों के प्रदेश को नष्ट करने में लगा हुआ था तभी अहमदशाद अब्दाली १७४९ के जाड़े में पंजाब में फिर घुस आया और प्रान्त के सूबेदार मुईन-उल-मुल्क को पंजाब के चार उत्तरी ज़िलों की मालगुज़ारी के रूप में दस लाख रुपये देने के लिये बाध्य किया। इसी बीच में पठानों ने वज़ीर को सितम्बर १७५० में दोआब में हरा दिया। पठानों ने वज़ीर के अवध और इलाहाबाद के सूबों को जीत लिया और लखनऊ को लूट कर इलाहाबाद के किले का घेरा डाल दिया। दरबार के गुट्ट ने राजमाता मलका-ए-ज़मानी के तथा उसके मुँह लगे ख़्वाजा जाविद ख़ाँ के नेतृत्व में सफ़दर जंग का कड़ा विरोध किया जिससे विवश होकर वह मराठों की सहायता लेने के लिये बाध्य हुआ। उसने जयप्पा सिन्धिया और मल्हारराव होलकर को २५,००० रु० प्रतिदिन पर रख लिया। उसने भरतपुर के सूरजमल जाट की सहायता प्राप्त कर ली। इन दो मित्रों की सहायता से वज़ीर ने अहमद ख़ाँ बंगश को हराकर उन्हें कुमायूँ की पहाड़ियों में शरण लेने को बाध्य कर दिया। भारत के पठानों ने अहमदशाह अब्दाली से सहायता की अपील की, अतः अब्दाली ने १७५१ के अन्त में पंजाब में पुनः प्रवेश किया। सम्राट ने भयभीत होकर वज़ीर को कुमायूं की पहाड़ियों के हमले से बुला लिया। वज़ीर ने सिन्धिया और होल्कर से एक समझौता किया और अब्दाली को मार भगाने के लिये दिल्ली की ओर कूच कर दिया। यह समझौता २२ अप्रैल, १७५२ को हुआ था और उसकी ये शर्तें थीं :—

(१) पेशवा सम्राट की देशी तथा विदेशी शत्रुओं से रक्षा करेगा।

(२) सम्राट मराठों को उनकी सहायता के बदले ५० लाख रुपया देगा। ३० लाख रुपया अब्दाली के आक्रमण को रोकने के लिये और २० लाख पठान जैसे देशी शत्रुओं को रोकने के लिये।

(३) पंजाब, सिन्ध और दोआब से पेशवा को चौथ वसूल करने का अधिकार दिया जाय।

(४) पेशवा को आगरा और अजमेर का सूबेदार नियुक्त कर दिया जाय।

सम्राट ने इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया और अब्दाली से सन्धि करके उसे पंजाब का प्रदेश दे दिया। सफ़दर जंग इससे अत्यन्त दुःखी हुआ क्योंकि सिन्धिया और होल्कर वायदा किया हुआ ५० लाख रुपया लिये बिना दिल्ली से टलने को तैयार न थे। अतः वज़ीर ने स्वर्गीय निज़ाम-उल-मुल्क के सबसे बड़े लड़के गाज़ीउद्दीन से अनुरोध किया कि वह दक्षिण में जाकर मराठों की सहायता से सूबेदारी का पद सम्हाल ले। गाज़ीउद्दीन ने मराठों को ३० लाख रुपया देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार वज़ीर मराठों की उलझन को सुलझाने में सफल हो गया किन्तु दरबार के विरोधी दल के कारण वह वज़ीर के पद का काम ठीक ठीक न सम्भाल सका, जिसके कारण उसमें और सम्राट में गृहयुद्ध हो गया। सफ़दर जंग की पराजय हुई और उसे मन्त्री पद से (नवम्बर १७५३) हटाकर अवध और इलाहाबाद के सूबों में जाने को बाध्य कर दिया।

मराठों द्वारा कुम्भेर का घेरा और जाटों से वैमनस्य, १७५४

यद्यपि अप्रैल १७५२ की सन्धि को सम्राट ने स्वीकार नहीं किया किन्तु मराठों में आगरा और अजमेर हथियाने की प्रबल इच्छा हो गई और इसके लिये उन्होंने एक झूठा सच्चा बहाना भी ढूँढ़ लिया। आगरे को भरतपुर का योग्य राजा सूरज मल तथा अजमेर को मारवाड़ का राठौर राजा हड़पना चाहता था। मराठों को दूसरा बहाना यह मिल गया कि इमाद-उल-मुल्क ने हाल ही में उनसे भरतपुर पर आक्रमण करने को कहा था। यह अमीर निज़ाम-उल-मुल्क का पोता था और मीर बख़्शी के पद पर नियुक्त किया गया था। सफ़दर जंग के साथ मित्रता रखने के कारण वह सूरजमल से शत्रुता रखता था। पेशवा ने पहले से ही अपने अठारह वर्षीय भाई रघुनाथराव को सन् १७५३ की बरसात में उत्तर का अनुभव करने के लिये भेज दिया था। वह दिसम्बर में जयपुर पहुँचा और मल्हारराव होल्कर को सूरजमल के दृढ़ किले 'कुम्भेर' का घेरा डालने के लिये भेज दिया। जाट राजा ने युद्ध को टालने का बहुत प्रयत्न किया और अपने विश्वासपात्र दूत के द्वारा ४० लाख रुपये देकर सन्धि करनी चाही। रघुनाथराव ने बड़े अनादर के साथ इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया और कुम्भेर का घेरा डालने की आज्ञा दे दी। घेरा ४ माह तक रहा (जनवरी—मई १७५४)। इस बीच में मल्हारराव का लड़का खाँडेराव मारा गया। जाटों ने मराठों का इतनी बहादुरी से सामना किया कि मराठे केवल किले को जीतने में ही असफल नहीं हुये बल्कि उन्हें तीन साल की किश्तों में तीस लाख रुपये देना स्वीकार करना पड़ा। इस पर रघुनाथ-राव ने कुम्भेर का घेरा उठा लिया। जिस समय जाटों से युद्ध हो रहा था उसी समय मल्हारराव ने इमाद-उल-मुल्क के साथ सिकन्दराबाद के पास सम्राट के शिविर पर

आक्रमण किया और दिल्ली तक मीर बख़्शी के साथ गया। वहाँ पर इमाद-उल-मुल्क ने सम्राट अहमदशाह को मार कर आलमगीर द्वितीय को गद्दी पर बिठा दिया (जून १७५४) और स्वयं वज़ीर बन गया। रघुनाथराव और जयप्पा सिन्धिया शीघ्र ही दिल्ली पहुँचे। इमाद-उल-मुल्क ने उनको सहायता के रूप में ८२ लाख रुपये देने का वचन दिया। रघुनाथराव ५ माह तक नये सम्राट और वज़ीर से धन पाने की आशा में दिल्ली के आस-पास व्यर्थ ही चक्कर काटता रहा। इसके पश्चात् वह यमुना पार करके कर वसूल करने के लिये राजस्थान गया, जहाँ मल्हारराव होल्कर उससे जा मिला। इसी समय जयप्पा सिन्धिया मारवाड़ के राजा विजयसिंह से चौथ वसूल करने के लिये उसके विरुद्ध युद्ध कर रहा था। रघुनाथराव भी जयप्पा की सहायता करना चाहता था किन्तु जयप्पा ने मना कर दिया। इस कारण रघुनाथराव ग्वालियर होता हुआ पूना चला गया। रघुनाथराव अपने दो वर्ष (अक्टूबर १७५३—अगस्त १७५५) के हमलों के उद्देश्य में असफल ही नहीं रहा किन्तु उसके कारण उत्तरी भारत में मराठों के हितों को भी बहुत हानि पहुँची।

जयप्पा सिन्धिया का मारवाड़ आगमन (१७५५-१७५६) तथा मराठा राजपूत शत्रुता का दूसरा कारण

मल्हारराव होल्कर ने जयपुर के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप कर उत्तराधिकार युद्ध में भाग लिया जिससे मराठा और राजपूतों में भारी मतभेद हो गया। जयप्पा सिन्धिया ने मारवाड़ को अपनी हलचल का केन्द्र बनाया और उसके हठी स्वभाव के कारण मराठों और राजपूत सरदारों में तीव्र मतभेद हो गया जो सन् १७४१ तक कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करते आ रहे थे। मारवाड़ का राजा अभयसिंह २० जून, १७४६ को मर गया और उसके भाई बखतसिंह ने उसके पुत्र रामसिंह को अधिकार से वंचित कर दिया। रामसिंह ने जयप्पा से अपने पैतृक अधिकार प्राप्त करने के लिये सहायता मांगी। सितम्बर सन् १७५२ में बखतसिंह की मृत्यु हो गई थी इसलिये रामसिंह ने सिन्धिया की सहायता से उसके लड़के विजयसिंह को अजमेर में घेर लिया। विजयसिंह भागकर मेरटा गया जहां पर जयप्पा ने उसका पीछा किया। अन्त में उसने नागौर के किले में शरण ली जहां वह जयप्पा के द्वारा अच्छी तरह घेर लिया गया (अक्टूबर १७५४)। यह घेरा एक साल तक रहा और दोनों दलों को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। यद्यपि इसी बीच में जयप्पा ने मारवाड़ के अजमेर तथा अन्य अनेक स्थानों को फरवरी १७५५ में जीत लिया था किन्तु विजयसिंह दृढ़ता से मुक़ाबला करता रहा और घेरा डालने वालों से संधि की बातचीत भी करता रहा। २५ जुलाई १७५५ को जब कि जयप्पा अपने शिविर में खुले स्थान पर स्नान समाप्त

करके उठा ही था और विजयसिंह के दूत उसके आदमियों से संधि की बातचीत कर रहे थे तभी दो भिखारियों ने जो दाना बीन रहे थे, अपनी कटारियां उसकी पांजर में घुसेड़ कर घातक प्रहार कर दिया, जिससे जयप्पा की मृत्यु हो गई। आक्रमण-कारियों को विजयसिंह का एजेन्ट समझ कर कुछ मराठों ने विजयसिंह के दूत और उनके साथियों के टुकड़े टुकड़े कर डाले जिससे दोनों दलों में अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो गई। जयप्पा के भाई दत्ताजी ने घेरा जारी रक्खा। विजयसिंह ने भी जयपुर के माधोसिंह, रुहेला सरदार और सम्राट से दुख भरी अपील की कि वे उत्तरी भारत से मराठों को बाहर निकालने में उसकी सहायता करें। फिर भी सिन्धिया सरदार क्षतिस्वरूप ५० लाख रुपये तथा अजमेर और जालौर का इलाका देने के लिये विजय-सिंह को बाध्य करने में सफल हो गया। उसे इस बात के लिये भी विवश किया गया कि वह अपने राज्य का आधा भाग अपने चचेरे भाई रामसिंह को दे दे। इस प्रकार दत्ताजी ने जयप्पा का बदला लेने के बाद नागौर का घेरा उठा लिया। अजमेर को अपने अधिकार में रखकर तथा जालौर को रामसिंह को देकर वह पूना चला गया।

रघुनाथराव की पंजाब-विजय, १७५६-१७६०

यह पहले ही बताया जा चुका है कि सम्राट अहमदशाह ने अप्रैल १७५२ में पंजाब और मुलतान के प्रान्त आक्रमणकारी अब्दाली को दे दिये थे और उसने मुइन-उल-मुल्क को इन प्रान्तों का वाइसराय बना दिया था। १७५३ में मुइन-उल-मुल्क की मृत्यु हो गई और उसकी विधवा मुग़लानी बेग़म प्रान्त की न्यायानुकूल सूबेदारनी बन गई। इससे प्रान्त के शासन प्रबन्ध में गड़बड़ी मच गई। इसका लाभ उठाकर वज़ीर इमाद-उल-मुल्क ने फरवरी १७५६ में अदीना बेग़ ख़ाँ को प्रान्त का सूबेदार बना दिया और मुग़लानी बेग़म को दिल्ली लाकर नज़रबन्द कर दिया। अब निडर वज़ीर सम्राट और उसके परिवार को भूखों मारने लगा, अतः मल्का-ए-, ज़मानी तथा दूसरी मुग़ल महिलाओं ने मुग़लानी बेग़म तथा चतुर राजनीतिक रुहेला नज़ीबुद्दौला की सलाह से काबुल के अहमदशाह अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिये बुलाया, जिससे वह वज़ीर इमाद-उल-मुल्क और उसके हिमायती मराठों को दण्ड दे जो उत्तरी भारत में बड़ा भारी अत्याचार कर रहे थे। अब्दाली ने अदीना बेग़ को हरा कर पंजाब पर अधिकार कर लिया और जनवरी १७५७ में दिल्ली की ओर बढ़ गया। उसने दिल्ली निवासियों पर बड़े बड़े अत्याचार किये और फिर आगरा तथा मथुरा पर आक्रमण करने के लिये तथा सूरजमल जाट तथा दूसरे सर-दारों से कर वसूल करने के लिये अपनी सेना भेजी। अफ़गान इन प्रदेशों के निवा-सियों का क़त्लेआम कर अब्दाली के पास आ गये। अब अब्दाली महामारी तथा

भारत की गर्मी से घबरा कर यथासंभव शीघ्र लौट जाने के लिये बाध्य हो गया। अब्दाली ने नजीबुद्दौला को मीर बख़्शी बनाकर सम्राट आलमग़ीर द्वितीय की रक्षा का भार उसे सौंप दिया। उसने इमाद-उल-मुल्क को फिर वज़ीर बना दिया और लगभग बारह करोड़ की लूट का माल लाद कर १ अक्टूबर १७५७ को काबुल के लिये रवाना हो गया। मुग़लानी बेग़म ने ही अब्दाली को बुलाया था, अतः उसने उसे सुरक्षा का विश्वास दे दिया था किन्तु जाती बार अब्दाली ने उसकी जीविका का कुछ भी प्रबन्ध नहीं किया, अतः निरन्तर आर्थिक कठिनाइयाँ सहती हुई वह १७७६ में मर गई।

जिस समय अब्दाली आक्रमण कर रहा था उसी समय अक्टूबर १७७५ में रघुनाथराव ने भी पूना से दिल्ली के लिये प्रस्थान कर दिया। एक ओर तो अब्दाली की सेना मथुरा में अशरण यात्रियों का क़त्ले आम कर रही थी और दूसरी ओर रघुनाथराव और मल्हारराव व्यर्थ के वाद-विवाद में राजपूताने में अपना समय खो रहे थे। वे आगरा तब आये जब अब्दाली यहाँ से चला गया था। इमाद-उल-मुल्क ने यहाँ उनका स्वागत किया। नजीबुद्दौला को डर था कि मराठे उससे बदला लेंगे अतः उसने मल्हारराव होलकर की शरण ले ली। मराठों ने बड़ी तेज़ी से दिल्ली की ओर कूच किया और इसके सब प्रदेशों के साथ दिल्ली पर तथा दोआब में सहारनपुर तक अधिकार कर लिया (अगस्त १७५७)। नजीबुद्दौला अपनी चाल में हार गया और विट्ठल शिवदेव ने उसे बन्दी बना लिया। रघुनाथराव में पूर्ण शक्ति थी कि वह इस रुहेला सरदार को पकड़ कर दक्खिन के किसी सुदूर किले में जीवन-बन्दी बनादे और उसके लिये यह दण्ड उचित था भी क्योंकि वह जीवन भर मराठों का जानी दुश्मन रहा था। किन्तु रघुनाथराव के चंचल स्वभाव के कारण तथा सिन्धिया तथा होलकर में मतभेद होने के कारण वह बच गया। मल्हारराव ने नज़ीब से अच्छी खासी रिश्वत लेकर उसे बन्दी जीवन से मुक्त कर दिया और कहना शुरू कर दिया कि नजीब की सहायता से उत्तरी भारत में मराठों की शक्ति और बढ़ जायेगी। अदूरदर्शी रघुनाथराव ने मल्हार की सलाह से उसे छोड़ दिया। मराठों ने आलमग़ीर द्वितीय को दिल्ली के सिंहासन पर फिर से बिठाकर इमाद-उल-मुल्क को वज़ीर और अहमदशाह बंगश को मीर बख़्शी बना दिया। इसके बाद रघुनाथराव ने मार्ग में कुंजपुरा और सरहिन्द को जीतकर लाहौर के लिये प्रस्थान कर दिया। अब्दाली १७५७ में पंजाब से जाते समय प्रांत का कार्य-भार अपने पुत्र तैमूर तथा जनरल जहान ख़ाँ पर छोड़ गया था किन्तु रघुनाथराव ने अदीना बेग़ के सहयोग से उन्हें खदेड़ दिया। इसके बाद रघुनाथराव सरहिन्द में हारे हुए कमान्डर अबदुस समद ख़ाँ तथा अबदुर रहमान के नेतृत्व में एक बड़ी सेना रखकर यह आदेश दे गया कि वे अब्दाली से काबुल तथा कंधार जीतने की पूरी पूरी

कोशिश करें। रघुनाथराव लाहौर में तुकोजी होल्कर तथा साबाजी सिन्धिया के नेतृत्व में एक सुदृढ़ दुर्ग-रक्षक सेना छोड़कर मई १७५८ में पूना चला गया। रघुनाथ राव के चले जाने के बाद तुकोजी और साबाजी ने सीमाप्रान्त के लिये प्रस्थान किया और कटक पर अधिकार कर सिन्ध तक कर-वसूली का प्रबन्ध किया। अदीना बेग को पंजाब की ७५ लाख की वार्षिक कर-वसूली का अधिकारी बना दिया। किन्तु १६ सितम्बर १७५८ में उसकी मृत्यु हो गई, जिससे पंजाब में मराठों का शासन-प्रबन्ध अस्त व्यस्त हो गया।

दत्ताजी सिन्धिया द्वारा शकरताल में नजीब का घेरा डालना

रघुनाथराव ने पंजाब का शासन-प्रबन्ध अस्थायी रूप से कर दिया था और वह दत्ताजी सिन्धिया को इस सीमा प्रान्त की रक्षा का स्थायी प्रबन्ध करने के लिये छोड़ गया था। रघुनाथराव के शासन-प्रबन्ध में मुख्य दोष यह था कि उसने प्रान्त का भार दो मुसलमान सरदारों के हाथ में सौंप दिया था। ये अब्दुस समद ख़ाँ और अबदुर रहमान थे जो कि वफ़ादारी के साथ मराठों के हितों की सुरक्षा तब तक नहीं कर सकते थे जब तक कि उन्हें उच्च कोटि के मराठे सरदारों का सहयोग प्राप्त न हो। दत्ताजी मई १७५८ में पूना से चला और जून में रघुनाथराव से उज्जैन में मिला और दिसम्बर में दिल्ली आ गया। इसके बाद उसने लाहौर जाकर साबाजी सिन्धिया को सिन्ध तक पंजाब का सूबेदार बना दिया (फरवरी १७५६)। उसने जून में दोआब लौटकर उस प्रदेश के प्रबन्ध के लिये नजीबुद्दौला से सलाह की। नज़ीब क्रुद्ध हो गया और यह कहते हुए कि 'उसका जीवन ख़तरे में है' मराठा खेमे से चला गया। किन्तु वह मुज़फ्फ़रनगर से १६ मील पूर्व गंगा के पश्चिमी किनारे पर बसे हुए शकरताल में रहकर अपने दूतों द्वारा दत्ताजी से समझौते की बातचीत करता रहा। जब बरसात के कारण देश में बाढ़ आ गई तब उसने दत्ताजी के फंसाने के लिये जाल बिछाया। उसने अपने रुहेला सम्बन्धियों, हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ इत्यादि पठानों, अवध के शुजाउद्दौला और काबुल के अहमदशाह अब्दाली से तुरन्त सहायता देने की ज़ोरदार अपील की। दत्ताजी ने इसकी रोक थाम के लिये १५ सितम्बर को नज़ीब के खेमे पर हमला कर दिया। किन्तु यह हमला असफल रहा और लड़ाई जारी रही। दत्ताजी ने नज़ीब की रसद को तथा उसकी फौज़ में रुहेलों के आगमन को रोकने के लिये गोविन्द पन्त बुन्देले को गंगा पार भेजा (२१ अक्टूबर) किन्तु हाफ़िज़ रहमत और दुन्दे ख़ाँ ने गोविन्द पन्त को हरा दिया। इसी बीच में अक्टूबर के अन्त में शुजाउद्दौला की सेना अनूप गिरि गुंसाई के नेतृत्व में पुल से नदी पार कर शकरताल में नज़ीब की सेना से मिल गई। अतः दत्ताजी ने बड़ी तत्परता से नज़ीब के शिविर का घेरा डाल दिया।

जिस समय दत्ताजी शकरताल का घेरा डाले पड़ा था तभी अहमदशाह अब्दाली ने नज़ीब की अपील पर पंजाब पर अधिकार करने के लिये जहान ख़ाँ के नेतृत्व में सेना भेज दी। किन्तु साबाजी ने जहान ख़ाँ को हरा कर घायल कर दिया जिससे उसे हार कर पेशावर लौटना पड़ा। इससे अब्दाली ने क्रुद्ध होकर पंजाब पर आक्रमण कर दिया और साबाजी को हरा दिया। मराठों की छोटी सी सेना को बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी और साबाजी बहुत घबराकर ८ नवम्बर को शकरताल भाग गया। अब पंजाब मराठों के हाथ से निकल गया।

अब्दाली का भारत पर आक्रमण और दत्ताजी की पराजय तथा मृत्यु

प्रतिकूल घटनाचक्रों से भी न घबराकर दत्ताजी ने बड़े साहस के साथ शकरताल का घेरा जारी रक्खा। वज़ीर इमाद-उल-मुल्क दिल्ली में बहुत व्याकुल था और इस बात से डर कर कि कहीं सम्राट अब्दाली से न मिल जाय, उसने २६ नवम्बर १७५६ को उसे मार डाला और कुछ दिन बाद वह सूरजमल जाट की शरण में भरतपुर चला गया। अब अब्दाली सरहिन्द पहुंच गया था। जब उसने आलमग़ीर द्वितीय की हत्या का समाचार सुना तो क्रुद्ध होकर उसने वज़ीर तथा उसके मित्र मराठों को दंड देने के लिये दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया। अब दत्ताजी को शकरताल का घेरा उठाने के लिये बाध्य होकर (११ दिसम्बर १७५६) अब्दाली का मुक़ाबला करने के लिये दिल्ली की ओर जाना पड़ा। उसने १८ दिसम्बर को यमुना पार कर बड़ी निर्भीकता के साथ कुंजपुरा पर अधिकार कर लिया। यहाँ उसने सुना कि तैमूर के नेतृत्व में ४०,००० अफ़ग़ान अम्बाला में पहले से ही जमा हो गये हैं! अब दत्ताजी ने बड़े भारी तोपख़ाने और सामग्री के साथ सेना की एक टुकड़ी गोविन्द पन्त बुन्देले के नेतृत्व में दिल्ली भेज दी और बचे हुए २५,००० सैनिकों को अपने साथ लेकर शत्रु का मुकाबला करने के लिये चल दिया। किन्तु अब्दाली खुली मुठभेड़ करना नहीं चाहता था, अतः उसने यमुना पार करके दिल्ली से दस मील उत्तर लूनी के पास बरारीघाट में अपना डेरा डाल दिया। यहाँ भयंकर युद्ध हुआ (१० जनवरी १७६०) जिसमें दत्ताजी गोली से मारा गया और जनकोजी सिन्धिया घायल हो गया। दत्ताजी की मृत्यु से उसकी सेना में आतंक छा गया और वह भाग खड़ी हुई। अब्दाली ने दिल्ली पर तुरन्त अधिकार कर याकूब ख़ाँ को इसका सूबेदार नियुक्त कर दिया। उसने राजपूत सरदार सूरजमल जाट तथा शुजाउद्दौला के पास कर-वसूली के लिये अपने दूत भेजे किन्तु जाट राजा के सिवाय सभी ने गोलमोल जवाब दिये। जाट राजा ने अपना निर्भीक संदेश इस प्रकार भेजा "तुम पहले मराठों को दिल्ली से निकाल दो और हमें यह विश्वास दिला दो कि वहाँ के अधिकारी तुम ही हो, इसके

बाद हम बड़ी खुशी से तुम्हारी अधीनता स्वीकार कर लेंगे।" अब्दाली तो आगे बढ़ना नहीं चाहता था किन्तु नजीबुद्दौला ने उससे कुछ दिन और ठहर कर मराठों के कुचल देने की प्रार्थना की जिससे कि वे लौटकर उससे तथा दूसरे मुसलमानों से बदला न ले सकें।

भाऊ साहब का दिल्ली-प्रस्थान

पेशवा को दत्ताजी की मृत्यु का समाचार १३ फरवरी १७६० को अहमदनगर में मिला। उसने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ को दिल्ली भेजने का निश्चय कर लिया जिससे वह दत्ताजी की हत्या का बदला लेकर अब्दाली को देश के बाहर खदेड़ दे। भाऊ योग्य और अनुभवी था अत: उसे परिस्थिति के अनुसार अच्छी से अच्छी सामग्री और सेना देकर भेजा गया। इब्राहीम ख़ाँ गार्दी को अच्छे सा अच्छा तोपख़ाना देकर भाऊ के साथ भेजा गया। वह लगभग २ लाख आदमी लेकर १४ मार्च को पतदूर से रवाना हुआ। इनमें से लगभग ३३,००० सेवक, कुर्क दुकानदार और हाली मवाली थे। ये सब ४ जून को ग्वालियर पहुँच गये। उसकी योजना थी कि वह यमुना पार कर अब्दाली के मित्र रुहेलों पर आक्रमण करे। अत: उसने इस काम के लिये गोविन्द पन्त बुन्देले को बहुत सी नावें तैयार रखने की आज्ञा दी। किन्तु यह योजना असफल रही क्योंकि समय से पहले ही वर्षा एवं बाढ़ आ जाने से मराठे बहुत दिन तक चम्बल पर ही पड़े रहे और समय पर यमुना के आस पास न पहुँच सके। आगरे के पास मल्हारराव होल्कर और जनकोजी भी भाऊ से आ मिले। वह १६ जुलाई को मथुरा पहुँच कर सूरजमल जाट से मिला। सूरजमल ने अपनी १०,००० सेना के साथ उसका साथ देने को कहा और स्त्री तथा अयोद्धाओं को शरण देने का विश्वास दिला दिया। किन्तु शर्त यह लगादी की भाऊ न तो उससे चौथ मांगेगा और न उसकी प्रजा को तथा फसल को किसी प्रकार से हानि पहुँचायेगा। भाऊ ने यह शर्त मान ली। यमुना में बाढ़ आई हुई थी, अत: यह निश्चय किया गया कि दिल्ली जाकर राजधानी को अब्दाली के दूतों से मुक्त कराया जाय। यह काम आसानी से हो गया और भाऊ ने २ अगस्त १७६० को दिल्ली में प्रवेश किया।

चम्बल पार करने से पूर्व भाऊ ने राजस्थान के सरदारों, अवध के शुजाउद्दौला तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियों को पत्र लिखे थे कि वे इस लड़ाई को देश की लड़ाई समझ कर विदेशी अब्दाली को सिन्ध के पार खदेड़ने में उसकी सहायता करें। किन्तु मराठों की यह कूटनीति असफल रही। राजपूत सिन्धिया और होल्कर के अत्याचारों से मराठों के शत्रु हो गये थे अत: वे तटस्थ रहे। शुजाउद्दौला दोआब के अपने पड़ौसी रुहेलों को मराठों से अधिक शत्रु मानता था, अत: वह भाऊ का साथ

देने को राजी हो गया। जब यह बात अब्दाली को मालूम हुई तो उसने शुजाउद्दौला को अपने पक्ष में करने के लिये नजीबुद्दौला को लखनऊ भेजा। नजीब ने महदी घाट स्थान पर नवाब-वज़ीर से मिलकर स्वार्थ तथा धर्म के नाम पर अब्दाली का साथ देने के लिये राजी कर लिया। भाऊ की तरह उसने भी उसे वज़ीर का पद दे देने का विश्वास दिला दिया। शुजाउद्दौला नजीब के आग्रह से अनूपशहर के खेमे में शाह से मिला और उसने उसका हार्दिक स्वागत किया (१८ जुलाई)। मराठों पर एक तो अब्दाली और शुजाउद्दौला के मिल जाने की कड़ी चोट पड़ी और दूसरी सूरजमल जाट के रूठ कर दिल्ली से भरतपुर आ जाने की। भाऊ और जाट राजा में सहसा मतभेद हो जाने के अनेक कारण बताये जाते हैं। कहा जाता है कि सूरजमल ने भाऊ को सलाह दी थी कि वह सामग्री, तोपखाना और स्त्रियों को भरतपुर में छोड़ कर तथा मराठों की पुरानी छापामार नीति को अपना कर अब्दाली की रसद रोक दे किन्तु भाऊ ने इस सलाह को ठुकरा कर खुले मैदान में डटकर लड़ाई लड़ना ही उचित समझा। सूरजमल भाऊ की इस बात से भी क्रुद्ध हुआ कि उसने अपनी सेना का वेतन चुकाने के लिये दिल्ली किले के दीवाने आम की चांदी की छत की चांदी निकल ली थी। इतिहासकार सरदेसाई का कहना है कि सूरजमल अपने प्रदेश के बाहर मराठों का साथ देने के लिए राजी नहीं हुआ था। उसने मांग की थी कि दिल्ली उसके अधिकार में सौंप दी जाय। किन्तु ऐसा नहीं हो सका, अत: वह भरतपुर लौट गया। उन्होंने लिखा है "इतिहास का सूक्ष्म निरीक्षण करने से अन्य कारण असत्य प्रतीत होते हैं।" किन्तु प्रश्न उठ सकता है कि सूरजमल अपनी सेना सहित भाऊ के साथ दिल्ली क्यों गया था जब कि वह अपने राज्य के बाहर मराठों का साथ देना ही नहीं चाहता था। विरोध भाव का कारण अधिक गम्भीर मालूम पड़ता है। हो सकता है कि सम्राट और अब्दाली के विरुद्ध अपनाई गई नीति विरोध का कारण हो।

अगस्त से अक्टूबर तक भाऊ अपने १ लाख से अधिक सैनिकों के साथ दिल्ली में डेरा डाल कर दिल्ली तथा इसके आस पास की भोजन सामग्री को समाप्त करता रहा। थोड़े ही समय में इसके पास भोजन, धन और चारे की कमी पड़ गई। पेशवा ने पूना से धन न भेजा। अब मराठा सेना अधीर होने लगी। झगड़े को शांति पूर्वक निपटाने के प्रयत्न अब तक जारी रहे। अब्दाली भी धन और रसद के संकट से बहुत तंग आ गया था, अत: वह भी सम्मानपूर्ण सन्धि कर लेना चाहता था। किन्तु सन्धि के सब प्रयत्न विफल रहे क्योंकि नजीबुद्दौला तब तक सन्धि के लिये तैयार नहीं था जब तक कि मराठे चम्बल के पार न खदेड़ दिये जायं। उसने झूठी अफवाह फैलादी कि भाऊ ने विश्वासराव को सम्राट बना कर उसके नाम के

सिक्के चला दिये हैं और वह सारे देश पर मराठा साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। शायद अब्दाली और दूसरे मुसलमान इस प्रचार से बहक कर मराठों से जोरदार लड़ाई लड़ने के लिये तैयार हो गये।

पानीपत में प्रतिद्वन्द्वी सेनाएँ

७ अक्टूबर १७६० को भाऊ कुंजपुरा पर अधिकार करने के लिये दिल्ली से चला जिससे कि वह अब्दाली को उत्तर में खदेड़ कर दिल्ली से उसका दबाव हटा दे। इसके लिये उसने गोविन्द पन्त बुन्देले को आज्ञा दी कि वह दोआब में जाकर रुहेलखण्ड को उजाड़ दे। उसने १७ तारीख को कुंजपुरा पर अधिकार कर किलेदार नज़ाबत ख़ाँ को कैद कर लिया। नज़ाबत ख़ाँ की तो घावों के कारण मृत्यु हो गई किन्तु उसके प्रमुख साथियों को बुन्देले ने मौत के घाट उतार दिया। कुंजपुरा में मिली हुई रसद और धन से मराठों का कुछ दिन के लिये सकट टल गया। कुंजपुरा के पतन के समाचार से अब्दाली को बड़ा धक्का लगा, अतः उसने तुरन्त आक्रमण करने का निश्चय कर लिया और २५ अक्टूबर को दिल्ली से २० मील उत्तर बागपत में यमुना को पार कर लिया। यमुना के सीधे किनारे किनारे चलकर वह सोनीपत आ गया। जब भाऊ ने अब्दाली के तेज़ धावे का समाचार सुना तो वह उत्तर से मुड़कर पानीपत में आ गया और अब्दाली की सेना से पाँच मील की दूरी पर रुक गया। अक्टूबर के लगभग अन्त में दोनों सेनाओं ने एक दूसरे को देखकर छुट-पुट हमले आरंभ कर दिये। भाऊ ने देखा कि शत्रु युद्ध के लिये तैयार है, अतः उसने अपने अचानक हमले का विचार छोड़ दिया और इब्राहीम गार्दी की सलाह से पानीपत से दक्षिण के मैदान में खाइयों में शरण लेकर बचाव करने में लग गया। उसने अब्दाली पर तब तक हमला करने का विचार नहीं किया जब तक कि वह भूखों मरकर दुर्बल न हो जाय। उसके साथ स्त्रियाँ, दुकानदार और नौकर चाकर बहुत अधिक थे, अतः शत्रु की रक्षा-पंक्ति पर निर्भीक आक्रमण करके उसके दलों को काट कर निकल जाना असंभव था। मराठों का शिविर पूव से पश्चिम तक ६ मील लम्बा और उत्तर से दक्षिण तक २ मील चौड़ा था। इसके चारों ओर लगभग २५ गज चौड़ी और ६ गज गहरी एक बड़ी खाई थी जिसकी सुरक्षा के लिये एक मिट्टी की दीवार पर बड़ी बड़ी तोपें चढ़ादी गई थीं। अब्दाली का शिविर मराठों के शिविर से तीन मील दक्षिण में था और उसके पीछे सोनीपत गांव था। यह भी खाई तथा कटे हुए पेड़ों की डालियों से सुरक्षित था। पानीपत में आने के बाद भाऊ में कई दिन तक युद्ध के लिये बड़ा उत्साह था। उसने गोविन्द पन्त बुन्देले को आज्ञा दी कि वह रुहेलखण्ड पर हमला कर वहाँ से धन और रसद भेजे। किन्तु परिस्थिति अब बिगड़ गई थी क्योंकि अब

अब्दाली अपना शिविर यमुना के बिलकुल किनारे ले गया था। इससे उसे पर्याप्त जल मिल सकता था, नज़ीब के प्रदेश में यातायात हो सकता था और नज़ीब उसे रसद और चारा लगातार भेज सकता था। इसके अतिरिक्त अब्दाली ने मराठा सेना के चारों ओर गारद बिठा कर दोआब, दिल्ली और राजपूताने से मराठों की रसद और यातायत को रोक दिया था। मराठों के लिये उत्तर का मार्ग खुला था किन्तु अब्दाली ने कुंजपुरा पर शीघ्र अधिकार कर लिया जिससे मराठों का पंजाब में भी यातायत रुक गया। इस परिस्थिति के कारण मराठा शिविर पर बड़ा भारी संकट छा गया। भाऊ को कहीं से भी रसद नहीं मिल सकी और दो महीने तक पानीपत से दक्खिन में कोई समाचार भी नहीं पहुँच सका।

बड़ी बड़ी कठिनाइयों के आने पर भी भाउ ने साहस नहीं छोड़ा और १ नवम्बर १७६० से १४ जनवरी १७६१ तक उसने शत्रु से कई मुठभेड़ें कीं किन्तु इनका आख़िरी परिणाम कुछ भी नहीं निकला। १९ नवम्बर को इब्राहीम गार्दी के भाई फ़तह ख़ाँ ने अब्दाली के शिविर पर रात में अचानक हमला किया किन्तु वह खदेड़ दिया गया। २२ नवम्बर को जनकोजी सिन्धिया ने अब्दाली के वज़ीर पर हमला कर उसके शिविर तक पीछा किया किन्तु पेशवा की सेना की सहायता न मिलने के कारण उसे लौटना पड़ा। ७ दिसम्बर को नज़ीब ने मराठा सेना पर हमला किया जिसमें ३०० से अधिक रुहेले मारे गये। १७ दिसम्बर को रुहेलों ने गोविन्द पन्त बुन्देले पर हमला कर उसे मार दिया जो गाज़ियाबाद से १० मील दक्खिन जलालाबाद में रसद इकट्ठी कर रहा था। इस समय मराठा-सेना भूखों मरने लगी थी। भाऊ ने अपने शिविर में टकसाल खोल कर सोने चांदी के गहनों को सिक्कों में ढालना शुरू कर दिया जिससे कि वह तेज़ अनाज और चावल खरीद सके। किन्तु इस धन से भी दो हफ़्ते तक ही काम चल सका। कठिन संकट में पड़ने पर भाऊ युद्ध का बड़ा हर्ज़ाना देने के लिये तैयार हो गया और उसने सन्धि की बातचीत का अन्तिम प्रयत्न किया किन्तु नज़ीब की सलाह से यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया।

पानीपत की लड़ाई, १४ जनवरी १७६१

अब भाऊ शत्रु से यथाशीघ्र अन्तिम युद्ध करने के लिये उतावला था किन्तु अब्दाली मराठों को शीघ्र उकसाना नहीं चाहता था और उसने अपने उतावले मित्रों से साफ साफ कह दिया था कि वे सैन्य-संचालन का सारा उत्तरदायित्व उस पर छोड़ दें और उसे सन्धि सम्बन्धी झगड़ों में न डालें। मराठों के पास भोजन नहीं रहा था, अतः उनके सरदारों ने भाऊ से तुरन्त युद्ध छेड़ देने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा "हमने दो दिन से कुछ भी नहीं खाया है। भूखों मरने के बजाय तो शत्रु पर

ज़ोरदार हमला करके युद्ध में बहादुरी से मर जाना कहीं अच्छा है। फिर भाग्य में जो लिखा है वही होगा।" भाऊ ने अब अन्तिम युद्ध का निश्चय कर लिया। इब्राहीम गार्दी की सलाह से सारी सेना को वर्गाकार रूप में धीरे धीरे चलाने का विचार किया गया। सेना की सुरक्षा के लिये चारों ओर बड़ा भारी तोपख़ाना रक्खा गया। स्त्रियों तथा नौकर चाकरों को बीच में रक्खा गया और समूह के समूह का घेरा बना कर इब्राहीम की तोपों की सुरक्षा में रक्खा गया। इस प्रकार की व्यूह रचना के बाद मराठा सेना १४ जनवरी को प्रात:काल हमले के लिये चल पड़ी। भाऊ ने युद्ध के बचाने का एक अन्तिम प्रयत्न और किया। उसने शुजाउद्दौला के मराठा अफ़सर काशीराज को लिखा "प्याला लबालब भर गया है। इसमें अब एक बूंद भी नहीं समा सकती है। कृपया मुझे युद्ध के समझौते के विषय में अन्तिम उत्तर दो।" चौदहवीं तारीख के प्रात:काल यह संदेश शाह को दिया गया जिस पर विचार करने के लिये उसने एक दिन का समय चाहा। एक दिन का समय अब असंभव था क्योंकि मराठा-सेना मैदान में पहुँच चुकी थी।

मराठा सेना में ४५,००० वीर योद्धा थे और उनके बीच में नौकर चाकर भी बहुत अधिक थे और ये सब धीरे धीरे आगे बढ़ रहे थे। किन्तु वे अपनी पूर्व योजना के अनुसार सामूहिक रूप में न चल सके। अब भाऊ ने अपनी सेना को लम्बी पंक्ति में खड़ा किया। वह विश्वासराव के साथ केन्द्र में युद्धोपयोगी उत्तम हाथियों पर सवार हुआ। इन दोनों हाथियों पर भगवा झंडा लहरा रहा था। उसकी बांई ओर इब्राहीम गार्दी अपने नियमित सैनिकों के साथ स्थित हुआ और दामाजी गायकवाड़ उसकी बिलकुल दाहिनी ओर था। भाऊ की सीधी ओर मल्हारराव होल्कर और जनकोजी सिन्धिया थे। भाऊ ने अपनी थोड़ी सी सेना भी सुरक्षित (कोतल) नहीं रक्खी। शत्रु की सेना में ६०,००० योद्धा थे और मराठे शत्रु की सेना-पंक्ति पर ज़ोरदार हमला करके उस पर टूट पड़े। इन ६०,००० में से आधे विदेशी थे जिनमें से लगभग सभी घुड़सवार थे और पैदल तो बहुत ही कम थे। शत्रु सेना के केन्द्र में अब्दाली का वज़ीर शाह वली ख़ाँ था और उसके अधिकार में चुनी हुई दुर्रानी घुड़सवार सेना थी। शाह पसन्द ख़ाँ और नजीबुद्दौला बांई ओर रक्खे गये थे जो जनकोजी सिन्धिया और मल्हारराव होल्कर के बिलकुल सामने थे। शुजाउद्दौला अब्दाली के वज़ीर और नज़ीबुद्दौला के बीच में था। दांई ओर बरख़ुरदार ख़ाँ और अमीर बेग़ थे जिनके अधिकार में रुहेला और मुग़ल सेना की टुकड़ी थी। अब्दाली चुनी हुई सुरक्षित सेना के पास केन्द्र के पीछे खड़ा हुआ जिससे कि वह युद्ध क्षेत्र के विभिन्न स्थानों की प्रगति को अपनी आँख से देख सके।

मराठों ने प्रातःकाल ९ बजे शत्रु पर हमला कर दिया और इब्राहीम गार्दी

का तोपख़ाना और बड़ी बड़ी बन्दूकें गोले बरसाने लगीं। गार्दी का पहला हमला हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ, दुन्दे ख़ाँ और अहमद ख़ाँ बंगश पर हुआ। रुहेले बहादुरी से लड़े किन्तु इब्राहीम की तोपों ने उनमें से ८-६ हज़ार को मार कर घायल कर पीछे खदेड़ दिया। यह गार्दी-रुहेला द्वन्द्व तीन घंटे तक रहा। इसके बाद अब्दाली ने नई फ़ौज़ भेज दी जिसके साथ गार्दी की फ़ौज़ की आमने सामने की लड़ाई होने लगी और गार्दी के लगभग सब सैनिक काम आ गये। जब यह लड़ाई चल रही थी तभी भाऊ ने अपनी तमाम घुड़सवार सेना के साथ केन्द्र में अब्दाली के वज़ीर की सेना पर हमला कर दिया। अफ़ग़ानों के मुक़ाबला करने पर भी मराठों ने उनकी तीन रक्षा-पंक्तियों को तोड़ दिया, इसे देखकर शाहवली ख़ाँ घबरा गया। उसने घोड़े से उतर कर अपने आदमियों को इस प्रकार ढ़ाढ़स बंधाना शुरु किया "मेरे मित्रो, हमारा देश बहुत दूर है। तुम कहाँ भागे जा रहे हो ?" परन्तु किसी ने भी उसकी बात नहीं सुनी। अब मालूम हुआ कि अब्दाली के विरुद्ध लड़ाई हो रही है जिसकी दांई पंक्ति हट गई है, केन्द्र भंग हो गया है और केवल बांया भाग ही अपनी जगह पर डटा हुआ है। अन्त में नजीबुद्दौला के कड़े मुकाबिले ने परिस्थिति को संभाल लिया। जनकोजी सिन्धिया और मल्हारराव होलकर से जो रुहेला सेना भिड़ रही थी वह मराठा सेना से बहुत बड़ी थी। नज़ीब और मलहारराव में पहले से ही गुप्त समझौता (साठ गांठ) हो गई थी, अत: मल्हार जनकोजी को उसके भाग्य के भरोसे छोड़कर युद्ध से भाग गया। अब्दाली ने भगोड़ों को मैदान में लाने के लिये सेना-पुलिस के चारों ओर नई सुरक्षित सेना को भेज दिया। उसने ४,००० आदमी दाईं पंक्ति की सहायता के लिये और १०,००० वज़ीर शाहवली की सहायता के लिये भेज दिये और तलवार से हमला करने की आज्ञा दे दी। इसी समय उसने शाह पसन्द ख़ाँ तथा नजीबुद्दौला को आज्ञा दी कि वे मराठों के केन्द्र को बगल में लेलें। शत्रु के ऊँटों पर कड़ाबीन बन्दूकें रक्खी हुई थीं, उन्होंने सरपट दौड़कर पास की मराठा सेना पंक्ति पर गोलियां बरसाना शुरु कर दिया। नई ताज़ी अफ़ग़ानी सेना ने सारी मराठा सेना पर यह जवाबी हमला एक साथ उस समय किया जब मराठे थके मांदे और भूखे थे। अतः वे शिथिल हो गये। फिर भी उन्होंने इंच इंच पर युद्ध किया और पूरे दो घंटे ऐसा घातक युद्ध हुआ कि हथियारों की खड़खड़ाहट और विरोधी नारों की आवाज़ के सिवाय और कुछ भी सुनाई नहीं दिया। दिन के सवा दो बजे विश्वास राव गोली से मारा गया। अब भाऊ शत्रु पर बुरी तरह टूट पड़ा और एक घंटा लड़ने के बाद वह भी घबराहट में मारा गया। अब मराठों का मुकाबला यकायक खत्म हो गया। इस सम्बन्ध में काशीराज लिखता है "अचानक ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो किसी जादू से हारी मराठा सेना युद्ध-क्षेत्र में मुर्दों के ढेर

छोड़कर और पीठ दिखा कर सिर पर पैर रखकर भाग गई हो।" अफ़ग़ानों ने उनके खेमे तक उनका पीछा किया और उन्हें शरण नहीं दी। उन्हें जितने भी भगोड़े मिल सके उन सबको कत्ल कर दिया। यह कत्ल उस रात को तथा दूसरे दिन भी होता रहा। सारे मराठा शिविर को लूटकर स्त्री तथा बच्चों को दास बना लिया गया।

दूसरे दिन १५ जनवरी को सूर्योदय होने पर संसार को मराठों के बड़े भारी विनाश का पता लगा। "सारा युद्ध क्षेत्र उस खेत के समान मालूम पड़ता था जिसमें कि लाल पोस्त के फूल खिल रहे हों। जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक लम्बे लम्बे शरीरों के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता था। ऐसा मालूम पड़ता था मानो या तो वे सोये हुए हैं या कलापूर्ण ढंग से सजा कर रखे गये हैं।" (सियन्)। मुर्दों के ३२ ढेर गिने गये थे जिनमें से प्रत्येक ढेर में ५०० से १,००० लाशें थीं। मुर्दों की संख्या २८,००० तक पहुँच गई थी। लगभग इतनी ही लाशें खाई तथा खेमे के चारों ओर पड़ी हुई मिली थीं। लगभग ६,००० मराठे पानीपत में जाकर छिप गये थे किन्तु वे भी बुरी तरह से मार दिये गये। काशीराज स्वयं मराठा था और उसने युद्ध का सारा हाल अपनी आँखों से देखा था। वह धर्मान्धता के इस महाकोप का इस प्रकार वर्णन करता है "हर एक दुर्रानी सिपाही सौ या दो सौ कैदियों को पकड़ लाता था और यह कह कर काट डालता था 'जब मैं अपने देश से चला था मेरे माँ, बाप, बहन तथा स्त्री ने मुझ से कहा था कि तुम हमारी खातिर जितने भी काफ़िरों को काट सको उतनों को काट डालना। हमने इस धर्म-युद्ध में विजय पाई है, अतः हमारा धर्म यही है कि हम काफ़िरों को काटें जिससे हमारे सम्बन्धियों को पुण्य (सवाब) मिल जाय।" इस प्रकार हज़ारों सिपाही और क़ैदी काट डाले गये। शाह और उसके सरदारों के खेमों को छोड़ कर हर तम्बू के बाहर बहुत से सिरों का ढेर लगा हुआ था। कहा जा सकता है कि यह मराठों का प्रलय-दिन था।" युद्ध क्षेत्र में पड़े हुए व्यक्तियों में पेशवा का सबसे बड़ा बेटा विश्वासराव, भाऊ, जसवन्तराव पवार, तुकोजी सिन्धिया इत्यादि प्रमुख थे। जनकोजी सिन्धिया को बुरी तरह घायल कर मार दिया गया। इब्राहीम गार्दी भी कैद करके मार दिया गया। मलहार राव जनकोजी को उसके भाग्य के भरोसे छोड़ कर युद्ध क्षेत्र से भाग कर सुरक्षित दशा में पूना पहुँच गया। महदजी सिन्धिया घायल और लंगड़ा होकर भाग गया। अन्ता जी मनकेश्वर फ़र्रुख़नगर के बलूचियों द्वारा मारा गया। संक्षेप में लगभग ७५,००० मराठे हताहत हुए। "महाराष्ट्र में कोई भी ऐसा घर नहीं था जिसमें किसी न किसी आदमी के लिये शोक न मनाया गया हो। अनेक घर तो ऐसे थे जिनके घर के मालिक मारे गये थे और नेताओं की पीढ़ी की पीढ़ी तलवार के एक वार से मौत के घाट उतार दी गई थी।" ("सरकार : Fall of the Mughul

Empire", जिल्द २ पृष्ठ २५७) लगभग २५,००० मराठों ने भाग कर अपनी जान बचाई। इनमें से ८,००० वे थे जिन्होंने शुजाउद्दौला के खेमे में जाकर शरण ली थी और उसने उदारता के साथ उनकी रक्षा कर और उन्हें अपनी जेब से रास्ते का खर्च देकर सूरज मल जाट के प्रदेश में पहुँचा दिया था। सूरजमल ने होल्कर और सिन्धिया के अपकारों को भुला कर बड़ी तत्परता से इन मराठा शरणार्थियों को शरण, भोजन, कपड़े और दवा दारू की पूरी-पूरी डाक्टरी सहायता दी थी।

मराठा पराजय का परिणाम

पानीपत के मराठा-पराजय के परिणाम के विषय में इतिहासकारों के भिन्न भिन्न मत हैं। महाराष्ट्र के सभी आधुनिक लेखक इस विषय में एकमत हैं कि मराठों को केवल ७५,००० मनुष्यों की हानि उठानी पड़ी किन्तु इससे उनके लक्ष्य को किसी प्रकार की हानि नहीं हुई। इतिहासकार सारदेसाई लिखते हैं कि "इस युद्ध क्षेत्र में मराठा जन शक्ति का महाविनाश अवश्य हुआ किन्तु यह विनाश उनकी शक्ति का अन्तिम निर्णायक नहीं था। वास्तव में इस युद्ध ने लम्बे अर्से के बाद महान् जाति के प्रसिद्ध पुरुष नाना फड़नीस और महदजी सिन्धिया को चमका दिया था जो कि उस प्रलयकारी दिन बड़ी आश्चर्यजनक रीति से मृत्यु से बच कर निकल गये थे और जिन्होंने मराठों के पूर्व गौरव को फिर से जीवित कर दिया था। पानीपत के युद्ध में हुआ मराठों का विनाश दैवी कोप के समान था। इसने मराठों की जीवन-शक्ति को नष्ट कर दिया किन्तु इससे उनके राजनैतिक जीवन का अन्त नहीं हो गया। यह मान लेना कि पानीपात के विनाश ने मराठों की सार्वभौमिकता के प्रिय स्वप्न को सदा के लिये नष्ट कर दिया था, परिस्थिति को ठीक ठीक न समझना है जैसा कि तत्कालीन लेखों से ज्ञात होता है" (A New History of the Marathas, जिल्द २ पृष्ठ ४५४)। महान् इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार का इस विषय में भिन्न मत है। वे कहते हैं" इतिहास के पक्षपात रहित अध्ययन से ज्ञात होगा कि मराठों का यह जोरदार दावा कितना निर्मूल है। इसमें सन्देह नहीं कि मराठा-सेना ने निर्वासित मुग़ल-सम्राट को १७७२ में अपने पूर्वजों के सिंहासन पर फिर से बिठा दिया था किन्तु वे उस समय न तो राज निर्माता हुए और न मुग़ल साम्राज्य के वास्तविक शासक ही वरन् उनकी स्थिति तो नाम मात्र से मन्त्रियों और सेनापतियों जैसी हो थी। इस प्रकार का गौरव पूर्ण पद तो केवल १७८९ में महदजी सिन्धिया और १८०३ में अंग्रेज प्राप्त कर पाये थे।" (Fall of the Mughul Empire, जिल्द २ पृष्ठ २६०) दूसरा मत युक्ति युक्त और सत्य है। पहली बात तो यह है कि यह युद्ध पूर्ण रूप से निर्णायक सिद्ध हो गया था। मराठा-सेना तथा उसके नायकों का सर्वनाश हो गया था। एक लाख से अधिक व्यक्तियों में से केवल कुछ हज़ार ही महाराष्ट्र पहुँच पाये थे। इनमें से भी कोई लुञ्ज

पुत्र था तो किसी का दिमाग खराब था। ऐसे ही लोगों से मराठा-राष्ट्र के विनाश का समाचार मिला था। मराठा सैन्य-शक्ति का इतना अधिक विनाश हुआ था कि तीन महीने तक तो पेशवा को हताहतों का वास्तविक ब्यौरा तथा भाऊ एवं दूसरे नेताओं की मृत्यु समाचार मिल ही न सका। दूसरी बात यह है कि यद्यपि अब्दाली पानीपत की विजय के बाद भारत में बस नहीं गया था किन्तु फिर भी उत्तरी भारत के पंजाब, मुलतान और दिल्ली के प्रान्तों पर मुस्लिम साम्राज्य का प्रभुत्व पुन: स्थापित हो गया था। १७५४-६० तक सन्देह के और मराठों ने पंजाब को वापस लेने और सीमान्त प्रदेश की रक्षा करने का इसके बाद कोई प्रयत्न नहीं किया। यह बात याद रखने के योग्य है कि १७५४ से १७६० संक्षेप में तक पंजाब मुलतान और दिल्ली प्रदेशों का भाग्य डांवाडोल ही था। कभी ये मराठों के हाथ चले जाते थे और कभी मुसलमानों के। संक्षेप में कह सकते हैं कि पानीपत की हार के कारण सम्पूर्ण देश पर प्रभुत्व स्थापित करने का मराठों का मधुर स्वप्न नष्ट हो गया था। अब्दाली ने पेशवा से सन्धि करने की इच्छा की थी और वह फरवरी १७६३ में पूरी भी हो गई थी किन्तु इससे १७६१ के निर्णय में तनिक भी अन्तर नहीं आया था और न उत्तरी भारत तथा दिल्ली पर पठान शासन के सम्बन्ध में कोई सन्देह ही उत्पन्नहो सका था। तीसरे, म राठा पराजय का नैतिक प्रभाव और भी गहरा पड़ा। मराठा सेनाएं अब तक अजेय समझी जाती थीं किन्तु अब उनका सैनिक और राजनैतिक सम्मान घट गया। अब भारत में मराठों की मित्रता का कोई मूल्य नहीं रह गया था "क्योंकि गत चार वर्षों में मराठों ने प्रत्यक्ष दिखा दिया था कि जिस प्रकार वे अपनी रक्षा नहीं कर सके, उसी प्रकार अपने मित्रों की रक्षा नहीं कर सकेंगे।" चौथी बात यह है और जैसा सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि इस युद्ध में लगभग सभी बड़े बड़े मराठा कप्तान और राजनीतिज्ञ मारे गये। इस युद्ध के कारण बालाजी पेशवा की भी मृत्यु हो गई, अतः मराठा इतिहास के सबसे अधिक कलंकित रघुनाथ दादा की घृणित अभिलाषा की पूर्ति का सरल मार्ग बिल्कुल खुल गया। और हानियों की पूर्ति तो समय पर हो जाती किन्तु पानीपत के युद्ध ने यह सबसे बड़ी बुराई पैदा कर दी। संक्षेप में कह सकते हैं कि पानीपत में मराठों की हार ने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि पेशवा-परिवार में परस्पर वैमनस्य और कलह उत्पन्न हो गया जिसके कारण आगे चलकर मराठों का पतन हो गया। पाँचवीं बात यह है कि मराठों की सर्वनाशकारी पराजय और उसके बाद उनके राजनैतिक जीवन की हत्या ने अंग्रेज व्यापारियों को भारत में अपने "धूर्त पड़ौसियों की दासता से छुड़ा कर बड़ी शीघ्रता से उन्नत कर दिया।" अब भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का द्वार खुल गया था। इतिहासकार सरदेसाई लिखते हैं कि "यह इस बात का प्रतीक है कि जब मराठे और मुसलमान कुरुक्षेत्र के प्राचीन मैदान में

घातक युद्ध में फंसे हुए थे तब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रथम संस्थापक क्लाइव इङ्गलैण्ड जाकर प्रधान मन्त्री लार्ड चैथम से भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सम्भावना के स्वप्न की व्याख्या कर रहा था। पानीपत ने भारत-साम्राज्य के युद्ध के लिये अप्रत्यक्ष रूप से एक और साक्षी पैदा कर दिया। वास्तव में यह उस राजनैतिक घटना का प्रत्यक्ष परिणाम था जो कि भारत के इतिहास का निर्णायक हो गया। (New History of the Marathas जिल्द २ पृष्ठ ४५५)। पानीपत-युद्ध के दूसरे दिन मुग़ल सम्राट शाहआलम द्वितीय को अंग्रेजों ने कारनैक की अधीनता में हरा दिया और उसे उनकी शरण में जाना पड़ा। १६ फरवरी १७६१ को अंग्रेजों ने पांडुचेरी पर अधिकार कर भारत में फ्रांसीसियों की शक्ति को नष्ट कर दिया। अब भारत में अंग्रेजी ईस्ट इन्डिया कम्पनी का सितारा चमक गया।

मराठा पराजय के कारण

पानीपत में मराठा पराजय के अनेक प्रमुख कारण थे। पहला कारण तो यह था कि अब्दाली की सेना भाऊ की सेना से संख्या में अधिक और युद्ध कौशल में अधिक निपुण थी। सर यदुनाथ सरकार ने तत्कालीन लेखों के आधार पर अनुमान लगाया है कि अब्दाली की सेना ६०,००० थी और मराठों के योद्धा ४५,००० से अधिक नहीं थे। दूसरा कारण यह था कि मराठों को दोआब और दिल्ली प्रदेश से रसद मिल सकती थी, अतः उनके पास उनके, उनके घोड़ों के तथा लद्दू जानवरों के खाने से भी अधिक सामग्री थी। इसके विपरीत मराठे दो महीने तक भूखों मरते रहे थे और उन्हें भूखे पेट ही लड़ना पड़ा था। इस प्रकार की भूखी-प्यासी सेना एक सुसज्जित और संतुष्ट शत्रु को नहीं जीत सकती थी। तीसरा कारण यह था कि अहमदशाह अब्दाली की सेना सुशिक्षित और अनुशासित थी और शाह बिना किसी हेर-फेर के ख़ेमे तथा युद्ध क्षेत्र में पूर्ण व्यवस्था रखता था तथा अनुशासन एवं आज्ञा भंग करने वाले को कठोर दण्ड देता था। शाह कैसा कठोर अनुशासन रखता था इसके अनेक उदाहरण हैं। उदाहरण के लिये उनमें से एक दिया जाता है, इस विषय में काशीराज लिखता है "१७६० में कुछ अब्दाली सैनिकों ने शुजाउद्दौला के ख़ेमे में कुछ सैनिक नियमों की अवहेलना की। जब शाह ने यह सुना तो उसने उन २०० सैनिकों को पकड़वा कर तीरों से उनकी नाकें छिदवा दीं और उनमें नकेल डलवा दी। इस प्रकार वे ऊँट की तरह शुजाउद्दौला के सामने उपस्थित किये गये और उन्हें क्षमा करने या प्राणदण्ड देने का उसे पूरा पूरा अधिकार दे दिया गया।" इसके विपरीत मराठा सैनिक और अफ़सर व्यक्तिगत स्वतंत्रतावादी तथा उद्दण्ड थे और "अनुशासन से उन नीच व्यक्तियों के समान घृणा करते थे जिनका पालन पोषण अनियमित रूप से हुआ हो। ऐसे लोग अनुशासनहीन उद्दण्डता को स्वतंत्रता मानते हैं और सुसंगठित रूप से मिल

जुल कर सेना अथवा स्कूल में काम करने को दास मनोवृत्ति बताते हैं और कहते हैं कि ये बातें उनकी स्वतंत्रता का अपहरण करने वाली हैं। अनुशासन एवं संगठन की विजय होती है, केवल शरीर-बल की नहीं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अनुशासनहीन मराठा सेना सुसंगठित और सुअनुशासित शत्रु से हार गई। चौथी बात यह है कि यद्यपि भाऊ के पास योग्य सेनापति इब्राहीम गार्दी की अधीनता में बड़ा अच्छा तोपख़ाना था किन्तु सामूहिक दृष्टि से उसकी सेना अस्त्र शस्त्रों से तथा दूसरी सैनिक सामग्री की दृष्टि से अब्दाली की सेना से कहीं घटकर थी। अब्दाली के पास सैकड़ों कड़ावीन बन्दूकें थीं जो तेज़ दौड़ने वाले ऊटों की पीठ पर से चलती थीं। गार्दी का तोपख़ाना तो आमने सामने की लड़ाई में बेकार हो जाता था किन्तु अब्दाली की कड़ावीन बन्दूकें चारों ओर से निरन्तर चलती रहती थीं। अब्दाली की सेना के पास बन्दूकें थीं और मराठा सेना के पास भाले और तलवार। पाँचवाँ कारण यह है कि यद्यपि भाऊ निडर सैनिक था किन्तु वह सेनापति के रूप में अपने विरोधी अब्दाली से हीन था। उस समय एशिया के सेनापतियों में अब्दाली ही सबसे योग्य माना जाता था। जन्मजात नेता जैसा उसका लम्ब तड़ंग शरीर, उसका युद्ध-कौशल और कूटनीति उसकी सफलता के मुख्य कारण थे। भाऊ योद्धाओं की देखभाल और प्रत्येक टुकड़ी से अपना सम्बन्ध बनाये रखने के बजाय युद्ध में अन्धाधुन्ध कूद पड़ता था और विश्वासराव की मृत्यु के बाद तो वह साधारण सैनिक की भाँति काल के गाल में कूद पड़ा। छठा कारण यह है कि भाऊ दिल्ली के यातायात के मार्ग को सुरक्षित नहीं रख सका। उसने यह बड़ी भारी भूल की कि दिल्ली पर अधिकार जमाये रखने के लिये कुछ हज़ार ही सैनिक छोड़कर शत्रु के जाल में फँस गया। किन्तु शाह ने अपने रुहेला मित्रों के प्रदेश दोआब से पूरा पूरा सम्बन्ध स्थापित रखा। मराठा सेना का सम्बन्ध अपने प्रदेश से बिलकुल विच्छिन्न हो गया था और वह यहाँ सैकड़ों मील दूर आकर घिर गई थी। मराठों की असफलता का सबसे बड़ा कारण यह है कि मराठों ने दस वर्ष से अधिक तक उत्तरी भारत की जनता, राजपूत सरदार और जाट राजा पर मनमाने आक्रमण कर हिन्दू और मुसलमानों की समान रूप से सहानुभूति खो दी थी। यही कारण था कि उत्तरी भारत की जनता ने उनकी विपत्ति में तनिक भी सहायता नहीं की। सार्वजनिक सहानुभूति और सहायता भी सुरक्षा की दूसरी पंक्ति बन जाती है। अतः पानीपत के मराठा-विनाश के अनेक कारणों में से उनके प्रति जनता की दुर्भावना का होना भी एक अनिवार्य कारण था।

बालाजी बाजीराव की मृत्यु : उसका व्यक्तित्व और चरित्र

पेशवा को दो महीने तक पानीपत से कोई समाचार नहीं मिला था, अतः उसे अपनी सेना के विनाश का ज्ञान नहीं था। अब उसने भी उत्तर भारत

को कूच करने की योजना बनाई। कुछ दिन से उसका स्वास्थ्य गिर रहा था, अतः उत्तरी भारत से लाई गई दास लड़कियों के गाने और नृत्य द्वारा उसके मन को अनेक चिन्ताओं से हटाने का प्रयत्न किया गया। इसीलिये २७ दिसम्बर १७६० को पैठान में एक युवती स्त्री से उसका विवाह भी कर दिया गया। इस दशा में उत्तरी भारत के लिये प्रस्थान कर वह २४ जनवरी को भेलसा गया और वहीं उसे एक महाजन के पत्र से अपनी सेना के विनाश का समाचार मिला। कुछ दिन रुकने के बाद वह सिरोंज से ३२ मील उत्तर पछार में पहुँचा जहाँ उसे पानीपत के विनाश का ठीक ठीक समाचार मिला जिसे सुनकर उसका दिमाग़ ख़राब हो गया। इस कारण वह पूना लौटने के लिये बाध्य हो गया और वहाँ २३ जून १७६१ को उसकी मृत्यु हो गई।

बालाजी बाजीराव सुन्दर एवं मधुरभाषी था। अपने पूर्व पेशवाओं के विपरीत वह कला का प्रेमी और विलासी था और उसके रहन सहन का ढंग भी ऊँचे स्तर का था। यद्यपि वह सामान्य दृष्टि से सफल सैनिक और कूटनीतिज्ञ था किन्तु वह युद्ध-कौशल और राजनीतिज्ञता में अपने पिता के समान नहीं था। उसके पेशवा-काल में मराठा राज्य का बहुत अधिक विस्तार हुआ और "मराठा घोड़ों ने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक के झरनों में अपनी प्यास बुझाई"। पेशवा यद्यपि अच्छा प्रबन्धक था और उसने दक्खिन के मराठा प्रदेश में माल तथा न्याय के प्रबन्ध की उत्तम रीति भी निकाली थी किन्तु उसने तलवार के बल से बढ़ाये हुए विस्तृत मराठा साम्राज्य में नियमित सरकार के स्थापित करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। जहाँ तक मराठा साम्राज्य का सम्बन्ध है उसने इसे पहले की तरह ही रहने दिया और नियमित प्रबन्ध करने के बजाय इसे लुटेरों का संगठन ही बना दिया। किन्तु दक्खिन में उसने कुछ लाभदायक सुधार भी किये। उसने महाराष्ट्र का राज्य प्रबन्ध अपने योग्य मन्त्री रामचन्द्र शोनवी के हाथों में सौंपा और उसकी मृत्यु के बाद इसे अपने चचेरे भाई सदाशिव भाऊ के हाथ में दे दिया। बल्लोबा माण्डुवगुनी नाम के एक माल कमिश्नर ने माल नियम और उपनियमों का सुधार किया और कर वसूल करने वालों को हिसाब देने के लिये बाध्य किया। उसने कर वसूली की गड़बड़ियों को पकड़ कर अनुचित करों को समाप्त कर दिया। प्रजातन्त्रात्मक ग्रामों में प्रजातन्त्र का भी ध्यान रक्खा गया। न्याय-प्रबन्ध को नियमित किया गया और बालकृष्ण गाडगिल नामक एक योग्य जज प्रधान न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुआ। ग्रामों और नगरों में सुदृढ़ आधार पर पंचायतों का संगठन किया गया। पेशवा ने पूना के सुन्दर और सड़कदार भवनों में सुदृढ़ पुलिस की स्थापना की। उसने मन्दिर बनवाये और झीलें

खुदवाईं। इन सुधारों के कारण मराठा कृषक-समाज उसका आज भी कृतज्ञता के साथ स्मरण करता है।

किन्तु बालाजी बाजीराव होल्कर और सिन्धिया जैसे अपने अधीन सरदारों को पूरी तौर से वश में न रख सका। ये बहुत दिन तक आपस में झगड़ते रहे जिसके कारण उत्तर भारत में मराठा-हितों को बहुत हानि उठानी पड़ी। वह अपने भाई रघुनाथराव को सीधे मार्ग पर नहीं ला सका और उसने एक मूर्खता और की कि उसने अपने ही एक सरदार तुलाजी अन्ग्रिया को दबाने के लिये अंग्रेजों की सहायता ली। उसने उत्तरी भारत की राजनीति को अपने नियन्त्रण में नहीं रक्खा और मल्हार-राव होल्कर तथा मराठों के जानी दुश्मन नज़ीबुद्दौला की सांठ-गांठ की उपेक्षा कर दी। पेशवा ने होल्कर और सिन्धिया को राजपूत और जाटों पर अत्याचार करने की खुली छूट देकर इन्हें भी अपना शत्रु बना लिया। संक्षेप में मराठा और जाट तथा राजपूतों की शत्रुता का उत्तरदायी पेशवा ही ठहराया जा सकता है। वास्तव में उत्तरी भारत के हिन्दू उसी के कारण मराठों से वैमनस्य रखने लगे और अखिल भारत पर हिन्दू राज्य की स्थापना की योजना भी उसी के कारण असफल रही।

विशेष अध्ययन के लिए पुस्तकें

[अ] मराठी

१. ऐतिहासिक पत्र व्यवहार जिल्द १-२ सम्पादक जी. एस. सरदेसाई तथा अन्य।

२. राजवाडे (वी. के.) मराठ्यांचा इतिहासांची साधनेन, २२ जिल्द।

३. Selections from Peshwa Daftar, ४५ जिल्द सम्पादक जी. एस. सरदेसाई।

४. Selections of Satara Raja's and Peshwa's Diaries, सम्पादक जी. एस. वाड तथा अन्य।

५. दिल्ली एथील मारा राजकारनें या Despatches of Hingane, सम्पादक पारासनिस, २ जिल्द, पूरक हिंगणे दफ़्तर की दो जिल्दों सहित।

६. पुरन्दरे दफ़्तर ३ जिल्द।

७. होल्कर शाही इतिहास साधनेन, २ जिल्द सम्पादक आर. बी. ठाकुर।

८. सिन्धिया शाही इतिहासांची साधनेन, ४ जिल्द सम्पादक ए. बी. फल्के।

[ब] फ़ारसी

१. सियर-उल-मुताख़रिन (मूल) लेखक सैयद गुलाम हुसैन।

२. तारीख़े मुज़फ़्फ़री (पाँडुलिपि) लेखक मुहम्मद अली अन्सारी।

३. मिराते एहमदी (पाँडुलिपि) लेखक अली मोहम्मद ख़ाँ।

४. ताजक़िरा नज़ीबुद्दौला (पाँडुलिपि) लेखक सैयद नूरुद्दीन Islamic Culture में, सर. जे. सरकार द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित, १९३३।

५. करजर शाह अहमद अब्दाली वा सदाशिव राव भाऊ लेखक काशीराज पण्डित, १९३४ तथा १९३५ में Indian Historical Quarterly में सर यदुनाथ सरकार द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित।

६. इमाद-उस-सादत (मूल) लेखक सैयद गुलाम अली।

[स] आधुनिक पुस्तकें

१. History of the Marathas, ३ जिल्द, लेखक जे. सी. ग्रान्ट डफ़।

२. A History of the Maratha People, ३ जिल्द, लेखक सी. ए. किनकेड तथा डी. बी. पारासनिस।

३. Rise of the Maratha Power लेखक एम. जी. रानाडे।

४. New History of the Marathas, ३ जिल्द, लेखक जी. एस. सरदेसाई।

५. Main Currents of the Maratha History लेखक जी. एस. सरदेसाई।

६. Peshwa Bajirao I and the Maratha Expansion लेखक वी. जी. डिघे।

७. Fall of the Mughal Empire, जिल्द १–२ लेखक सर जे. सरकार।

८. The First Two Nawabs of Awadh द्वितीय संस्करण लेखक ए. एल. श्रीवास्तव।

९. Shuja-ud-daulah Vol. I लेखक ए. एल. श्रीवास्तव।

१०. Cambridge History of India, जिल्द ४, अध्याय १४।

अध्याय १२

शासन व्यवस्था

सम्राट, उसके अधिकार और कर्तव्य

सल्तनत काल (१२०६-१५२६) के शासक सुलतान और मुग़ल साम्राज्य के शासक सम्राट कहलाते थे। बाबर ने सम्राट की पदवी धारण कर भारत में मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली थी, अतः उसके वंश के सभी उत्तराधिकारी सम्राट ही कहलाते रहे। कुरान के सिद्धान्त के अनुसार मुग़ल सम्राट केवल मुसलमानों का ही शासक था अर्थात् वह अमीर-उल-मुमनीन अथवा सच्चे धर्म (इस्लाम) के मानने वालों का प्रधान था और शासक के रूप में मुस्लिम जनता (जमैयत) का नाम मात्र का उत्तरदायी था। वास्तव में उसके दुहरे अधिकार थे अर्थात् वह मुस्लिम जनता का शासक तथा धार्मिक नेता होता था और राज्य के ग़ैर मुसलमानों का केवल शासक होता था। उसकी शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था किन्तु क्रियात्मक रूप में विद्रोह के भय तथा देश के प्रचलित नियमों के कारण वह सीमित हो जाती थी। यह सच है कि क़ुरान के नियमों के तोड़ने पर उलेमा उसे गद्दी से उतार सकते थे—किन्तु उनका फ़तवा तब तक व्यर्थ रहता था जब तक सम्राट के हाथ में शक्तिशाली सेना रहती थी। बाबर और हुमायूँ इस्लाम धर्म में बताये गये राजा के कर्तव्यों पर विश्वास रखते थे और यथाशक्ति कुरान के नियमों का पालन करते थे। किन्तु अकबर स्वेच्छाचारी शासक था, अतः वह इस्लाम धर्म में बताये गये राजा के कर्तव्यों को न मान कर मुसलमानों का अमीर-उल-मुमनीन न बना। अकबर में धर्म अथवा जाति का कोई पक्षपात नहीं था, अतः वह अपनी सारी प्रजा का ही शासक था। उसका विश्वास था कि हजारों गुणों के रहते हुए भी यदि शासक के हृदय में धार्मिक-सहिष्णुता नहीं है और वह सभी धर्म और जाति के मनुष्यों का समान रूप से आदर नहीं करता है, तो वह शासक जैसे महान् पद के लिये सर्वथा अयोग्य है। (अकबर-नामा, जिल्द २, पृष्ठ २८५।) दूसरे मुग़ल शासकों के समान अकबर का भी विश्वास था कि राजा सब मनुष्यों से श्रेष्ठ और ईश्वर की छाया अथवा उसका प्रतिनिधि है। अबुल फ़ज़ल लिखता है, "राजा ईश्वर का तेज और सूर्य की किरण है और वह सारे संसार को चमका देता है। वास्तव में वह ईश्वर का प्रतीक और गुणों की खान है।" अकबर सम्राट के इस वैभव और ऐश्वर्य को

लेकर गद्दी पर बैठा और उसने अपनी मुसलमान और ग़ैर मुसलमान प्रजा का शासक होने का ही दावा नहीं किया अपितु आध्यात्मिक गुरु होने का भी दावा किया। उसका मत था कि राजा और धर्म गुरु के अलग अलग होने से राज्य पर विपत्ति आ सकती है और यही कारण था कि वह राज्य और धर्म दोनों का प्रधान था। मुसलमान मत में भी बताया गया है कि राज्य और धर्म दोनों का प्रधान राजा अथवा ख़लीफ़ा को ही होना चाहिये। मुस्लिम धर्म के अनुसार मुस्लिम सम्राट केवल अपनी मुसलमान जनता का आध्यात्मिक गुरु होता था और मुहम्मद के धर्म का प्रचार करना तथा मुस्लिम और ग़ैर मुस्लिम में निरन्तर भेद-भाव बनाये रखना उसका कर्तव्य होता था। किन्तु अकबर का विचार सब धर्मों और जातियों में केवल शान्ति स्थापित करना ही नहीं था अपितु वह उस सार्वभौम धर्म का प्रचार करना चाहता था जो शास्त्र पर आधारित न होकर तर्क पर आधारित हो।

जहाँगीर ने कुछ सुधारों के साथ अकबर के राज-धर्म का ही पालन किया। किन्तु जहाँगीर के शासन-काल में इस्लामी सिद्धान्तों की ओर जाने की प्रवृत्ति पुनः प्रत्यक्ष दिखाई देने लगी। शाहजहाँ ने अकबर के सिद्धान्तों का बिलकुल ही त्याग कर दिया था। उसके पुत्र औरंगज़ेब ने इस्लाम धर्म में बताये गये राज-सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन किया। औरंगज़ेब के बाद जो मुग़ल सम्राट हुए वे अत्यन्त दुर्बल स्वभाव के होने के कारण उसके पद-चिह्नों पर न चल सके। किन्तु उन्होंने इस्लामी राज-धर्म पर अपना विश्वास सदा बनाये रक्खा।

मुग़ल सम्राट असीम शक्ति-सम्पन्न होता था। साम्राज्य के प्रधान होने के साथ साथ वह सेना का प्रधान सेनापति तथा न्याय-व्यवस्था का प्रधान उद्गम भी होता था। वह इस्लाम का संरक्षक तथा अपनी मुस्लिम जनता का आध्यात्मिक नेता भी होता था। आध्यात्मिक नेता होने के कारण वह अपनी मुस्लिम जनता से ज़कात वसूल करता था और उसे मस्जिदें बनवाने, मुसलमान साधु, सन्तों तथा दीनों की सहायता करने में व्यय करता था। उसकी मन्त्रि-परिषद् नियमित होती थी। यद्यपि मुग़ल सम्राट के ४ से ६ तक नियमित मन्त्री होते थे किन्तु उन्हें शासन-नीति के निर्माण करने का अधिकार नहीं होता था। वे केवल सलाह दे सकते थे। उनकी सलाह का मानना सम्राट के लिये अनिवार्य नहीं था, अतः मुग़ल सम्राट निरंकुश और स्वेच्छा-चारी होता था। किन्तु अकबर से लेकर शाहजहाँ तक जितने भी सम्राट हुए उन्होंने प्रजा के हित को अपना सर्व प्रधान कर्तव्य समझा, अतः हम उन्हें स्वेच्छाचारी उदार शासक कह सकते हैं।

मन्त्री तथा उनके कर्तव्य

बाबर से अकबर तक शासन व्यवस्था के चार मुख्य विभाग थे। औरंगज़ेब के शासन काल में मन्त्रियों की संख्या ६ हो गई थी। वे इस प्रकार थे :—

(१) कोष तथा वित्त राजस्व विभाग (दीवान के अधीन) (२) राजकीय गृह विभाग (ख़ान सामा अथवा मीर सामा के अधीन) (३) सैनिकों का वेतन तथा जमा ख़र्च विभाग (मीरबख़्शी के अधीन) (४) न्याय विभाग (दीवानी तथा फ़ौजदारी) (प्रधान काज़ी के अधीन) (५) धार्मिक धन-सम्पत्ति निर्धारण तथा दातव्य विभाग (प्रधान सद्र के अधीन) (६) जनता का सदाचार निरीक्षण विभाग (मुहतसिब के अधीन)। इनके अतिरिक्त दो और छोटे छोटे विभाग थे जिन्हें उत्तर कालीन मुग़ल सम्राटों ने अन्य विभागों के समकक्ष ही बना दिया था। वे विभाग ये थे :—

(७) तोपख़ाना विभाग (मीर आतिश अथवा दरोग़ा-ए-तोपख़ाना के अधीन। (८) समाचार सम्वाद तथा डाक विभाग (डाक चौकी के दरोग़ा के अधीन)।

प्रधान मन्त्री

अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल में प्रधान मन्त्री की पदवी वकील अथवा वकील-ए-मुतलक़ थी। कभी कभी वह वज़ीर अथवा वज़ीरे आला भी कहलाता था। बाद के कुछ सम्राटों ने वकील की पदवी फिर से जारी कर दी। उदाहरण के लिये जहांदारशाह ने असद ख़ाँ को वकीले मुतलक़ की पदवी देकर नियुक्त किया और उसके पुत्र ज़ुल्फ़िक़ार खाँ को वज़ीर बनाया। प्रधान मन्त्रियों के अधिकार में प्रायः वित्त विभाग रहता था किन्तु यह विभाग दीवान की हैसियत से दिया जाता था। मुख्य रूप से वह नागरिक अफ़सर होता था और उसे सेनापति का काम बहुत कम दिया जाता था। राज्य की भलाई से सम्बन्ध रखने वाले सभी कामों में उसे सम्राट को सलाह देनी होती थी। "वह सम्राट तथा दूसरे अफ़सरों के बीच मध्यवर्ती का काम करता था।" सम्राट के अनुपस्थित होने पर अथवा नाबालिग़ होने पर वह उसकी जगह काम करता था। साम्राज्य के विभिन्न भागों के वित्त सम्बन्धी सभी कागज़ात तथा प्रान्तों एवं युद्ध क्षेत्रों के आय-व्यय के समस्त ब्यौरे उसके पास भेजे जाते थे। सब प्रकार के व्यय (भुगतान) की वही आज्ञा देता था। ख़ज़ाना उसी के अधिकार में रहता और लगान एवं कर वसूली सम्बन्धी सभी प्रश्नों का निर्णय वही देता था।

सेना के छोटे छोटे नौकरों अथवा निजी नौकरों को छोड़ कर *अन्य सभी की नियुक्ति अथवा उन्नति वही करता था।* उसके नीचे दो सहायक मन्त्री और होते थे उनमें से एक दीवान ख़ालसा कहलाता था जिसके अधिकार में सम्राट की भूमि रहती थी। दूसरा दीवानेतान अथवा तनख़ा होता था जिसके अधिकार में जागीर की भूमि रहती थी।

मीर बख़्शी

मीर बख़्शी के अधिकार में सैन्य विभाग रहता था। सभी मनसबों की नियुक्तियाँ उसी के विभाग द्वारा होती थीं। वह सेना में राजकीय नियमों को जारी करता था तथा घोड़ों के दाग़ लगाने का और मनसबदारों के अधिकार में रहने वाले सैनिकों की निश्चित संख्या का निरीक्षण करता था। मीर बख़्शी मनसबदारों का एक रजिस्टर रखता था जिसमें हर मनसबदार के अधीन रहने वाले सैनिकों की निर्दिष्ट संख्या लिखी रहती थी। उसे मनसबदारों के वेतन के बिल पास करा कर अपने पास रखने होते थे। इसी कारण वह पे-मास्टर जनरल कहलाता था।

ख़ानेसामान अथवा उच्च परिचारक

अकबर के शासन-काल में ख़ानेसामान मन्त्री नहीं कहलाता था किन्तु उसके उत्तराधिकारियों के समय में यह पद पूर्णतया सुसंगठित मन्त्री विभागों की तरह ही महत्त्वपूर्ण हो गया था। ख़ानेसामान सम्राट के घरेलू विभागों का प्रधान होता था और सम्राट के निजी नौकर एवं दास तथा शाही भोजन-भण्डार उसी के अधिकार में रहते थे। वह सम्राट के दैनिक व्यय, भोजन और भण्डार आदि का भी निरीक्षण करता था। सम्राट, उसके अन्तःपुर (ज़नानख़ाना) तथा दरबार के लिये जिन वस्त्र, आभूषण तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं की आवश्यकता होती थी उन सबके कारख़ाने इसी के अधीन रहते थे। इन सब कारणों से वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था। कभी कभी तो ख़ानेसामान वज़ीर भी बना दिया जाता था। उच्च कोटि का अफ़सर उसका उपमन्त्री होता था जो दीवानेबयूतात या बयूतात कहलाता था। उसका प्रधान काम मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति का हिसाब किताब रखना होता था जिससे कि (१) राज्य की आय प्राप्त हो जाय और (२) मृत व्यक्तियों के उत्तराधिकारियों के लिये सम्पत्ति सुरक्षित रख ली जाय।

प्रधान काज़ी

सम्राट 'अपने काल का ख़लीफ़ा' माना जाता था अतः वह सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था और हर बुधवार को अपनी कचहरी करता था। उसका न्यायालय न्याय का सब से बड़ा न्यायालय होता था। किन्तु सम्राट को सारी अपीलें सुनने का समय

नहीं मिल पाता था, अतः एक प्रधान काज़ी होता था जो प्रधान न्यायाधीश कहलाता था। वह "धर्म सम्बन्धी मुक़दमों का फ़ैसला करता था और मुस्लिम क़ानून के अनुसार ही उनका निर्णय करता था।" प्रधान काज़ी प्रान्त, ज़िला तथा नगरों के काज़ियों की नियुक्ति करता था। कभी-कभी बड़े-बड़े गाँवों में भी स्थानीय काज़ी नियुक्त कर दिया जाता था। मुफ़्ती काज़ियों के सहायक होते थे। ये अरबी न्याय शास्त्र के विद्वान् होते थे और सम्बन्धित मुक़दमों के सम्बन्ध में इस्लामी क़ानून का मूलरूप काज़ी के सामने रखते थे। काज़ी के अधिकार बहुत होते थे और उसकी प्रतिष्ठा बहुत बड़ी होती थी किन्तु वह अपने अधिकारों का प्रायः दुरुपयोग किया करता था। उसके विभाग में भ्रष्टाचार बहुत अधिक बढ़ गया था। इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार के अनुसार "मुग़ल काल में जितने भी काज़ी थे उनमें से कुछ प्रतिष्ठित अपवादों को छोड़कर सभी घूसखोर थे।"

प्रधान सद्र (सद्रुस सद्र)

प्रधान सद्र धार्मिक धन-सम्पत्ति तथा दातव्य विभाग का प्रधान होता था। सम्राट एवं शाही परिवार के दूसरे सदस्य धर्मात्मा, विद्वान्, उलेमा और साधु-सन्तों की सहायता के लिये जागीर तथा अतुल धनराशि निकाल कर अलग रख दिया करते थे। सद्र का काम योग्य व्यक्तियों के प्रार्थना पत्रों की जाँच कर उनकी सिफ़ारिश करना होता था। अतः वह दान की भूमि और सम्पत्ति का निर्णायक एवं निरीक्षक होता था। वह प्रान्तीय सद्रों की नियुक्ति करता था। कभी कभी तो प्रधान सद्र प्रधान काज़ी का भी काम करता था। किन्तु अकबर और उनके उत्तराधिकारियों के शासन काल में इन दोनों बड़े बड़े पदों पर दो भिन्न भिन्न व्यक्ति प्रतिष्ठित होते थे। सद्र का पद बड़ा लाभदायक होता था, इस पर रह कर वह घूंस और गबन से मालामाल हो सकता था। अकबर के शासन-काल में सद्र घूंस तथा निर्दयता के कारण कुख्यात हो गये थे।

जनता का सदाचार निरीक्षक

जनता का सदाचार निरीक्षक अथवा मुहतसिब मुसलमानों के मुहम्मद पैग़म्बर की आज्ञाओं का पालन करवाता था और जनता को शरियत के विरुद्ध कार्य करने से रोकता था। "उसका काम खींची गई शराब अथवा उत्तेजक जौ की शराब, भांग और मादक द्रवों का पीना, जुए का खेलना तथा कुछ विशेष प्रकार के मैथुनों का रोकना होता था। वह उन मुसलमानों को दंड देता था जो इस्लाम धर्म के विरुद्ध विचार रखते थे या पैग़म्बर में अविश्वास करते थे और पाँचों नमाज़ तथा रोज़ों का त्याग कर देते थे।" औरंगज़ेब के शासन काल में मुहतसिब का काम नये मंदिरों का ढान

हो गया था। कभी कभी वे बाज़ार में वस्तुओं का मूल्य निश्चित करते थे और बाँट तथा गज़ों को ठीक करवाते थे।

तोपख़ाने का सुपरिन्टेन्डेन्ट

यह अफ़सर मूल रूप से मीर बख़्शी का सहायक (मातहत) होता था किन्तु युद्ध क्षेत्रों में तोपख़ानों का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण इस विभाग के प्रधान को भी मन्त्री का गौरव प्राप्त हो गया था। बाद के मुग़ल शासकों के शासन काल में मीरेआतिश अथवा तोपख़ाने के सुपरिन्टेन्डेन्ट का काम शाही गढ़ की रक्षा का प्रबन्ध करना भी होता था। इसके लिये कभी कभी तो उसे वहीं रहना भी पड़ता था। इन कारणों से उसका सम्पर्क सम्राट से बना रहता था और इसीलिये उसका पद महत्त्वपूर्ण हो गया था और उसकी गणना मन्त्रियों में होने लगी थी। तोपख़ाने की गढ़ तोड़ने वाली तोपों से लेकर छोटी छोटी बन्दूकें तक उसके अधिकार में रहती थीं।

समाचार एवं डाक का सुपरिन्टेन्डेन्ट

मुग़ल शासन-काल के अन्तिम दिनों में इसका भी एक अलग विभाग था और यह उसका प्रधान था। इसके अधिकार में समाचार लेखक, गुप्तचर और सम्वाद-वाहक होते थे जो सारे साम्राज्य में नियुक्त किये जाते थे। ये लोग अपने अपने क्षेत्रों की मुख्य मुख्य घटनाओं की सूचना भेजा करते थे। इनके अतिरिक्त प्रान्तीय सुपरिन्टेन्डेन्ट भी होते थे जो शाही दारोग़ा-ए-डाक-चौकी की आज्ञानुसार काम करते थे। ये लोग हर सप्ताह समाचारों का सारांश राजधानी को भेजा करते थे।

प्रान्तीय शासन व्यवस्था

सूबेदार तथा उसके कर्तव्य

मुग़ल साम्राज्य सूबों में बँटा हुआ था। अकबर के शासन काल में १५ सूबे थे। औरंगज़ेब के काल में ये २० हो गये। प्रत्येक प्रान्त का प्रधान एक राज्यपाल होता था जो अकबर के शासन काल में सिपहसालार और उसके उत्तराधिकारियों के शासन-काल में सूबेदार अथवा नाज़िम कहलाता था। उसका मुख्य काम प्रान्त में शान्ति और व्यवस्था का रखना, शाही आज्ञाओं का पालन करवाना, राज करों के उघाने में सहायता देना होता था। उसे न्याय का काम भी करना पड़ता था। जब वह प्रान्त का चार्ज लेने के लिये रवाना होता था तब वज़ीर उसे सलाह देता था कि वह प्रान्त के मुख्य मुख्य व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाये रक्खे, योग्य अफ़सरों की उन्नति की सिफ़ारिश करता रहे और विद्रोही ज़मीदारों को दबाकर मुख्य मुख्य घटनाओं की

पाक्षिक सूचना दरबार में भेजता रहे। उसको यह भी सलाह दी जाती थी कि वह सेना को सुसज्जित रक्खे, चौकन्ना रहे, दीन तथा सन्तों की सहायता करे और किसानों की रक्षा करके खेती की उन्नति में योग दे। उसका मुख्य कार्य अपने क्षेत्र के पास के अधीन राजाओं से कर वसूल करना भी था।

प्रान्तीय दीवान

प्रान्त का दूसरा महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी दीवान होता था। मुग़ल शासन काल के प्रारंभिक दिनों में उसका पद सूबेदार के समान ही समझा जाता था किन्तु उसका अधिकार सूबेदार के समान नहीं था। "वास्तव में ये दोनों अफ़सर परस्पर ईर्ष्या रखते थे और एक दूसरे की कड़ी निगरानी रखते थे। इस प्रकार की निगरानी प्रारंभिक अरबों के शासन में परम्परागत हो गई थी।" दीवान के अधिकार में कर-वसूली का प्रबन्ध था। वह प्रान्त में कर लगाता था, उनके उघाने का प्रबन्ध करता था और उघाने वालों की नियुक्ति करता था। वह दीवानी न्याय भी करता था और दीवान उसी की आज्ञानुसार काम करता था। उसे खेती की उन्नति पर विशेष ध्यान देना होता था, ख़ज़ाने की देखभाल करनी होती थी और ईमानदार अमीन तथा आमिल नियुक्त करने होते थे। उसका काम किसानों की उन्नति के लिये तक़ावी बांटना और अपने विभाग के सब कागज़ात वज़ीर के दफ़्तर को भेजना होता था।

प्रान्त में बख़्शी. क़ाज़ी, सद्र, बयूतात और मुहतसिब इत्यादि दूसरे अफ़सर भी होते थे। ये अपने काम अपने क्षेत्र में इसी प्रकार करते थे जिस प्रकार मन्त्री राजधानी में सारे साम्राज्य के काम करते थे।

ज़िले अथवा सरकारें

प्रान्त ज़िले अथवा सरकारों में बंटा हुआ था। प्रत्येक ज़िले का एक अफ़सर होता था जो फ़ौजदार कहलाता था जो आजकल के ज़िला कलक्टर का काम करता था। वह सूबेदार से अपना सम्पर्क निरन्तर बनाये रखता था और उसी की आज्ञानुसार काम करता था। वह एक प्रबन्धक अफ़सर होता था और उसके अधिकार में सेना की एक टुकड़ी रहती थी। शाही आज्ञा और नियमों के अनुसार ज़िले में शांति एवं व्यवस्था रखना उसका मुख्य काम होता था। शक्तिशाली ज़मीदारों को नियन्त्रण में रखना और सड़कों को चोर डाकुओं से सुरक्षित रखना भी उसी का काम था। "संक्षेप में, फ़ौजदार, जैसा कि उसके नाम का अर्थ है, ज़िले की उस सेना का अधिकारी होता था जो छोटे मोटे विद्रोहों को दबाने और डाकुओं के गिरोहों को खदेड़ने अथवा गिरफ़्तार करने के लिये रक्खी जाती थी। उसका काम सेना के प्रदर्शन द्वारा राज-कर के अधिकारी, फ़ौजदारी के जज अथवा चरित्र निरीक्षकों के विरोधियों को भी आतंकित करना होता था।" (सरकार, Mughul Administration, पृष्ठ ५७)

परगने अथवा महालें

ज़िले परगने अथवा महालों में बंटे हुए थे। हर परगने में एक शिकदार, एक आमिल, एक अमीन, एक फोतदार (*ख़ज़ान्ची*) *और कुछ बितिकची (लेखक)* होते थे। शिकदार परगने के पूरे प्रबन्ध का अधिकारी होता था और उसे अपने परगने में शांति एवं व्यवस्था भी रखनी होती थी। उसके अधिकार में एक छोटी सी फ़ौजी टुकड़ी भी रहती थी। वह फ़ौजदारी मजिस्ट्रेट का भी काम करता था किन्तु इस काम में उसके अधिकार सीमित रहते थे। आमिल का सीधा सम्बन्ध किसानों से होता था और उसका मुख्य काम राज-करों का लगाना तथा उनका उघाना होता था। उसे शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने एवं गुण्डों के दबाने में शिकदार की सहायता भी करनी होती थी। फ़ोतदार परगना ख़ज़ाने का अधिकारी होता था। बितिकची लेखक या क्लर्क होते थे।

नगरों का प्रबन्ध

नगर का प्रधान प्रबन्धक कोतवाल होता था। वह नगर-पुलिस का प्रधान होता था और उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी। उसके मुख्य काम थे (१) नगर की रक्षा करना (२) बाजार पर नियन्त्रण रखना (३) लावारिसों की सम्पत्ति की देखभाल करना तथा उसे उचित वारिसों को पहुँचाना। (४) जनता के चरित्र का निरीक्षण करना एवं अपराधों का रोकना (५) सामाजिक बुराइयों को दूर करना (६) श्मसान, कब्रिस्तान तथा बूचड़खानों की व्यवस्था रखना। इन कामों के पूरा करने के लिये उसके अधिकार में घुड़सवार तथा पैदल फौज और बहुत बड़ी पुलिस रहती थी। वह नगर को वार्डों में बांट कर उन्हें ईमानदार सहायकों (मातहतों) के अधिकार में सौंप देता था और उन्हें एक रजिस्टर दे देता था जिसमें वे सब नागरिकों के चरित्र का ब्यौरा रखते थे। उसके अधिकार में गुप्तचर होते थे जो नगर में आने जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति की उसे सूचना देते थे और सरायों पर नियन्त्रण रखते थे। उसे आज्ञा थी कि वह किसी व्यक्ति को भी बेकार न रहने दे क्योंकि बेकार आदमी ही शैतानी करते हैं। उसे पेशेवर स्त्रियों, नर्तकियों तथा शराब एवं मादक बेचने वालों पर कड़ी निगाह रखनी पड़ती थी।

बड़े बड़े नगर वार्ड अथवा मुहल्लों में बँटे हुए थे। इनमें से प्रत्येक मुहल्ला स्वयं परिपूर्ण था और उसमें एक ही पेशे अथवा जाति के लोग रहते थे। युरोप के मध्य-काल के व्यापारियों की तरह कारीगर और व्यापारी भिन्न भिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। प्रत्येक व्यवसाय वर्ग का एक चौधरी और एक दलाल होता था और व्यापार इन्हीं के द्वारा होता था। बड़े बड़े नगरों के बाहर खुले में बसे हुए नगर-भाग भी

होते थे। इनमें बड़े बड़े ख़ानदानी परिवार रहते थे उदाहरणार्थ पुरानी दिल्ली के कुछ बाहरी नगर-भाग मुग़लपुरा, जैसिंहपुरा और जसवन्तसिंहपुरा थे और आगरा के बाहर बलोचपुरा और प्रतापपुरा थे। प्राय: हर नगर और कस्बे की चहार दीवारी होती थी किन्तु नगर के बाहरी भाग चहार दीवारी के बाहर ही होते थे। नगर बसाने के समय सम्राट की आज्ञा से बड़ी बड़ी सड़कें बनाई जाती थीं और एक सार्वजनिक गन्दा नाला खोदा जाता था। कभी कभी नदी अथवा झील से पानी लाने के लिये सरकार पक्की नहर भी बनवा देती थी। किन्तु छोटी छोटी गलियाँ नागरिक स्वयं बनाते थे और कुँए खोद कर पानी का प्रबन्ध भी स्वयं ही करते थे। सरकार देश के अन्तरतर भाग में रहने वाले व्यक्तियों की केवल सुरक्षा की ही उत्तरदायी होती थी। वह बड़ी बड़ी सड़कों की सफाई करवाती थी, बाज़ारों पर नियन्त्रण रखती थी और तहबाज़ारी, कस्टम और चुंगी इत्यादि कर (टैक्स) वसूल करती थी। नगरवासियों से जो कर वसूल किये जाते थे उनमें अन्न कर और नमक कर सबसे मुख्य होते थे। सरकार रोशनी, जल, चौकीदारी, दवादारू अथवा शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं करती थी। इनका प्रबन्ध जनता स्वयं करती थी।

ग्रामीण जनता

ग्रामीण शासन प्रबन्ध हमारी जाति की सबसे बड़ी वैधानिक देन है। आदि काल से ही भारत की ग्रामीण जनता सुसंगठित रह कर अपने सारे मामले पंचायत के द्वारा तय करती आई है। प्रत्येक गांव में प्रजातन्त्रात्मक पंचायत होती थी। इनकी एक पंचायत होती थी जिसमें परिवारों के प्रधान रहते थे। ये पंचायत गाँव की चौकीदारी, सफाई, प्रारम्भिक शिक्षा प्रबन्ध, सिचाई, दवादारू, सड़क, चरित्र गठन और धार्मिक कृत्य इत्यादि के प्रबन्ध की उत्तरदायी होती थी। यह मनोरंजन, संगीत और उत्सवों का प्रबन्ध भी करती थी। मुक़दमों को तय करने के लिये एक पंचायत होती थी। गाँव की पंचायत की बहुत सी छोटी छोटी उपसमितियाँ होती थीं जिनके अलग अलग काम होते थे। इन उपसमितियों के सदस्य एक प्रकार के चुनाव के द्वारा ही चुने जाते थे। इसके अतिरिक्त विवादग्रस्त झगड़ों के तय करने के लिये जातीय पंचायतें भी होती थीं। ग्राम-पचायत में ये लोग होते थे:—एक या दो चौकीदार, एक पुरोहित, एक अध्यापक, एक ज्योतिपी, एक बढ़ई, एक लुहार, एक कुम्हार, एक धोबी, एक नाई, एक वैद्य और एक पटवारी। ग्रामीण जनता ही हमारे समाज और संस्कृति की सदा संरक्षिका रही है।

सेना

मुग़ल कालीन सेना संगठन मनसबदारी प्रथा कहलाती थी। यह प्रथा देश के

लिये नई प्रथा नहीं थी क्योंकि दिल्ली के सल्तनत काल में भी हमें इस प्रथा के चिह्न दिखाई देते हैं। शेरशाह और इस्लामशाह की सेना में भी कुछ इसी प्रकार का श्रेणी-विभाजन था। उनकी सेना में भी एक हज़ार, दो हज़ार या इससे भी अधिक टुकड़ियों के सेनापति होते थे। किन्तु अकबर ने इस प्रथा का वैज्ञानिक ढंग से यथाशक्ति संगठन कर दिया।

साधारणतः मनसब का अर्थ पद अथवा प्रतिष्ठा है। अतः मनसबदार शाही सेवा में पदवी धारण करने वाले व्यक्ति होते थे। अकबर के शासन काल में सबसे नीचा मनसब १० का और सबसे ऊँचा १०,००० का होता था। किन्तु शासन के अन्तिम दिनों में यह १२,००० तक का कर दिया गया था। पाँच हज़ार के ऊपर के मनसब शाहज़ादों के लिये ही सुरक्षित रहते थे, किन्तु कुछ समय बाद कुछ सरदारों को ७,००० की मनसबदारी भी दे दी गई थी। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में सरदारों को ८,००० तक की मनसबदारी मिल सकती थी किन्तु शाही परिवार के व्यक्ति को ४०,००० तक की मनसबदारी भी मिल सकती थी। उत्तर कालीन मुग़लों के समय में तो इसकी सीमा ५०,००० तक पहुँच गई थी।

मनसबदार तीन वर्गों में बँटे हुए थे। अर्थात् १० से ४०० तक के मनसबदार केवल 'मनसबदार' कहलाते थे। और ५०० से २,५०० के मनसबदार उमरा कहलाते थे और ५,००० अथवा उससे ऊपर के मनसबदार उमरा-ए-आज़म अथवा बड़े सरदार कहलाते थे।

अकबर के शासन के आरंभ में मनसब का एक वर्ग अथवा एक श्रेणी थी। किन्तु उसने अपने शासन के अन्तिम दिनों में हर मनसब की तीन श्रेणियों कर दी थीं। ५,००० से ऊपर के मनसबदार सवार कहलाते थे। मनसबदारों के लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे अपने मनसब के अनुसार सारे सैनिकों का ही निर्वाह करें। ब्लोचमैन, इरविन तथा स्मिथ इत्यादि कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि १,००० का मनसबदार १,००० का सेनापति होता था किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। यह ठीक है कि मनसबदारों को सेना की कुछ टुकड़ियों को नौकर रखना पड़ता था, किन्तु यह उनकी पदवी का केवल एक अंश होता था। शाही अफ़सरों की पदवी तथा वेतन निश्चित् करने के लिये मनसब-प्रथा सुविधाजनक प्रणाली थी। मनसबदारों की नियुक्ति, उन्नति और प्रथक्करण का कोई नियम नहीं था। साधारणतः जब कोई मनसबदार सैन्य-प्रदर्शन के समय अपने नियत सैनिकों को ले आता था तब उसके मनसब की उन्नति कर दी जाती थी।

ज़ात और सवार के अभिप्राय के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

लेखक का मत है कि जब अकबर ने इस प्रथा को जारी किया तब मनसबदार की पदवी तथा फ़ौजी टुकड़ी, घोड़े और हाथी इत्यादि की जो वास्तविक संख्या उन्हें रखनी पड़ती थी उसमें कोई विभिन्नता नहीं थी। यद्यपि विभिन्न पदों के मनसबदार घोड़ों हाथियों और ऊँटों इत्यादि की पूरी संख्या रखते थे किन्तु वे घुड़सवारों की पूरी संख्या नहीं रखते थे और न उन्हें सैन्य प्रदर्शन में ही लाते थे। अकबर ने यह देख कर अनुभव किया कि घुड़सवारों और लद्दू जानवरों इत्यादि को मनसबदारों के पदों में सम्मिलित करने से बड़ी गड़बड़ी मचती है। शायद इसी गड़बड़ी को दूर करने के लिये और प्रत्येक कोटि के मनसब के लिये नियत घुड़सवारों को अपनी सेना में रखने के लिये अकबर ने सवार और ज़ात मनसबों में भेद कर दिया था। इसके बाद ज़ात मनसबदार को घोड़े, हाथी, लद्दू जानवर इत्यादि तो निश्चित सख्या में रखने पड़ते थे किन्तु घुड़सवार नहीं। आधुनिक लेखकों का यह कहना ठीक नहीं कि ज़ात पद व्यक्तिगत होता था। इसके विपरीत अकबर के शासन काल में सवार पद के मनसबदार को घुड़सवार नियत संख्या में रखने पड़ते थे। उसके उत्तराधिकारियों के समय में इस नियम में भी कुछ शिथिलता आ गई और घुड़सवारों की संख्या ज़ात मनसबदार पद से कम होने लगी। अतः शाहजहाँ को यह नियम बनाना पड़ा कि प्रत्येक मनसबदार को अपने पद के अनुसार एक चौथाई फौज़ी टुकड़ियाँ अवश्य रखनी होंगी किन्तु यदि उसकी नियुक्ति भारत के बाहर होती है तो उसे अपने पद के अनुसार एक चौथाई के स्थान पर $\frac{1}{5}$ ही रखनी होगी। सर यदुनाथ सरकार के अनुसार "औरंगज़ेब के शासन के अन्तिम दस वर्षों में सब अफ़सरों के सामूहिक सेना-दलों को मिलाकर भी केवल दशांश ही रह गई थी।" औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों के समय में ये पद नाम मात्र के रह गये थे और ७,००० के मनसबदार के लिये ७ घुड़सवारों का रखना भी आवश्यक नहीं था। उदाहरण के लिये मुहम्मदशाह के समय (१७१६-१७४८) में ७,००० का मनसबदार लुफ़्तउल्लाखाँ सादिक़ अपनी सेना में सात गधे भी नहीं रखता था, सात घुड़सवारों की तो बात ही क्या।

पांच हज़ारी तथा उसके नीचे का प्रत्येक मनसबदार तीन श्रेणियों में विभक्त था, अर्थात् प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी। यदि किसी मनसबदार का सवार पद उसके ज़ात के पद के समान ही होता था तो उसका पद प्रथम श्रेणी का होता था। इसके विपरीत यदि उसका सवार पद ज़ात पद से कम होता था किन्तु वह ज़ात के पद से आधे से कम नहीं होता था तो उसे उस पद में द्वितीय श्रेणी मिलती थी। किन्तु यदि उसका सवार पद से उसके ज़ात पद कम होता था अथवा उसका सवार पद होता ही नहीं था तो वह तृतीय श्रेणी का मनसबदार होता था। उदाहरण के लिये यदि किसी मनसबदार का सवार पद भी ५,००० का है तो वह

पांच हज़ारी प्रथम श्रेणी का मनसबदार होगा। यदि उसका ज़ात मनसब ५,००० का और उसका सवार मनसब २५,००० का होता तो वह द्वितीय श्रेणी का मनसबदार होता था। यदि उसका ज़ात मनसब ५,००० का और सवार मनसब २,५०० से भी कम होता था तो वह तृतीय श्रेणी का मनसबदार होता था। यह नियम सभी मनसबों पर लागू होता था। दु-आसपा और सेह-आसपा के भेद के कारण इसमें और भी पेचीदगी आ गई थी। कोतल घोड़ों की संख्या के अनुसार मनसबदारों का वेतन नियत किया जाता था।

मनसबदार को अपनी जाति अथवा कबीले के लोगों को सेना में भर्ती करने का अधिकार था। अकबर के समय से लेकर मुहम्मदशाह के शासन काल तक विदेशी तुर्क, ईरानी, अफ़ग़ानी और देशी राजपूत ही अधिकतर मनसबदार थे। इनके अतिरिक्त कुछ अरब और दूसरे विदेशी भी मनसबदार थे। हिन्दुस्तानी मुसलमान अफ़सर तो बहुत ही कम थे। मनसबदारों को घोड़े तथा उनका साज सामान स्वयं ख़रीदना पड़ता था। किन्तु कभी-कभी यह सरकार द्वारा भी दे दिया जाता था। मनसबदार के अधिकार में जितने भी फौजी होते थे उनका वेतन उसे थोक रकम में मिल जाता था। अतः सिपाही सम्राट की सेवा में रहते हुए भी केवल उन्हीं सरदारों को जानते थे जिनसे उन्हें वेतन मिलता था।

मीर बख़्शी के सामने सेना का प्रदर्शन होता था और उसमें मनसबदार जितने सशस्त्र सैनिक ला सकता था उन्हीं के अनुसार उसका वेतन निश्चित होता था। जिस समय सूची तैयार होती थी और सेना का प्रथम प्रदर्शन होता था उस समय सैनिकों और घोड़ों का ब्यौरा लिखा जाता था और घोड़ों की दाईं जांघ पर सरकारी तथा बाईं जांघ पर मनसबदारी दाग़ दाग़ दिया जाता था। मनसबदारों को बहुत बड़ा वेतन मिलता था जो साज सामान की कीमत के निकाल देने पर भी बहुत काफी होता था।

सेना के विभाग

मुग़ल-सेना पाँच भागों में विभक्त थी। अर्थात् पैदल, घुड़सवार, तोपख़ाना, हाथी और जल सेना।

(१) पैदल

पैदल सेना को बहुत कम वेतन मिलता था और उसका कोई महत्व नहीं था। यह दो प्रकार की होती थी अर्थात् अहशाम और सेह बन्दी। दोनों प्रकार की सेनाओं के सैनिकों के पास तलवार और छोटा भाला होता था। उनके युद्ध का महत्व नाम मात्र का था। सेहबन्दी सैनिक बेकार लोगों में से भरती कर लिये जाते थे और प्राय:

मालगुज़ारी वसूल करने में सहायता देते थे। वे फौजी सैनिकों की अपेक्षा नागरिक पुलिस का काम अधिक करते थे।

(२) घुड़सवार

घुड़सवार दो प्रकार के होते थे। पहले प्रकार के घुड़सवारों को साज का सारा सामान सरकार से मिलता था। ये बरगीर कहलाते थे। दूसरे प्रकार के घुड़सवार सिलेदार कहलाते थे और अपने घोड़े तथा अस्त्र शस्त्र लाते थे। इनको बरगीरों से अधिक वेतन मिलता था।

(३) तोपख़ाना

इस विभाग में बन्दूकची या बन्दूक चलाने वाले सशस्त्र सैनिक होते थे। ये मीर आतिश अथवा तोपख़ाने के दारोगा की अधीनता में रहते थे। मुग़ल तोपख़ाना जिन्सी तथा दस्ती नामक विभागों में बँटा हुआ था। जिन्सी तोपख़ाने के पास भारी तोपें होती थीं और दस्ती के पास हल्की तोपें और कड़ाबीन बन्दूकें होती थीं। इन दोनों विभागों के शस्त्रागार तथा सेनापति अलग अलग होते थे किन्तु दोनों मीर आतिश की अधीनता में रहते थे।

(४) हाथी

हाथियों की नियुक्ति युद्ध क्षेत्र के लिये होती थी। सेनापति हाथियों पर बैठ कर सारी युद्ध-भूमि का निरीक्षण किया करते थे। हाथी शत्रु पर आक्रमण करने, पैदल रक्षा-पंक्ति को तोड़ने तथा क़िले के दरवाज़े तोड़ने के काम आते थे। किन्तु धड़ाधड़ तोपों के चलने पर हाथी लाभदायक न होकर हानिकारक सिद्ध होते थे।

(५) जलसेना

मुग़ल अपनी निजी जल सेना नहीं रखते थे। उन्होंने पश्चिमी समुद्र तट की रक्षा का भार अबिसिनियनों को तथा जंजीरा के सिद्दियों को सौंप रक्खा था किन्तु पूर्वी बंगाल की सरकार अनेक प्रकार की नावों का बेड़ा रक्खा करती थी। इन नावों पर तोपें चढ़ी रहती थीं और ये एक दारोगा के अधिकार में रहती थीं। दारोगा के अतिरिक्त नावों का एक और अफ़सर होता था जो मीर बहार कहलाता था और जब शाही सेना को नदी पार करनी होती थी तब वह नावों का पुल बनवाता था। किन्तु सरकार के पास बहुत बड़ी संख्या में निजी नावें नहीं रहती थीं।

मनसबदार तथा उनकी फौजी टुकड़ी के अतिरिक्त अहदी (सभ्य) घुड़सवार तथा दाख़िली (पूरक) घुड़सवार भी होते थे। इनकी भर्ती मीर बख़्शी स्वयं करता था और इनके वेतन भी केन्द्रीय ख़ज़ाने से सीधा ही मिल जाता था। यद्यपि मीर

बख़्शी अहदी और दाख़िली घुड़सवारों की ही भर्ती करता था किन्तु सैन्य प्रदर्शन और अनुशासन का वही अधिकारी होता था चाहे वह भर्ती मनसबदारों ने की हो अथवा स्वयं उसने। किन्तु मीर बख़्शी सेना का प्रधान नहीं होता था। सारी सेना का प्रधान सेनापति सम्राट स्वयं होता था। मीर बख़्शी का काम रंगरूट भर्ती करना, सेना का प्रदर्शन देखना और उनके वेतन का बिल पास करना था।

मुग़ल-सेना आजकल की तरह रेजीमेन्टों में विभक्त नहीं थी। इसमें न तो रेजीमेन्टों जैसी ड्रिल थी न अनुशासन था और न ही ठीक सैनिक शिक्षा थी। सैनिकों की वास्तविक संख्या मीर बख़्शी के रजिस्टर में लिखी हुई संख्या से बहुत कम होती थी। मनसबदार की व्यक्तिगत फौजी टुकड़ी और प्रधान सेनापति में कोई सम्पर्क नहीं रहता था क्योंकि वह मनसबदार को ही अपना तात्कालिक प्रधान समझती थी। सैनिकों का वेतन प्रायः बकाया पड़ा रहता था। उत्तरकालीन मुग़लों के समय में तो कभी कभी तीन तीन वर्ष का वेतन भी नहीं दिया जाता था। मुग़ल काल के प्रारंभिक काल में सेना की शक्ति मुग़ल घुड़सवारों की तेज़ी पर निर्भर थी। किन्तु पहाड़ियों, राजपूताने के रेगिस्तानों और महाराष्ट्र में यह तेज़ी व्यर्थ हो जाती थी। औरंगज़ेब के शासन-काल में तो "यह चालाक मराठों की बुरी तरह शिकार बन गई थी" और अठारहवीं शताब्दी में "अनुशासन पूर्ण युरोपियन सेना के सामने तो यह बिलकुल निकम्मी साबित हो गई थी।"

लगान व्यवस्था

साम्राज्य की आय के दो मुख्य साधन थे अर्थात् केन्द्रीय और स्थानीय। वाणिज्य, खान, भेंट, पैतृक सम्पत्ति, नमक, चुङ्गी और भूमि पर केन्द्रीय कर लगता था। इन सब में भूमि कर सबसे अधिक लाभदायक और महत्त्वपूर्ण था। बाबर और हुमायूँ तीर्थ-यात्रा कर लगाते थे। वे हिन्दुओं से जिज़िया और मुसलमानों से ज़कात कर वसूल करते थे। अकबर ने तीर्थ यात्रा-कर और जिज़िया हटा दिया था किन्तु औरंगज़ेब ने १६७९ के प्रारंभ में इन्हें फिर लगा दिया था। सैयद भाइयों के प्रभुत्व काल में यह फिर उठा लिया गया। मुहम्मदशाह ने इसे पुनः लगाया किन्तु फिर उसे हटाना पड़ा। मुग़लों के अधिकार के अन्त तक हिन्दुओं पर तीर्थ-यात्रा कर और शवों की हड्डियों को नदी में फेंकने का कर लगता ही रहा।

भूमि कर

बाबर और हुमायूँ के समय तक सल्तनत काल की मालगुज़ारी-प्रथा ही जारी रही और मालगुज़ारी भूमि तथा उपज के जाँच पड़ताल कराये बिना पुराने

हिसाब से ही वसूल की जाती रही। किन्तु अकबर ने अनेक प्रयोगों के बाद माल-गुज़ारी प्रथा में बिलकुल परिवर्तन कर दिया और 'टोडर मल के बन्दोबस्त' को जारी कर दिया। यह प्रथा १५८० की आइने दहसाला के कुछ निश्चित सिद्धान्तों पर बनाई गई थी। सबसे पहले क्षेत्रमिति की निश्चित प्रणाली के अनुसार भूमि की नापजोख हुई और हर गांव के हर किसान की जोतने योग्य भूमि को नाप कर सारे साम्राज्य की भूमि नाप ली गई। इसके बाद उपजाऊ तथा अनुपजाऊ के अनुसार भूमि को चार भागों में बांट दिया गया। ये भेद पोलज, परौती (परती) छच्चर और बंजर थे। हर प्रकार की भूमि के हर बीघे की गत दस वर्षों की उपज के औसत के आधार पर हर परगने की उपज अलग अलग निर्धारित की जाती थी। उपज का एक तिहाई लगान होता था। राज्य कर रुपये के रूप में भी दिया जा सकता था। इसके लिये अकबर ने अपने सारे साम्राज्य को दस्तूरों में बांट रखा था। इनमें से हर एक में हर प्रकार के अन्न का मूल्य समान ही रहता था। गत दस वर्षों की फसल के मूल्य के औसत के आधार पर हर दस्तूर का मूल्य निश्चित किया जाता था। चालू मूल्य के आधार पर अनुपात निकाला जाता था। ऊपर बताई गई गणना के आधार पर किसान राज्य कर निर्धारित किया जाता था। यह आवश्यक नहीं था कि किसानों के राज्य कर के निश्चित करने के लिये प्रतिवर्ष की वास्तविक उपज अथवा अन्न के चालू मूल्य का अनुमान लगाया जाय। किन्तु सरकार करों को समय समय पर घटाने बढ़ाने के लिये उपज और फसल के मूल्य का ब्यौरा प्रतिवर्ष रखा करती थी। प्रारंभ में यह प्रथा केवल खालिसा प्रदेश में ही जारी की गई थी। इसके बाद अकबर ने इसे जागीरी भूमि में भी जारी कर दिया। शेरशाह की तरह अकबर भी उपज का एक तिहाई अन्न अथवा उसके मूल्य के रुपये लगान में लिया करता था। लगान का यह निर्णय किसानों से सीधा हुआ था, अतः यह रैय्यतवारी प्रथा थी। हर किसान को पट्टा दिया जाता था और उसे क़बूलियत पर हस्ताक्षर करने होते थे। यदि किसी गांव या परगने पर कोई दैवी विपत्ति आ जाती थी तो अकबर लगान माफ़ कर दिया करता था किन्तु यह माफ़ी हानि के अनुपात के अनुसार होती थी। परगनों के सरकारी अफ़सर गांव के पटवारी और मुखियाओं की सहायता से लगान वसूल किया करते थे। यह प्रथा वैज्ञानिक और न्यायानुकूल थी। सभी एंग्लो इण्डियन लेखकों ने इस प्रथा की प्रशंसा की है।

अकबर के शासन काल में इस प्रथा के अनुसार ठीक ठीक काम होता रहा किन्तु जहाँगीर के समय में इस प्रथा में दोष आने लगे। शाहजहाँ और औरंगज़ेब के समय में सरकार ने अकबर के रैय्यतवाड़ी बन्दोबस्त के साथ साथ ठेकेदारों को भूमि उठाना आरंभ कर दिया जो अत्यन्त हानिकारक था। पहले तो जागीरी भूमि में

रैय्यतवाड़ी प्रथा बन्द की गई और फिर खालिसा भूमि में भी ठेकेदारी की प्रथा जारी कर दी गई। उत्तर कालीन मुग़लों के समय में टोडरमल का बन्दोबस्त बिलकुल समाप्त हो गया और ठेकेदारी की प्रथा जारी हो गई।

सम्पूर्ण मध्य भारत काल में किसान और लगान उगाने वालों के बीच खींचातानी बनी रही। चाहे ये फिर ठेकेदार रहे हों या सरकारी अफ़सर। अमीन सरकार की आज्ञा के विरुद्ध अनेक प्रकार के करों के बहाने वास्तविक लगान से बहुत अधिक उगाने का प्रयत्न किया करते थे। ये इतने प्रकार के होते थे कि इनकी गणना करना भी सम्भव नहीं है। मुग़ल सम्राट इनको दूर करने का बार बार प्रयत्न किया करते थे किन्तु ये किसी न किसी रूप में फिर जारी हो जाते थे। किसान भी यथा-सम्भव कर देना नहीं चाहते थे क्योंकि वे अनुचित थे और समय असमय वसूल किये जाते थे। इसका एक कारण यह था कि सारी भूमि सम्राट की समझी जाती थी और उसका यह अधिकार समझा जाता था कि वह किसानों के पास गुजारे के लायक अन्न छोड़कर उनसे अधिक से अधिक ले सके। इसके अतिरिक्त एक बात और थी कि लगान वसूल करने वाले अफ़सर अपने लिये नज़राना, भेंट इत्यादि ज़बर्दस्ती वसूल कर लिया करते थे। इन सब कारणों से किसानों के पास बहुत अधिक बकाया बना रहता था। इन सब का परिणाम यह हुआ कि अकबर और जहांगीर के शासन काल को छोड़कर सारे मुग़ल काल में किसानों की दशा असन्तोषजनक ही बनी रही।

मुद्रा और टकसाल

अर्थ विभाग मुद्रा का प्रबन्ध करता था और टकसाल तथा ख़ज़ाने पर नियन्त्रण रखता था। बाबर और हुमायूँ ने तो पुरानी मुद्रा प्रणाली को ही जारी रखा और उसी आधार पर अपने नामके सिक्के चलाये। शेरशाह ने इस प्रणाली में उन्नति की और १७५—१८० ग्रेन का रुपया तथा ताँबे का दाम चलाया। १५७७ में अकबर ने मुद्रा में सुधार किया और शीराज़ के ख़्वाजा अबुल समद को दिल्ली की शाही टकसाल का अधिकारी बनाया। उसने सोने, चांदी और ताँबे के अनेक प्रकार के और अनेक तौलों के भिन्न-भिन्न सिक्के निकाले। केवल सोने के सिक्कों के ही २६ भेद थे। चाँदी का मुख्य सिक्का रुपया था जो तौल में १७२॥ ग्रेन था। रुपया गोल और चौकोर दोनों प्रकार का था। ताँबे की प्रधान मुद्रा दाम थी जिसे पैसा या फुलूस भी कहा जाता था। इसकी तोल ३२३·५ (१ तोला ८ माशा ७ सुर्ख) ग्रेन होती थी। चालीस दाम का १ रु० होता था। अकबर ने सिक्कों पर अपनी मूर्ति नहीं खुदवाई थी। जहांगीर पहला सम्राट था जिसने सिक्कों पर अपनी मूर्ति खुदवाई और उसके एक सिक्के पर तो

सीधे हाथ में शराब का प्याला लिये हुए उसकी मूर्ति अंकित है। जहाँगीर के एक चाँदी के सिक्के पर राशि चक्र भी है। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों ने ही अकबर की मुद्रा-प्रणाली को जारी रक्खा किन्तु उन्होंने सिक्कों पर अपना नाम अवश्य खुदवा दिया। औरंगज़ेब के शासन काल में इसमें थोड़ा सा परिवर्तन हुआ और रुपये में ८% वृद्धि कर दी गई। मुग़ल साम्राज्य के पतन तक यही प्रणाली जारी रही।

सिक्कों के लिये सोना चाँदी अधिकतर विदेशों से मंगाया जाता था और अधिकांश भाग पूर्वी अफ्रीका से आता था। कोई भी व्यक्ति सोने चाँदी का देश से निर्यात नहीं कर सकता था। विदेशों से जो सोना चाँदी आता था वह सिक्कों के ढालने, गहने अथवा दूसरी विलास-वस्तुओं के बनाने तथा ख़ज़ाना जमा करने के काम आता था। राजपूताना, मध्यभारत तथा हिमालय पर्वत माला में ताँबा बहुत पाया जाता था।

न्याय व्यवस्था

सल्तनत काल में न्याय व्यवस्था इस्लाम के क़ानूनों पर निर्धारित थी। इसके अनुसार जनता मुसलमान और ग़ैर-मुसलमान दो वर्गों में बंटी हुई थी और ग़ैर-मुसलमान राज्य के नागरिक नहीं समझे जाते थे। बादशाह इस्लाम के क़ानून के अनुसार ही सब मुक़दमों का फ़ैसला करता था फिर चाहे वादी प्रतिवादी मुसलमान हों या ग़ैर मुसलमान। बाबर और हुमायूँ तक यही प्रथा जारी रही। यद्यपि अकबर ने इस्लामी राज्य प्रणाली को तो अस्वीकार कर दिया था किन्तु उसने न्याय व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया। इसने उसमें छोटे मोटे सुधार कर इसे अधिक उपयोगी बना दिया। अकबर ने महत्वपूर्ण सुधार यह किया कि उसने इस्लामी क़ानून की सीमा को सीमित कर देश के सामान्य एवं प्रचलित क़ानून का विस्तार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिक से अधिक मुक़दमों का निर्णय देश के सामान्य क़ानून के अनुसार होने लगा। उदाहरण के लिये इस्लामी क़ानून यह था कि जो व्यक्ति इस्लाम धर्म छोड़ दे उसे प्राण-दंड दिया जाय अथवा जो ईसाई या हिन्दू धर्म का प्रचार करे उसे भी प्राण-दंड दिया जाय। किन्तु अकबर ने इन इस्लामी क़ानूनों को रद्द कर दिया। उसने हिन्दुओं के मुक़दमों का निर्णय करने के लिये हिन्दू न्यायाधीश नियुक्त किये। इन सुधारों को छोड़ कर अकबर के शासन काल में भी न्याय व्यवस्था वही रही जो सम्पूर्ण मुग़ल काल में रही थी।

सम्पूर्ण मुग़ल काल में सम्राट न्याय का उद्गम माना जाता रहा था। उसने न्याय के लिये बुद्धवार निश्चित कर दिया था। इस दिन वह खुले न्यायालय में न्याय किया करता था। शाही अदालत में प्रधान क़ाज़ी, दूसरे न्यायाधीश तथा धर्माचार्य उपस्थित रहते थे। सम्राट अपील की सबसे बड़ी अदालत होता था किन्तु कभी कभी

वह प्रथम बार भी मुक़दमे सुन लिया करता था। परन्तु न्याय के लिये सम्राट तक पहुंचना कठिन काम था और सम्राट के पास न्याय करने के लिये समय भी बहुत कम होता था।

सम्राट की अदालत से नीची अदालत प्रधान काज़ी की होती थी। काज़ी कुरान के क़ानून के अनुसार राजधानी में मुक़दमे किया करता था। उसकी अदालत में भी अपीलें सुनी जाती थीं किन्तु कभी कभी वह भी प्रारम्भिक मुक़दमों को सुन लिया करता था। प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक प्रान्तीय काज़ी रहता था। उसे साम्राज्य का प्रधान काज़ी नियुक्त किया करता था। प्रत्येक कस्बे में काज़ी रहता था और जिस बड़े गांव में मुसलमानों की अधिकता होती थी वहाँ भी काज़ी नियुक्त कर दिया जाता था। "प्रान्तीय काज़ी का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता था और फिर भी उसे कोई स्थानीय सहायक नहीं मिलता था, अतः वह स्वयं प्रान्त के बहुत कम मुक़दमों का फ़ैसला कर पाता था।" (सरकार, Mughul Administration, पृष्ठ ९६-९७) इस कारण गांव, कस्बे एवं नगरों तक के मुक़दमों का निर्णय पंचायतों द्वारा ही किया जाता था। मुग़लों के शासन-प्रबन्ध में न्याय विभाग के समान निकम्मा शायद कोई दूसरा विभाग नहीं था। केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में श्रेणीबद्ध न्यायालय नहीं थे। न तो सारी जनता के लिये एक क़ानून था और न क़ानून के अभिप्राय (व्याख्या) को बताने वाला कोई सर्वोच्च न्यायालय ही था। मुग़लों के शासन काल में तीन प्रकार के अलग अलग अदालती विभाग थे जो स्वतन्त्रता पूर्वक काम करते थे। इनमें से धार्मिक क़ानून की अदालतें काज़ी के अधीन, सर्व साधारण के क़ानून की अदालतें राज्यपाल तथा दूसरे अधिकारियों के अधीन तथा राजनैतिक अदालतें सम्राट अथवा उसके प्रतिनिधि के अधीन होतीं थी।

(१) धार्मिक क़ानून की अदालतें

प्रारंभ में तो क़ाज़ी ही दीवानी और फौज़दारी के सब मुक़दमों का न्याय किया करता था किन्तु मुग़लों के समय में यह प्रथा बन्द कर दी गई और काज़ी केवल धर्म सम्बन्धी मुक़दमों का ही निर्णय करने लगा। इनमें से कुछ मुक़दमे तो पारिवारिक अथवा पैतृक क़ानून से सम्बन्ध रखते थे और कुछ धार्मिक दान इत्यादि से। इनका निर्णय कुरान के क़ानून के अनुसार होता था। काज़ी अपने पहले के काज़ियों तथा मुफ़्तियों की व्याख्या तथा नज़ीरों कोमानने के लिये बाध्य होता था। मुफ़्ती की मौलिक उपाधि वकीले शरा अथवा कुरान-क़ानून-विशारद थी। यह आजकल के एडवोकेट जनरल से मिलता जुलता था और काज़ी पर इसका

बहुत अधिक प्रभाव रहता था। काज़ी का काम वक्फ़ तथा अनाथ एवं दीन अपाहिजों के लिये लगी हुई रियासतों का प्रबन्ध करना भी होता था। जिन मुसलमान स्त्रियों के सम्बन्धी पुरुष नहीं होते थे उनके मेहर का ब्यौरा भी काज़ी ही रखता था। काज़ी के न्यायालय में ग़ैर मुसलमानों की गवाही मान्य नहीं थी।

काज़ी मुस्लिम अथवा कुरानी क़ानून के अनुसार न्याय किया करता था क्योंकि राज्य में दूसरा क़ानून मान्य नहीं था। इस्लामी क़ानून का जन्म भारत के बाहर हुआ था और यह व्यवस्था के आधार पर न बनकर इलहाम के आधार पर बना था। इस क़ानून के दो और आधार थे अर्थात् नज़ीरें और क़ानून विशारदों की सम्मतियाँ। उल्लेखनीय बात यह है कि ये दोनों कुरानी-क़ानून की केवल व्याख्या कर सकते थे उसमें कुछ घटा बढ़ा नहीं सकते थे क्योंकि कुरान ईश्वरीय ग्रन्थ समझा जाता है। एक बात और थी कि सभी इस्लामी क़ानूनों के आधार विदेशी होने के कारण बड़े से बड़े विद्वान हिन्दुस्तानी काज़ी का निर्णय क़ानूनी सिद्धान्त बनाने के लिये मान्य नहीं समझा जाता था। कुरान के गूढ़ रहस्यों की स्पष्ट व्याख्या करने के लिये अथवा कुरानी क़ानून के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये वह कुछ घटा बढ़ा नहीं सकता था। जिन क़ानूनों के विषय में कुरान में स्पष्टता नहीं है उनके विषय में भी वह अपना निजी मत नहीं दे सकता था।" अतः हिन्दुस्तानी काज़ियों को मुस्लिम विचार धारा के चार प्रकार के क़ानून शास्त्रियों के मत पर ही निर्भर रहना पड़ता था। वे चार मत के विद्वान् थे (१) हनफ़ी (२) मलकी (३) शफ़ी और (४) हमवली। मुग़ल सम्राट हनफ़ी विचार धारा के मानने वाले थे जो सुन्नी कट्टर पन्थी थी। औरंगज़ेब ने दो लाख रुपया व्यय करके क़ानून शास्त्रियों द्वारा हनफ़ी क़ानूनों का संग्रह करवाया जो फ़तवा-ए-आलमग़ीरी नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन सब कारणों से भारत में न तो मुसलमानी क़ानून में कोई वृद्धि हुई और न कोई परिवर्तन ही हुआ। किन्तु क़ानून शास्त्रियों ने जितना परिवर्तन अरब और ईरान के क़ानूनों में किया, उतना परिवर्तन यहाँ अवश्य हुआ।" (जे० सरकार, Mughul Administration पृष्ठ १०१)

हम देखते हैं कि मध्य कालीन भारत के सम्पूर्ण इतिहास में ग़ैर मुसलमानी जनता को न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़े। इसका कारण एक तो पहले बताये गये न्याय-विभाग सम्बन्धी दोष थे, दूसरे मुसलमानी राज्य में धार्मिक क़ानून और दीवानी क़ानून अलग अलग नहीं थे। अकबर ने शासन के अन्य अंगों में तो सुधार किया किन्तु उसने फ़ौजदारी क़ानून में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, अतः यह इस्लामी क़ानून के आधार पर ही चलता रहा।

सार्वजनिक न्यायालय

सार्वजनिक न्यायालयों का प्रधान राज्यपाल, दूसरे स्थानीय पदाधिकारी, फ़ौज़दार और कोतवाल होते थे। अकबर के शासन काल में हिन्दुओं के मुक़दमों का निर्णय करने के लिये ब्राह्मण पण्डित नियुक्त किये गये थे। ग्राम पंचायतें तथा जाति पंचायतें भी इसी प्रकार का काम किया करती थीं। सार्वजनिक न्यायालयों के न्यायाधीश काज़ी के अधीन नहीं थे। काज़ी से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। वे शरियत अथवा कुरानी क़ानून के अनुसार न्याय न करके प्रचलित रीति रिवाज़ों के अनुसार न्याय करते थे।

राजनैतिक न्यायालय

विद्रोह, ग़बन, सिक्कों में मिलावट, दंगे, चोरी, डकैती, राज्य के पदाधिकारियों की हत्याएं इत्यादि के मुक़दमों का निर्णय सम्राट अथवा उसके प्रतिनिधि प्रान्तीय राज्यपाल, फौज़दार या कोतवाल द्वारा किया जाता था। इनका निर्णय राज्य को आवश्यकताओं के अनुसार होता था, कुरान के क़ानून के अनुसार नहीं। इसके अलावा काज़ी इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।

अपराधों के प्रकार

इस्लामी धर्म शास्त्र के अनुसार अपराध तीन प्रकार के थे अर्थात् (१) ईश्वरीय अपराध (२) राज्य अपराध और व्यक्तिगत अपराध।

ईश्वरीय अपराध अक्षम्य समझे जाते थे और इनके अपराधी को दण्ड अवश्य मिलता था। इन अपराधों का सम्बन्ध ईश्वरीय नियमों के उलंघन से था। इनको "हक़ अल्लाह" कहा जाता था। दूसरे दोनों प्रकार के अपराध क्षम्य तथा अपराधी से सन्धि करने योग्य होते थे। कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य-हत्या न तो ईश्वरीय अपराध समझा जाता था और न शान्ति भंग करने वाला, किन्तु मृत व्यक्ति के परिवार की केवल हानि मात्र समझा जाता था। इसके लिये घातक मृत व्यक्ति के निकटतम सम्बन्धी को क्षति पूर्ति का रुपया (खून का मूल्य) देकर उससे समझौता कर सकता था। फिर राज्य का प्रधान प्रबन्धक अथवा जज इस पर कोई ध्यान नहीं देते थे। किन्तु जब मृत व्यक्ति के सम्बन्धी धन लेना अस्वीकार कर देते थे और बदले की ज़ोरदार मांग करते थे तब काज़ी को प्राण-दण्ड की घोषणा करनी पड़ती थी और प्रबन्धक को प्राण-दण्ड देना पड़ता था। (सरकार, Mughul Administration, पृष्ठ १०२)

मुस्लिम क़ानून में दण्ड विधान

अपराधों के लिये चार प्रकार के दण्ड थे अर्थात् (१) हद्द (२) ताज़िर (३)

क़िसास और तशहीर । इनके अतिरिक्त एक और अपराध था जो हजात या हवालात कहलाता था ।

(१) हद्द

यह ईश्वरीय अपराध का दण्ड था और इसे कोई भी क्षमा नहीं कर सकता था । हद्द के अन्तर्गत निम्नलिखित अपराध और उनके दण्ड निर्धारित थे ।

अपराध	दण्ड
(१) पर स्त्री अथवा पर पुरुष के साथ व्यभिचार	पत्थर मार मार कर मार डालना
(२) कुमार अथवा कुमारी के साथ व्यभिचार	१०० कोड़े
(३) विवाहिता स्त्री पर व्यभिचार का मिथ्या आरोप	८० कोड़े
(४) शराब और मादक पदार्थ का पीना	८० कोड़े
(५) चोरी	सीधे हाथ का काट देना
(६) खुले मार्ग में डकैती	हाथ पैरों का काट देना
(७) डकैती और हत्याएँ	तलवार अथवा फांसी से हत्या
(८) धर्म त्याग (कुफ्र)	मृत्यु

(२) ताज़िर

इसके अन्तर्गत वे अपराध हैं जिनका उल्लेख हद्द के अन्दर विशेष रूप से नहीं किया गया है । ताज़िर के अन्दर आये हुए अपराधों का दण्ड देना जज की इच्छा पर निर्भर था । यदि वह चाहता तो अपराधी को बिलकुल छोड़ सकता था क्योंकि ताज़िर के अपराध 'हक़ ख़ुदा' के अन्दर नहीं आते थे और केवल अपराधी को सुधारने के लिये दिये जाते थे । इस प्रकार के अपराधों के लिये निम्न प्रकार के दण्ड दिये जाते थे जैसे लोक निन्दा, अपराधी को न्यायालय के द्वार तक घसीटना, जनता से निन्दा कराना, कारावास अथवा देश-निष्कासन अथवा कान ऐंठना अथवा ३ से ७५ तक कोड़े लगवाना । ये दण्ड अपराधी की प्रतिष्ठा के अनुसार दिये जाते थे । कभी कभी जुर्माना भी कर दिया जाता था ।

(३) क़िसास अथवा बदला

हत्या अथवा गहरी चोट के लिये प्रायः बदले का दण्ड ही दिया जाता था । चोट खाये हुए व्यक्ति का अथवा मृत व्यक्ति के निकटतम सम्बन्धी का यह व्यक्तिगत अधिकार था कि वह बदला अथवा क्षतिपूर्ति की मांग करे । दोनों पक्षों के राजी न होने पर मुक़दमा काज़ी के पास भेजा जाता था । यदि मृत व्यक्ति के सम्बन्धी घातक

द्वारा दिये गये धन से संतुष्ट हो जाते थे अथवा बिना क्षतिपूर्ति के ही घातक को क्षमा कर देते थे तो सम्राट कुछ भी ध्यान नहीं देता था। छोटे मोटे अपराध के लिये तो मूसा के क़ानून के अनुसार 'दाँत के लिये दाँत और आँख के लिये आँख' का मुहावरा चरितार्थ होता था किन्तु इसमें कुछ अपवाद रहते थे।

(४) तशहीर अथवा सार्वजनिक निन्दा

यह क़ानून इस्लामी क़ानून पुस्तकों में मान्य था और इतिहास के सारे मध्य-काल में मुग़ल सम्राट और काज़ी इसके अनुसार निर्णय किया करते थे। यह क़ानून हिन्दुओं के लिये भी मान्य था। तशहीर अपराध में प्राय: अपराधी का सिर मुड़वाना, गधे की पूँछ की तरफ़ अपराधी का मुँह करवा कर उस पर बिठाना, मुँह पर धूल पोत देना, कभी कभी जूतों का हार पहना कर गाजे बाजे के साथ नगर की मुख्य मुख्य सड़कों में घुमाना इत्यादि थे। कभी कभी अपराधी का मुँह काला कर दिया जाता था।

कुरान में राज-विद्रोह, राज्य के धन का दुरुपयोग और लगान न देना इत्यादि अपराधों के विषय में कोई स्पष्ट क़ानून नहीं था, अतः इस प्रकार के अपराधों का दण्ड सम्राट अपनी इच्छा के अनुसार देता था। प्राण-दण्ड अपराधी को हाथी से कुचलवा कर, जिन्दा जला कर, कोबरा साँप से कटवा कर अथवा दबा कर दिया जाता था! अनेक प्रकार की अन्य यन्त्रणाएँ भी दण्ड के लिये सामान्य रूप से प्रचलित थीं। मृत्युदण्ड निम्न अपराधों के लिये दिया जाता था :—

(१) डाके में की गई हत्याएं।

(२) हत्या, जबकि मृत व्यक्ति का निकटतम सम्बन्धी क्षति-पूर्ति का धन लेना अस्वीकार कर दे।

(३) पर पुरुष अथवा पर स्त्री से व्यभिचार।

(४) इस्लाम धर्म का त्याग।

(५) नास्तिकता।

(६) पैग़म्बर (साब्ब-अल रसूल) का अपमान।

इसके अतिरिक्त हनफ़ी मुस्लिम क़ानून के अनुसार जिसका मुग़ल सम्राट पालन करते आये थे, निम्नलिखित तीन हत्याएँ क़ानूनसम्मत समझी जाती थीं।

(१) उन सम्बन्धियों की हत्या जो इस्लाम में विश्वास नहीं रखते हैं और जिन्होंने पैग़म्बर अथवा अल्ला का अपमान किया है।

(२) उस ग़ैर मुसलमान युद्ध-बन्दी की हत्या जिसकी मुक्ति और प्राण दण्ड के कारण समान हों।

(३) आत्म रक्षा, समृद्धि रक्षा और सहायक रक्षा में किसी की हत्या करना।

ऋण अथवा दूसरे छोटे-छोटे अपराधों के लिये प्रायः कारावास का दण्ड दिया जाता था।

धार्मिक-नीति

कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि मुग़ल काल में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता थी और उन्होंने प्रत्येक जाति को धार्मिक स्वतन्त्रता की खुली छूट दे रखी थी। किन्तु समकालीन लेखों के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि उनका यह विश्वास भ्रम पूर्ण है। २०० वर्ष से कुछ ही अधिक (१५२६-१७४८) के मुग़ल काल में केवल अकबर के ४॥ वर्ष के शासन काल (१५६५-१६०५) में हिन्दुओं को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता रही। जहाँगीर के शासन काल (१६०५-१६२७) में धार्मिक सहिष्णुता कुछ कम हो गई। शाहजहाँ के शासन काल (१६२८-१६५७) में इसमें और कमी आ गई और अकबर के पूर्व दिनों की धार्मिक नीति के अपनाने की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। यह सर्व विदित तथ्य है कि औरंगज़ेब ने अकबर की धार्मिक नीति का त्याग कर ग़ैर मुसलमानों के प्रति किसी प्रकार की भी धार्मिक सहिष्णुता को सहन नहीं किया। उसके उत्तराधिकारी भी उसी के पद-चिह्नों पर चले और मुग़ल काल के पतन तक धार्मिक असहिष्णुता सिद्धान्त रूप में विद्यमान रही। इन सब कारणों से स्पष्ट है कि मुग़ल काल में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता नहीं रही थी। सच तो यह है कि यह युग दो शक्तियों के संघर्ष का युग था। अर्थात् यह युग धार्मिक सहिष्णुता और मुस्लिम-धर्मान्धता का युग था जिसके अन्त में धर्मान्धता की विजय हुई।

यद्यपि बाबर सल्तनत काल के शासकों की अपेक्षा अधिक संस्कृत और उदार था किन्तु उसने इस्लाम धर्म को पूर्ण महत्त्व देकर क़ुरान की नीति का ही अनुकरण किया और ग़ैर मुसलमानों को धार्मिक स्वतन्त्रता कभी भी नहीं दी। उसने अपने संस्करण में हिन्दुओं को काफ़िर और उनके विरुद्ध किये गये युद्ध को धार्मिक युद्ध (ज़िहाद) कहा है। राणा सांगा को तो वह अभिशप्त काफ़िर समझता था। बाबर ने इस वीर योद्धा राजपूत सरदार और चन्देरी के मेदनीराय के विरुद्ध जो युद्ध किये, उन्हें काफ़िरों के विरुद्ध इस्लाम की विजय कह कर पुकारा है। यह संस्कृत सम्राट भी हिन्दुओं की मृत्यु के वर्णन करते समय लिखता था कि अमुक काफ़िर जहन्नुम में चला गया। उसने मुसलमानों को स्टाम्प-करों से मुक्त कर दिया और उन्हें केवल हिन्दुओं पर ही लगाया। उसने चंदेरी के हिन्दू मन्दिरों को ढाया और उसकी आज्ञा से उसके एक अफ़सर ने जिसका नाम मीर बकी था, अयोध्या (फैजाबाद) के उस मन्दिर को गिराया जो श्री रामचन्द्र के जन्म स्थान में बनाया

गया था। उसने इसके स्थान पर १५२८-२९ में एक मस्जिद बनवा दी। (मस्जिद के शिलालेख के लिये देखो, Journal of the U. P. Historical Society, १९३६) उसके शासन काल में दूसरे हिन्दू और जैन मन्दिर भी गिराये गये। प्रोफेसर श्रीराम शर्मा लिखते हैं कि "ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे यह विश्वास किया जा सके कि बाबर ने प्रचलित धार्मिक नीति की कड़ाई में किसी प्रकार की शिथिलता कर दी थी।" *

जहाँ तक हिन्दुओं के प्रति धार्मिक नीति अपनाने का ही सम्बन्ध है हुमायू ने अपने पिता के पद-चिन्हों का ही अनुसरण किया। उसने बहादुरशाह पर उस समय आक्रमण करना स्वीकार नहीं किया जब कि बहादुरशाह चित्तौड़ के राजपूतों के साथ युद्ध करने में फँसा हुआ था क्योंकि वह अपने एक मुसलमान भाई पर उस समय हमला करके अपयश लेना नहीं चाहता था जबकि वह (मुसलमान भाई) काफ़िरों को हरा कर धार्मिक यश प्राप्त कर रहा था। शिया समुदाय को सहन करने के लिये भी हुमायूँ को कुछ परिस्थितियों ने विवश कर दिया था। हुमायूँ को भारत के बाहर खदेड़ने वाला अफ़गानी शासक शेरशाह भारत में इस्लामी झण्डे के फहराने के लिये हुमायूँ से भी अधिक इच्छुक था। उसने जोधपुर के प्रधान मन्दिर को तोड़ कर उसे मस्जिद बना दिया जो प्रमाण स्वरूप आज भी खड़ी हुई है। उसने रायसिन के पूरनमल के विरुद्ध ज़िहाद इसीलिये बोला था कि जिससे वह एक घोर नास्तिक (काफ़िर) को दबा कर धार्मिक यश प्राप्त कर सके। शेरशाह का उत्तराधिकारी इस्लामशाह तो मुस्लिम उलेमाओं के हाथ की कठपुतली ही था। उसकी धार्मिक नीति तो हिन्दू तथा मुसलमान काफ़िरों को सताने की ही रही थी।

अकबर महान् ही ऐसा था जिसने सम्राज्य की धार्मिक नीति में पूर्ण परिवर्तन कर दिया। उसका विश्वास था कि "सत्य सर्वव्यापी है"। उसने सबसे पहले १५६३ में उस तीर्थ-यात्रा कर को हटाया जिसे केवल हिन्दुओं को ही देना पड़ता था। इसके बाद १५६४ में जिज़िया जैसे घृणित कर को हटा कर अपनी सारी प्रजा को समान नागरिक अधिकार दे दिये। इसके अनन्तर उसने उन सब धार्मिक प्रतिबन्धों को उठा लिया जो ग़ैर मुसलमानों पर लगे हुए थे जिनमें मन्दिरों और गिर्जाघरों का बनाना भी था। उसने अपने ही महल में अपनी हिन्दू रानियों को मूर्तियों की स्थापना और

* भूपाल का वह लेख जिसको बाबर का वसीयतनामा समझा जाता है और जिसमें बताया गया है कि बाबर ने हुमायूँ को यह आदेश दिया था कि तुम हिन्दुओं के साथ सहनशीलता का व्यवहार करना और गौ हत्या बन्द करवा देना, केवल जाली लेख है और विश्वसनीय नहीं है।

पूजा की आज्ञा देकर इस "मिथ्या धारणा का भी अन्त कर दिया था कि हिन्दुओं के सार्वजनिक उत्सवों में सम्मिलित होने से मुसलमानों के कान और नेत्र अपवित्र हो जाते हैं। उसने बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं की शुद्धि की भी आज्ञा दे दी।" (बदायूँनी जिल्द २ पृष्ठ ३१८)। ईसाइयों को भी १६०३ में उसने ईसाई बनने के इच्छुकों को धर्म परिवर्तित कर लेने की आज्ञा दे दी। उसने इस्लाम को राज्य का धर्म न रखकर सभी धर्मों को समानाधिकार दे दिया। साम्राज्य में हिन्दुओं की संख्या अधिक होने के कारण उसने हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिये शाही रसोईघरों में गौ मांस का निषेध करा दिया और वर्ष में कितने ही दिनों के लिये पशु-वध भी बन्द करवा दिया। उसने मांस खाना छोड़ सा दिया और हिन्दुओं की वेश भूषा तथा रहन सहन को अपना लिया। वह रक्षाबंधन, दीपावली, वसन्त और शिवरात्रि इत्यादि हिन्दू उत्सवों में सम्मिलित होता था। उसने ग़ैर मुसलमानों के लिये भी बड़ी बड़ी नौकरियों का द्वार खोल दिया था। इस प्रकार उसने पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता के नये युग को जन्म दिया।

अकबर इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। उसने देश के विद्वानों की धार्मिक एकता का प्रबल प्रयत्न किया और अपने नाम से दीने इलाही धर्म चलाया। इस धर्म के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है, अतः उनकी पुनरावृत्ति की यहां आवश्यकता नहीं है। यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दीने इलाही की स्थापना प्रशंसनीय उद्देश्य को लेकर हुई थी और इसका अभिप्राय धार्मिक कटुता एवं संघर्ष को दूर करना था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अकबर अपने इस उद्देश्य में असफल रहा। उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इतने कट्टर थे कि वे अपने परम्परागत विश्वास और रीति रिवाजों के छोड़ने की बात सोच भी नहीं सकते थे।

जब जहांगीर गद्दी पर बैठा तब मुस्लिम उलेमाओं ने अपने खोये हुए प्रभाव को प्राप्त करने का पुनः प्रयत्न किया और धार्मिक सहिष्णुता का अन्त करने के लिये नये सम्राट पर जोर डाला। इस प्रयत्न में वे असफल रहे क्योंकि जहाँगीर अपने पिता के मार्ग से हटना नहीं चाहता था। किन्तु वह अपने क्षेत्र में इस्लाम के भविष्य के विषय में अधिक रुचि लेने लगा। वह जब तब हिन्दू और ईसाइयों को मुसलमान बना लेता था और उन मुसलमान नवयुवकों को दंड देता था जो हिन्दू सन्यासियों के पास जाते थे या हिन्दू धर्म में अपनी आस्था रखते थे। उसने अपने शासन के पन्द्रहवें वर्ष में काश्मीर में राजौरी के हिन्दुओं को मुसलमान लड़कियों के साथ विवाह करने का निषेध कर दिया था। उसने सिक्खों के गुरु अर्जुन के साथ जो दुर्व्यवहार किया उसका कारण कुछ अंश में धार्मिक भी था और गुजरात के जैनियों के साथ भी

उसने इसी कारण को लेकर कठोरता का व्यवहार किया। इन छोटी मोटी भूलों को छोड़ कर जहाँगीर ने अपने पिता की धार्मिक सहिष्णुता की नीति को ही अपनाया और मुसलमान तथा ग़ैर मुसलमानों में बहुत थोड़ा भेदभाव रखा। उसने जैनियों को छोड़ कर अन्य मतावलम्बियों की धार्मिक भक्ति और धार्मिक मेले और उत्सवों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। प्रो० श्रीराम शर्मा लिखते हैं "इन सब बातों के साथ-साथ जहाँगीर कभी कभी इस्लाम के रक्षक का रूप धारण कर लेता था और कभी-कभी अपने को बहुसंख्यक ग़ैर मुसलमानों का राजा भी नहीं समझता था। इस प्रकार अकबर के उदार दृष्टिकोण का हल्का सा पतन आरम्भ हो गया।" (Religious Policy of the Mughul Emperors, पृष्ठ ६०)

जहाँगीर का उत्तराधिकारी शाहजहाँ कट्टरपंथी मुसलमान था। उसने अपने दरबार में इस्लामी वातावरण के पैदा करने का प्रयत्न किया। उसने सिजदा (अर्थात् सम्राट के सम्मान में साष्टाङ्ग प्रणाम) करने का निषेध कर दिया और हिन्दुओं की तुलादान रीति तथा रक्षा बन्धन, दशहरा और वसन्त इत्यादि उत्सवों को, जो राज-दरबारों में मनाये जाते थे, बन्द करवा दिया। उसने हिजरी सन् को फिर से जारी कर दिया। उसने ईद, शबे बरात, मिलाद और बारावफ़ात इत्यादि मुसलमान त्यौहारों को दरबार में कट्टर मुसलमानी रीति से मनाना आरम्भ कर दिया। उसने एक नई बात और की कि राजाओं के राज्याभिषेक के समय उनके मस्तक पर तिलक करने का काम अपने प्रधान मन्त्री को सौंप दिया जिसे उसके पूर्वाधिकारी सम्राट स्वयं करते आये थे। उसने हिन्दुओं पर तीर्थ-यात्रा कर फिर लगा दिया और केवल अपने बनारसी दरबारी कवि कवीन्द्राचार्य को बहुत अधिक प्रार्थना करने पर इससे मुक्त किया। शाहजहाँ इन कामों से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ बल्कि उसने नये मन्दिरों का निर्माण और पुरानों का जीर्णोद्धार भी बन्द करवा दिया। उसने नये मन्दिरों के गिरवाने का काम भी आरम्भ करवा दिया। इसके परिणाम स्वरूप गुजरात के ३, बनारस और उसके आसपास के ७२ तथा इलाहाबाद, काश्मीर और दूसरे प्रान्तों के अनेक मन्दिर गिरवा दिये गये। सेना-यात्रा के मार्ग में जितने भी मन्दिर आते थे, सम्राट उन्हें बिना किसी सोच विचार के गिरवा देता था। बुन्देलखण्ड में ऐसा ही किया गया था। उसके शासन काल में औरंगज़ेब गुजरात का वायसराय था। उसने अनेक मन्दिर गिरवाये जिनमें सरसपुर के निकट का चिन्तामणि मन्दिर उल्लेखनीय है। शाहजहाँ हिन्दुओं के नये मन्दिरों के गिराने के साथ साथ, पुरानी रीति के अनुसार, विद्रोही सरदार और शत्रुओं के तीर्थ स्थानों को भी भ्रष्ट करने लगा। हिन्दू मन्दिरों के मलबे से उसने मस्जिदें बनवाईं। शायद दारा के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उसका यह धर्मोन्माद रुक गया और उसने मन्दिरों का गिरवाना तो

बन्द करवा दिया किन्तु सारे शासन काल में धर्म परिवर्तित हिन्दुओं की शुद्ध करने की निषेधाज्ञा जारी ही रही। जम्मू के वधौरी और भीमवार में हिन्दू मुसलमानों के अन्तर्जातीय विवाह प्रायः हुआ करते थे किन्तु शाहजहाँ ने इन पर रोक लगा दी। इस क्षेत्र के हिन्दू मुसलमान लड़कियों से विवाह कर उन्हें अपने धर्म में मिला लिया करते थे। शाहजहाँ ने आज्ञा दी कि धर्म परिवर्तित मुस्लिम कन्याओं को उनके पिता के पास पहुँचाया जाय और उनसे विवाह करने वाले हिन्दू या तो जुर्माना दें अथवा मुसलमान हो जायें। उसने दलपत नाम के एक हिन्दू को केवल इसलिये प्राण-दंड दिया कि उसने एक मुस्लिम कन्या को हिन्दू बना कर उसके साथ विवाह कर लिया था और एक मुसलमान लड़की तथा ६ लड़कों का पालन पोषण किया था। सम्राट ने युद्ध बन्दियों को मुसलमान बनाने की पुरानी प्रथा को फिर जारी कर दिया। उसने यह भी फ़रमान निकाला कि मुसलमान युद्ध-बन्दियों को दास के रूप में हिन्दुओं के हाथ न बेचा जाय। उसने इस पुरानी इस्लामी प्रथा को भी जारी किया कि यदि अपराधी इस्लाम को अपनाना स्वीकार कर लें तो उन्हें क्षमा कर दिया जाय। उसने इस्लाम, पैग़म्बर और कुरान का अपमान करने वाले के लिये मृत्यु दण्ड निश्चित किया। कुरान के प्रति अपशब्द कहने पर उसने एक हिन्दू का वध करा दिया और छेला नाम के एक ब्राह्मण को पैग़म्बर का अपमान करने पर फांसी की सजा दी थी। यद्यपि उसके शासन के अन्तिम वर्षों में इन नियमों की मान्यता नहीं रही थी फिर भी शाहजहाँ की नीति अकबर की नीति की अपेक्षा कम उदार ही रही। वास्तव में अकबर सब धर्मों को समानता प्रदान कर जिस आदर्श राज्य की स्थापना करना चाहता था, शाहजहाँ ने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। औरंगज़ेब के गद्दी पर बैठने पर तो यह प्रतिक्रिया चोटी पर पहुंच गई। उसने इस्लाम को फिर से राजधर्म बना कर भारत को इस्लामी देश बनाने का निरन्तर प्रयत्न किया। सबसे पहले तो उसने इलाही साल (जो सूर्य की प्रगति पर निर्भर था) के चलन को रोका और सूर्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी महोत्सवों को बन्द करवा दिया। इसके बाद उसने झरोखा दर्शन को बन्द किया क्योंकि यह हिन्दू राजाओं की रीति थी और औरंगज़ेब इसे मानव-पूजा समझता था। इसके अनन्तर उसने तुलादान को बन्द किया और दशहरा, वसन्त और होली इत्यादि उत्सवों का दरबार में मनाना रोक दिया। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद सम्राट ने हिन्दुओं पर जिज़िया और तीर्थ-यात्रा कर फिर लगा दिये और साम्राज्य के कोने कोने में मन्दिरों के गिराने की आज्ञा जारी कर दी। "इसके बाद उसने सब प्रान्तों के राज्यपालों को काफ़िरों के मन्दिरों स्कूलों, शिक्षा सम्बन्धी कार्यों और धार्मिक रीति रिवाजों के नष्ट करने की आज्ञा दी।" (मासिरे-आलमगीरी, पृष्ठ ८१) इसका परिणाम यह हुआ कि काशी के विश्वनाथ

और गोपीनाथ, मथुरा का केशवराज इत्यादि अनेक विश्ववन्द्य मन्दिर ढा दिये गये। देश के कोने कोने में हिन्दुओं के देवी देवता और तीर्थ स्थानों के इस प्रकार विनाश होने पर हिन्दुओं में आतंक छा गया और कहीं कहीं उनमें विद्रोह की भावना फैल गई। किन्तु औरंगज़ेब अपने दुष्कर्म से विचलित न हुआ और उसने उन सेना के अफ़सरों की निगरानी के लिये एक दरोगा की नियुक्ति की जिनका काम मूर्तियों को तोड़ना और मन्दिरों को गिराना था। देश के सभी प्रान्तों से दिल्ली और आगरा में गाड़ियां भर भर कर मूर्तियां लाई गईं और उन्हें दिल्ली, आगरा तथा अन्य नगरों की जामा मस्जिदों की सीढ़ियों के नीचे भरवा दिया गया। कुछ लेखकों ने कल्पना की है कि औरंगज़ेब ने केवल अपने शत्रु राजपूत राज्यों के मन्दिरों के ढाने की ही आज्ञा दी थी, किन्तु यह बात असत्य प्रतीत होती है। जयपुर तो औरंगज़ेब का सदैव मित्र रहा था, किन्तु औरंगज़ेब ने वहां के भी बहुत से मन्दिर ढहवा दिये थे (मआस्सरे-आलमगीरी पृष्ठ १६४)। औरंगज़ेब ने सरकारी नौकरियों में हिन्दुओं की संख्या बहुत कम कर दी थी। उसने एक फ़रमान निकाल कर माल विभाग से सब हिन्दुओं को निकाल दिया था, किन्तु इसमें उसकी पूरी तरह नहीं चली क्योंकि हिन्दुओं की जगह के लिये योग्य मुसलमान नहीं मिल सके। किन्तु इस कट्टर सम्राट ने आमेर के जयसिंह और मारवाड़ के जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद किसी हिन्दू को बड़ा अफ़सर बनाने का प्रयत्न नहीं किया। वह कर के विषय में हिन्दुओं के साथ पक्षपात करता था। उसने मुसलमानों को तो चुंगी से मुक्त कर दिया था किन्तु हिन्दुओं पर ५ प्रतिशत की पुरानी चुंगी ही जारी रक्खी। हिन्दुओं के बगीचों की पैदावार पर तो २० प्रतिशत कर और मुसलमानों की पैदावर पर केवल १६.६ प्रतिशत ही कर लगाया। पशुओं की बिक्री पर हिन्दुओं को ५ प्रतिशत कर देना पड़ता था और मुसलमानों को केवल २½ प्रतिशत। हिन्दुओं को आज्ञा थी कि वे मुसलमानों जैसे कपड़े न पहनें और राजपूतों को छोड़ कर कोई भी हिन्दू ईराकी अथवा तूरानी घोड़े, हाथी और पालकी पर न चढ़े। उन्हें हथियार लेकर जनता में घूमने की भी आज्ञा न थी।

मुसलमान बनने के लिये अनेक प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाता था। जो अपराधी मुसलमान बन जाता था वह छोड़ दिया जाता था। इसके अतिरिक्त मुसलमान बनने वालों को सरकारी नौकरियाँ तथा अनेक प्रकार के इनाम दिये जाते थे। मुसलमान बनने के लिये हिन्दू जनता पर अनेक प्रकार के दबाव डाले जाते थे। न्याय सम्बन्धी मुसलमानी क़ानून को और कड़ा बना दिया था जिससे कि हिन्दू अपने परम्परागत धर्म को छोड़ कर मुसलमान बन जाएँ। इस प्रकार हम देखते हैं कि औरंगज़ेब के शासन काल में साम्राज्य इस्लाम के प्रचार के हेतु बलवान

संस्था बन गयी थी और राज-धन तथा शक्ति प्रचार के काम में लगाया जा रहा था। अकबर ने सोलहवीं शताब्दी में धार्मिक सहिष्णुता की जिस नीति को अपनाया था औरंगज़ेब ने १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसका पूर्णत: त्याग कर दिया।

धार्मिक असहिष्णुता की नीति उत्तर कालीन मुग़ल साम्राटों के दिल्ली दरबार में तब तक जारी रही जब तक वे अपने मन्त्रियों की हाथ की कठपुतली नहीं बन गये। बहादुरशाह की सरकार (१७०७-१७११) बड़ी कठोर थी और मुसलमानों के साथ पक्षपात करती थी। उसके काल में जिज़िया और तीर्थ-यात्रा कर पहिले की भाँति जारी रहे। उसका उत्तराधिकारी जहाँदारशाह उसी के पदचिह्नों पर चलता रहा। इन दोनों सम्राटों के शासन काल में शाही दरबार में न तो कोई हिन्दू विशेष योग्य था और न उच्च पद पर प्रतिष्ठित ही था। किन्तु जब १७१३ में फर्रुख़सियर सम्राट हुआ और सैय्यद भाइयों ने राजनीति को अपने हाथ में ले लिया, तब जिज़िया जैसा घृणित कर उठा लिया गया। किंतु तीर्थ-यात्रा कर मुग़ल साम्राज्य के अंत समय तक जारी रहा। मुहम्मदशाह के बाद दिल्ली के जितने भी शासक हुए वे मराठों से सदा डरते रहे और अपनी हिंदू जनता के सताने का विचार स्वप्न में भी नहीं कर सके। यह उत्तर कालीन मुग़ल सम्राटों की दुर्बलता थी कि औरंगज़ेब के समय के इस्लामी साम्राज्य के सिद्धान्त अमान्य हो गये।

मुग़लों की राजपूत नीति

बाबर और हुमायूँ आमेर और मेवाड़ के राजाओं के सम्पर्क में आये और उन्होंने उनके साथ युद्ध भी किये, किंतु वे इन्हें अपनी अधीनता में पूर्णत: न ला सके। वे अच्छे राजनीतिज्ञ नहीं थे, अत: वे राजपूतों की संधि और मित्रता के लाभ को भी न जान पाये। यह अकबर ही था जिसने राजस्थान के राजाओं के साथ बर्ती जाने वाली मुग़ल नीति में क्रांति कर दी। किन्तु अकबर ने भी राजपूतों के साथ जो व्यवहार किया वह भी न तो अविवेकपूर्ण भावनाएँ थीं और न केवल राजपूतों की वीरता, उदारता और देशभक्ति का सम्मान ही था। उसने इस नीति को खूब सोच समझ कर अपनाया था। इसमें उसका विवेकपूर्ण स्वार्थ, गुणों का आदर, न्याय और बराबरी के व्यवहार की भावना निहित थी। इसका एक कारण तो यह था कि उसके मुसलमान सरदार और अफसर स्वामिभक्त नहीं थे और बार-बार विद्रोह करते थे। दूसरे इस देश के अफ़ग़ान इसके शाही परिवार के जानी दुश्मन थे। इन कारणों से प्रेरित हो कर अकबर ने अपने स्वार्थी सरदार और अफसरों को बस में रखने के लिये राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का निश्चय किया। यही कारण था कि अकबर ने राजपूतों की स्वामिभक्ति की परीक्षा अच्छी तरह लेने के बाद

जनवरी १५६२ में कछवाहा राज-परिवार के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें राज्यपाल तथा सेनापति जैसी ऊँची ऊँची शाही नौकरियाँ दीं। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूत केवल तटस्थ ही नहीं रहे अपितु उन्होंने ३५० से अधिक वर्ष तक दिल्ली के तुर्की तथा अफ़ग़ान सुल्तानों के साथ युद्ध भी किया। इतना ही नहीं उन्होंने देश में मुग़ल साम्राज्य का प्रबल समर्थन किया और उसके विस्तार में योग दिया। उन्होने अकबर, जहांगीर और शाहजहां के शासन काल में युद्ध सम्बन्धी, राजनीति, कर व्यवस्था, सामाजिक शासन व्यवस्था एवं आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और कला सम्बन्धी उन्नति में खुल कर योग दिया। उनके सहयोग से मुग़ल शासन न केवल सुरक्षित और स्थायी ही हुआ, अपितु देश में अभूतपूर्व आर्थिक समृद्धि और सांस्कृतिक पुनरुत्थान भी हो गया। उनके सहयोग से ही हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता हुई जो मुग़ल शासन की अमूल्य देन थी। जहांगीर ने अकबर की नीति को अपना कर राजपूतों के साथ मित्रता का व्यवहार जारी रक्खा। किन्तु इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जहांगीर के शासन काल में राजपूत सरकारी नौकरियों में इतने अधिक नहीं रहे जितने अकबर के शासन काल में थे। जहांगीर के २२ वर्ष के शासन काल में केवल तीन हिन्दू प्रान्तों के राज्यपाल थे और वह भी बहुत थोड़े समय के लिये। जहांगीर के शासन काल में हिन्दू दीवान कितने थे, इसका कुछ पता नहीं। कथाकारों ने केवल मोहन दास नामक हिन्दू दीवान का उल्लेख किया है। हाकिन्स के कथनानुसार जहांगीर हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों को अधिक चाहता था। (हाकिन्स, पृष्ठ १०६–१०७)।

यद्यपि शाहजहाँ ने गद्दी पर बैठने के बाद सरकारी नौकरियों में केवल मुसलमानों को ही भर्ती करने के लिये लम्बी आज्ञा निकाली थी, किन्तु वह इस आज्ञा को कार्यान्वित करने के लिये कोई क़दम न उठा सका, अतः राजपूत उसके शासन काल में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे। प्रोफेसर श्रीराम शर्मा की गणनानुसार शाहजहाँ के शासन के ३१ वें वर्ष में २४१ मनसबदारों में से केवल ५२ हिन्दू थे जो १,००० से ७,००० तक का मनसब रखते थे। उसके गद्दी पर बैठने पर बड़े बड़े पदों पर कम हिन्दू थे। यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है कि शाहजहाँ के शासन काल में राजपूत अथवा हिन्दुओं को सरकारी नौकरियों से नहीं हटाया गया था। राज्यपाल और सेनापति के अतिरिक्त बहुत से राजपूत और हिन्दू माल विभाग में भी ऊँचे ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित थे। जोधपुर का जसवन्तसिंह साम्राज्य का प्रधान सरदार और सात हज़ारी मनसबदार था और राजा रघुनाथ शासन के अन्त तक शाही दीवान रहा।

किन्तु औरङ्गज़ेब के गद्दी पर बैठने पर राजपूतों के साथ बर्ती जाने वाली मुग़लों की नीति में निश्चित परिवर्तन हो गया जो हानिकारक सिद्ध हुआ। औरंगज़ेब

a vast change is introduced
Aurangzeb

कट्टर सुन्नी मुसलमान था। क्योंकि राजपूत हिन्दुओं के नेता थे और साम्राज्य में मुसलमानों जैसा ही आधिपत्य रखते थे, वह हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतों से घृणा करता था। जब तक आमेर के राजा जयसिंह और मारवाड़ के राजा जसवन्तसिंह जीवित रहे तब तक उसने हिन्दुओं के विरुद्ध कोई क़दम नहीं उठाया। दिसम्बर १६७८ में जसवन्तसिंह की मृत्यु हो जाने पर सम्राट अपने नंगे रूप में आ गया और उसने मारवाड़ को साम्राज्य में मिलाने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये। उसने हिन्दुओं पर जिज़िया फिर लगा दिया और विरोध को शान्त करने के लिये तथा उनकी शक्ति को कम करने के लिये राठौर और सिसोदियों से युद्ध भी किया। इस नीति के विरोध में राजस्थान, बुन्देलखण्ड तथा दूसरे प्रान्तों में विद्रोह की आग भड़क उठी और बहुत कम राजपूत स्वामिभक्ति एवं श्रद्धा से साम्राज्य की सेवा करने लगे। अब औरंगज़ेब मुसलमानों को खुल कर तरजीह देने लगा और उसने अनेक हिन्दुओं को नौकरी से अलग कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो राजपूत पहिले सम्राट के प्रबल समर्थक और राज्य-विस्तार के साधन थे, अब वे ही उसके कट्टर शत्रु बन गये। वे अपना सहयोग देना छोड़ कर उससे युद्ध करने लगे और उसकी मृत्यु के बाद तक विद्रोही बने रहे।

औरंगज़ेब का सर्व प्रथम उत्तराधिकारी, तात्कालिक उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम, जहाँदारशाह और फ़र्रुख़सियर को भी राजस्थान के कुछ राजाओं से युद्ध करना पड़ा। राजपूतों ने पुष्कर में सभा करके यह निश्चय कर लिया कि वे अब मुग़लों से किसी प्रकार का भी वैवाहिक सम्बन्ध नहीं रक्खेंगे और उनकी दासता छोड़ देंगे। औरंगज़ेब का मित्र जयपुर का राजा भी इस सभा में सम्मिलित हो गया। औरंगज़ेब की तथा बहादुरशाह प्रथम की घातक नीति का यह परिणाम हुआ कि जिस समय मराठों, सिक्खों, जाटों तथा विदेशी आक्रमणकारी नादिरशाह अब्दाली के साथ मुग़लों का युद्ध हुआ तब किसी भी प्रमुख राजपूत राजा ने उनका साथ नहीं दिया। जयपुर का राजा कुछ समय के लिये शाही सेना में सम्मिलित हो गया था किन्तु वह हृदय से साम्राज्य की रक्षा करना नहीं चाहता था। वास्तव में राजा जयसिंह ने मुग़ल और मराठों के युद्ध होने पर दूरदर्शिता से काम लिया और पेशवा बाजीराव से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखे।

कुछ आधुनिक लेखकों का मत है कि यदि अकबर राजपूतों को संरक्षण देकर ऊँची ऊँची सरकारी नौकरियों पर प्रतिष्ठित न करता तो राजपूत समस्या खड़ी न होती और औरंगज़ेब तथा उसके उत्तराधिकारियों को राजस्थान के राजाओं पर कड़ा नियन्त्रण रखने में कोई कठिनाई न आती। यह विचार भूलों से भरा हुआ है। यदि अकबर अपनी उदार एवं सहिष्णु नीति से राजपूत राजाओं का समर्थन प्राप्त न करता तो

मुग़ल शाही परिवार का वही हाल हुआ होता जो सल्तनत काल के शासकों का हुआ था। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि अब सल्तनत-काल के दिन लद चुके थे और सोलहवीं शताब्दी चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के समान नहीं थी। राजपूत अपने खोये हुए भारतीय राजनैतिक महत्व को बड़ी तेज़ी से पुनः प्राप्त कर रहे थे, अतः सोलहवीं शताब्दी में दिल्ली के अत्यन्त शक्तिशाली शासक के लिये भी यह संभव नहीं था कि वह उनकी उपेक्षा कर सके। दूसरे, राजनीति में भी जनता को हर समय धोखा नहीं दिया जा सकता। मुग़ल भारतीय जनता के प्रमुख तत्वों के सहयोग के बिना अपनी शासन व्यवस्था सफलता पूर्वक नहीं चला सकते थे। इस सिद्धान्त के प्रचारकों का विश्वास है कि परिस्थितियाँ कोई महत्व नहीं रखतीं, केवल पाशविक शक्ति के बल पर ही राजसत्ता सफलतापूर्वक चल सकती है। यह कथन उन लोगों को प्रभावित नहीं कर सकता जिन्हें उन राजनैतिक एवं सेना-सम्बन्धी विचित्र कठिनाइयों का पूर्ण ज्ञान है, जिनके बीच अकबर ने शासन की बाग-डोर अपने हाथों में सँभाली थी।

मुग़लों की दक्खिन नीति

पहिले दो मुग़ल सम्राटों को तो दक्खिन विजय के सम्बन्ध में गम्भीरता से सोचने का समय ही नहीं मिल पाया था। बाबर की आत्मकथा से ज्ञात होता है कि वह दक्षिणी भारत की हलचलों की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ था और वहाँ के राजनैतिक विकास को बड़े ध्यान से देखता था। किन्तु भारत में उसका जीवनकाल इतना थोड़ा था कि वह सम्पूर्ण उत्तर भारत को भी नहीं जीत सका। हुमायूँ का संघर्षमय एवं अव्यवस्थित जीवन केवल उत्तरी भारत से ही सम्बन्धित रहा। अकबर ही वह पहिला मुग़ल सम्राट था जिसने उत्तरी भारत पर पूर्ण अधिकार करने के बाद दक्षिण भारत विजय की ठोस योजना बनाई। इस विषय में अकबर ने मौर्य, गुप्त, ख़लजी और तुग़लक इत्यादि प्राचीन भारतीय नरेशों की परम्परागत नीति को अपनाया था। अकबर की दक्षिण नीति दो उद्देश्यों पर अवलम्बित थी, अर्थात् एक, तो वह अपनी अधीनता में अखिल भारतीय साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था; दूसरे, वह पुर्तगालियों को खदेड़ना चाहता था क्योंकि उनका राजनैतिक प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था! चन्द्रगुप्त मौर्य अथवा समुद्रगुप्त इत्यादि भारतीय नरेशों के समान अकबर भी साम्राज्यवादी था, अतः वह भारत के सब उपद्वीपों को अपने अधिकार में रखने के लिये अत्यन्त सचेष्ट था और इसीलिये वह अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और ख़ानदेश की दक्खिनी सल्तनतों को अपने अधिकार में रखना चाहता था। उसका दृष्टिकोण धर्म प्रचार न होकर केवल साम्राज्य विस्तार था।

अकबर दक्खिनी रियासतों के सुल्तानों पर वैध अधिकार प्राप्त करने के लिये अत्यन्त उत्सुक था, अतः उसने १५६१ में दक्खिन की चारों रियासतों के दरबारों में अपने राजदूत अलग अलग भेजे। ख़ानदेश ने तो अकबर के प्रस्ताव को स्वीकार कर उसे अपना अधिपति मान लिया किन्तु अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा ने उसे नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। अपनी कूटनीति चाल में असफल होने पर अकबर ने शक्ति के प्रयोग द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करने का विचार किया। उसने शाहज़ादा मुराद तथा अब्दुर रहमान ख़ानख़ाना के सेनापतित्व में अहमदनगर के विरुद्ध एक बड़ी सेना भेजी और इसने अहमदनगर का घेरा डाल दिया। बीजापुर के स्वर्गीय सुल्तान की विधवा रानी तथा अहमदनगर के सुल्तान की पुत्री चाँद बीबी ने बड़ी वीरता के साथ नगर की रक्षा की। किन्तु अन्त में अहमदनगर के सुल्तान ने अकबर को अपना सम्राट मान कर बरार को साम्राज्य की भेंट कर दिया (१५९६)। इसके उपरान्त सुल्तान के सरदारों ने उससे आग्रह किया कि वह संधि की शर्तों को तोड़ कर साम्राज्य के विरुद्ध फिर से लड़ाई छेड़ दे। इस समाचार से उत्तेजित होकर मुग़लों ने अहमदनगर पर भयंकर आक्रमण किया। इसमें चाँद बीबी या तो मारी गई अथवा उसने आत्महत्या कर ली (१६००)। आधे से अधिक अहमदनगर सम्राट के हाथ में चला गया किन्तु सारा राज्य शाहजहाँ के शासन के पूर्व साम्राज्य में नहीं मिलाया जा सका।

अकबर के अहमदनगर के सुल्तान के साथ उलझे रहने पर ख़ानदेश के सुल्तान ने अवसर पाकर अकबर के प्रति विद्रोह कर दिया, अतः इसे दबाने के लिये अकबर को स्वयं दक्खिन जाना पड़ा। एक लम्बे घेरे के बाद अकबर ने बुरहानपुर पर क़ब्ज़ा कर असीरगढ़ के सुदृढ़ किले पर अधिकार कर लिया और प्राप्त हुए धन को उदारता के साथ किलेदारों को बांट दिया। तब उसने जीते हुए प्रदेशों को अहमदनगर, बरार और ख़ानदेश के तीन सूबों में बांट दिया और उनको अपने पुत्र दानियाल के अधिकार में सौंप दिया जिसके अधिकार में मालवा तथा गुजरात पहले से ही विद्यमान थे (१६०१)। इस प्रकार मुग़ल साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा से हटकर कृष्णा के उत्तरी घाट तक बढ़ गई।

जहाँगीर ने अपने पिता की नीति को अपना कर अहमदनगर राज्य के शेष भाग को जीतने का प्रबल प्रयत्न किया। जहाँगीर के शासन काल के अन्त तक दक्खिन में युद्ध होता रहा किन्तु एक तो अहमदनगर का प्रधान मंत्री हब्शी मलिक अम्बर अत्यन्त योग्य और कुशल राजनीतिज्ञ था तथा छापेमार नीति में अत्यन्त निपुण था; दूसरे, मुग़ल सेनापतियों में परस्पर मतभेद हो गया था जिसके कारण जहाँगीर

अहमदनगर पर अधिकार न कर सका। सम्राट ने पहिले अपने पुत्र परवेज़ और फिर शाहज़ादे ख़ुर्रम को सेना के नेतृत्व करने की आज्ञा दी। किन्तु अब्दुर रहीम ख़ानख़ाना उस समय सेना का वास्तविक प्रधान सेनापति था। वह सेना के अफ़सरों को नियन्त्रण में न रख सका और उसने मुग़ल सेना की दुर्बलता का भण्डाफोड़ कर दिया। अतः मुग़लों को केवल आंशिक सफलता ही मिल सकी। १६१६ में ख़ुर्रम ने अहमदनगर तथा कुछ दूसरे किलों पर अधिकार कर लिया। इसके उपलक्ष में उसे शाहजहाँ की उपाधि दी गई तथा ३०,००० के ज़ात एवं २०,००० के सवार पद पर उसकी उन्नति कर दी गई। किन्तु यह सफलता नाम मात्र की थी और मुग़लों की दक्खिनी सीमा १६०५ के समान ही रह गई।

शाहजहाँ ने भी सिंहासन पर बैठने के बाद अपने पूर्वजों की राज्य विस्तार नीति को अपनाया किन्तु इसकी नीति धार्मिक भावना से परिपूर्ण थी। इसने अहमद-नगर के स्वतंत्र भाग को जीतने के लिये सेना भेजी। भाग्यवश १६२६ में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गई और मलिक अम्बर का पुत्र फ़तह ख़ाँ नया मंत्री नियुक्त हुआ जिसके साथ सुल्तान का मतभेद हो गया। किन्तु मुग़ल अहमदनगर के परंदा नामक सुदृढ़ गढ़ को फिर भी न जीत सके। फ़तह ख़ाँ ने मुग़लों से बातचीत आरंभ कर दी और शाहजहाँ के कहने से सुल्तान निज़ाम-उल-मुल्क का वध करवा दिया। उसने निज़ाम-उल-मुल्क के दस वर्षीय पुत्र को गद्दी पर बिठा दिया और मुग़लों से साढ़े दस लाख की रिश्वत लेकर दौलताबाद का गढ़ मुग़लों को सौंप दिया (१६३१)। १६३३ में अहमदनगर अन्तिम रूप से साम्राज्य में मिला लिया गया और इसके अन्तिम राजा हुसैनशाह को बन्दी बना कर ग्वालियर के किले में डाल दिया गया। फ़तह ख़ाँ मुग़ल सेना में मनसबदार नियुक्त हुआ और उसको अच्छा वेतन दिया गया।

अब शाहजहाँ ने बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों के हड़प जाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। यह मुग़ल सम्राट धार्मिक जोश और साम्राज्यवाद से प्रभावित था। बीजापुर और गोलकुण्डा के शासक शिया थे, अतः इसने दक्खिन के बचे हुए दोनों स्वतन्त्र राज्यों का अन्त करने का विचार कर लिया। उसने १६३५ में दोनों राज्यों के सुल्तानों को आज्ञा दी कि वे उसे अपना अधिपति स्वीकार कर लें और शाहजी मराठा को सहायता देना बन्द कर दें क्योंकि उसने निज़ामशाही वंश के एक लड़के को सत्ताहीन अहमदनगर राज्य का नाम मात्र का सुल्तान बना दिया था। शाहजहाँ अपनी मांग को बल पूर्वक मनवाना चाहता था, अतः गोलकुण्डा के सुल्तान ने उसे अपना अधिपति मान कर उसके नाम के सिक्के चलाना और उसके नाम का ख़ुतबा पढ़ना स्वीकार कर लिया (१६३६)। किन्तु बीजापुर के सुल्तान ने इस आज्ञा का पालन करना अस्वीकार कर दिया, अतः उसकी राजधानी का घेरा डाला

गया और परिणामस्वरूप सुल्तान ने विवश हो कर शाहजहां को अपना अधिपति मानकर कर देना स्वीकार कर लिया (मई १६३६)। अब शाहज़ादा औरंगज़ेब दक्खिन के चार प्रान्तों—खानदेश, बरार, तलंगाना और दौलताबाद—का राज्यपाल नियुक्त हुआ। उसने शासन व्यवस्था की उन्नति के प्रयत्न किये किन्तु दारा की शत्रुता के कारण उसे १६४४ में इस पद को छोड़ देना पड़ा। १६५३ में उसकी दक्खिन में फिर नियुक्ति हुई और उसने गोलकुण्डा राज्य को साम्राज्य में मिलाने के लिये मीर जुमला को अपने पक्ष मे करके उस पर आक्रमण कर दिया। किन्तु शाहजहां ने हस्तक्षेप करके घेरा उठा लेने की आज्ञा दे दी (मार्च १६५६)। गोलकुण्डा ने १० लाख का हर्जाना और रंगीर ज़िले को साम्राज्य की भेंट कर जीवन का पट्टा लिखा लिया। इसके बाद औरंगज़ेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया। बीजापुर अधीनस्थ राज्य नहीं था, अतः उन्हें उसकी भीतरी बातों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। शाहज़ादे ने बीदर और कल्यानी को अपने अधीन कर लिया। किन्तु शाहजहां ने हस्तक्षेप करके शाही सेना को वापस बुला लेने की आज्ञा दे दी। बीजापुर ने बहुत बड़ा हर्जाना तथा बीदर, कल्यान और परेंदा सम्राट को देकर उससे सन्धि कर ली। शाहजहां के शासन काल के अन्त तक मुगल दक्खिन में और कोई स्थान साम्राज्य में नहीं मिला सके।

औरंगज़ेब अपने पच्चीस वर्ष के शासन-काल में उत्तरी भारत में ही व्यस्त रहा, अतः उसने बीजापुर और गोलकुण्डा को अधीनता में लाने का भार अपने सेनापतियों पर छोड़ दिया। शिवाजी के नेतृत्व में मराठों के उत्थान के कारण समस्या और भी जटिल हो गई। सम्राट के सेनापति इन दोनों मुस्लिम राज्यों और मराठों पर निश्चित विजय प्राप्त करने में असफल रहे। मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शिवाजी को अपने तीन चौथाई प्रदेश तथा किले मुग़लों को दे देने तथा औरंगज़ेब से आगरे में मिलने के लिये बाध्य किया (१६६५–१६६६)। किन्तु अन्त में इसका परिणाम मुग़लों के लिये हानिकारक ही हुआ।

शिवाजी की मृत्यु के बाद औरंगज़ेब ने अपने भगोड़े पुत्र अकबर तथा मराठों के राजा शम्भाजी की मित्रता को रोकने के लिये दक्षिण को प्रस्थान किया। सम्राट ने इस प्रयत्न में चार वर्ष व्यतीत किये किन्तु न तो वह अकबर को ही पकड़ सका और न मराठों को ही दबा सका। अब औरंगज़ेब का ध्यान बीजापुर और गोलकुण्डा पर गया। औरंगज़ेब की नीति अपने पिता शाहजहां के समान धर्म भावना तथा साम्राज्यवादी भावना पर आधारित थी। वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और दक्षिण में शिया धर्म को निर्मूल कर देना चाहता था। उसने बीजापुर का घेरा डाला और उसे (बीजापुर को) १६८६ में आत्म समर्पण कर देना पड़ा। बीजापुर को साम्राज्य में

मिला लिया गया और वहां का राजा सुल्तान सिकन्दर बन्दी बना लिया गया। इसके बाद गोलकुण्डा की बारी आई और घनघोर युद्ध होने के बाद उसे भी आत्म-समर्पण कर देना पड़ा। अब्दुल्ला पन्नी नाम के एक अफ़गान ने सम्राट से अच्छी खासी रिश्वत लेकर किले के मुख्य द्वार को खोल दिया जिससे मुग़ल उसमें घुस गये। गोलकुण्डा सितम्बर १६८७ में साम्राज्य में मिला दिया गया और उसके अन्तिम शासक अबुल हसन को ५०,००० वार्षिक पेन्शन देकर दौलताबाद में बन्दी बना लिया।

अब औरंगज़ेब ने अपना ध्यान मराठों पर दिया। पहिले वह सफल हुआ और मराठा शासक शम्भाजी को पकड़ कर मार्च १६८९ में फांसी दे दी गई। मराठों की राजधानी रायगढ़ पर मुग़लों का अधिकार हो गया और शम्भाजी के उत्तराधिकारी राजाराम को भाग कर कर्नाटक में शरण लेनी पड़ी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो औरंगज़ेब ने अन्त में अपने पूर्वजों की इच्छा को जान कर दक्षिण में उत्तरोत्तर विजय और तन्जौर त्रिचनापल्ली इत्यादि हिन्दू राज्यों पर कर लगाना आरम्भ कर दिया था। अतः हम कह सकते हैं कि १६९० में भारत में मुग़लों की शक्ति सर्वोच्च शिखर पर थी। "देखने में तो ऐसा प्रतीत होता था कि औरंगज़ेब ने सब कुछ पा लिया है किन्तु वास्तव में उसने कुछ खो दिया था। यहीं से उसके पतन का आरम्भ हुआ। अब उसके जीवन के अत्यन्त दुःखमय और निराशामय अध्याय का उद्-घाटन हो गया था।" मराठों ने सुसंगठित होकर युद्ध को लोक-युद्ध में परिणत कर दिया जिसके कारण औरंगज़ेब का सारा कोष खाली हो गया और उसे बचाव की नीति के अपनाने के लिये बाध्य होना पड़ा। वह निरन्तर के युद्ध और परिश्रम से शिथिल हो गया था, अतः मार्च १७०७ में उसकी मृत्यु हो गई। औरंगज़ेब ने दक्खिन के प्रति जिस नीति को अपनाया वह लाभदायक न हो कर साम्राज्य के पतन का प्रबल कारण बन गई।

मुग़लों की मध्य एशिया नीति

मुग़लों का मूल निवास स्थान मध्य एशिया के ट्रान्स ऑक्सियाना में था। अतः इस वंश के प्रारंभिक शासक अपनी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त कर इस पर शासन करने की उत्कट इच्छा रखते थे। बाबर उत्तरी भारत में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के बाद अपने महान् पूर्वज तैमूर की राजधानी समरकन्द के प्राप्त करने के लिये अन्तिम प्रयत्न करने का अत्यन्त इच्छुक था, किन्तु उसे भारत की राजनीति से अवकाश नहीं मिला, अतः वह इसके लिये कोई कदम न उठा सका। उसका जीवन काल बहुत थोड़ा था क्योंकि १५३० में उसकी असामयिक मृत्यु हो गई। इच्छा तो हुमायूँ की भी यही थी, किन्तु दृढ़ चरित्र और प्रबल इच्छा शक्ति के अभाव के कारण वह इस विषय

में कोई ठोस कदम न उठा सका। अकबर की मध्य एशिया के स्वदेश को जीतने की उत्कृट इच्छा थी किन्तु उसे इसके लिये समय ही न मिल सका। विलासी जहाँगीर के हृदय में तो हिन्दूकश को पार कर के इस प्रकार के भयग्रस्त साहसिक कार्य करने का साहस ही नहीं था। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी शाहजहाँ में समरकन्द के जीतने की प्रबल इच्छा और साहस था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पहिले उसने बलख़ और बदकशां पर आक्रमण करने की एक योजना बनाई। अब्दुल हमीद लाहौरी लिखता है कि "शाहजहाँ गद्दी पर बैठने के समय से ही बलख़ और बदकशां को हृदय से जीतना चाहता था क्योंकि ये उसके वंश के पैतृक प्रदेश थे और समरकन्द विजय के मूल साधन थे। समरकन्द उसके महान् पूर्वज तैमूर का निवास स्थान और राजधानी था।" १६४६ में शाहजहाँ को तुर्किस्तान के बादशाह उज़बेग के कार्यों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। उस समय उस प्रदेश में गृह युद्ध छिड़ा हुआ था, अतः शाहजहाँ ने हिन्दूकुश और ऑकसस के बीच में स्थित बलख़ और बदकशां पर अधिकार करने के लिये शाहज़ादा मुराद को आज्ञा दी। शाहज़ादे ने इन को जीत तो लिया किंतु इन पर स्थायी रूप से अधिकार बनाये रखना उसके लिये कठिन हो गया। मुराद विलासी था, अतः वह अपने भार को छोड़ कर दिल्ली चला आया। सम्राट ने उसे धिक्कारा और वज़ीर सादुल्ला को स्थिति संभालने के लिये बलख़ भेज दिया। इसके बाद उसने बड़ी भारी सेना के साथ औरंगज़ेब को वहाँ भेजा। उज़बेगों ने अपनी जाति का संगठन कर उसका विरोध किया। इस समय तुर्किस्तानियों का नेता नज़र मुहम्मद था। औरंगज़ेब की उसके साथ डट कर लड़ाई हुई, यद्यपि औरंगज़ेब ने नज़र मुहम्मद को हरा दिया किंतु औरंगज़ेब को बलख़ छोड़ कर पीछे हटना पड़ा। मुग़ल सेना को बड़ी भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। शाहजहां ने मध्य एशिया का विचार छोड़ दिया। इस आक्रमण के कारण मुग़ल साम्राज्य को धन और जन की अपार हानि उठानी पड़ी। शाहजहाँ के मूर्खता पूर्ण युद्ध की इस प्रकार समाप्ति हुई। इस युद्ध में दो वर्षों में ही भारतीय कोष के चार करोड़ रुपये खर्च हो गये और विजित देश से केवल २२॥ लाख रुपये ही वसूल हुए। न तो शत्रु प्रदेश की एक इञ्च भूमि ही साम्राज्य में मिलाई जा सकी, न बलख़ का राज वंश ही बदला जा सका और न बलख़ का सिंहासन ऐसे व्यक्ति को दिया जा सका जो मुग़लों का मित्र हो सकता। बलख़ के किले में पाँच लाख का अन्न इकट्ठा किया गया था। इसी प्रकार दूसरे किलों में भी सामग्री इकट्ठी की गई थी, किन्तु यह सब बुखारा वासियों के लिये छोड़ देना पड़ा। इसके अतिरिक्त नज़र मुहम्मद के पोतों को ५०,००० और राज प्रतिनिधियों को २२,५०० रु० नक़द देने पड़े। ५०,००० सिपाही युद्ध में मारे गये और इसके दस गुने

(जिसमें नौकर चाकर भी शामिल थे) पहाड़ों पर जाड़े और बर्फ से मर गए। मुग़ल साम्राज्यवादियों ने उत्तर पश्चिम सीमा के पार जो पहिला हमला किया उसका यह भयङ्कर परिणाम निकला कि भारत को उसका बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा। (सरकार, Aurangzeb, जिल्द १, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ९९-१००)।

इसके उपरान्त मुग़ल सम्राटों ने मध्य- एशिया के विजय के स्वप्न को छोड़ दिया। औरंगज़ेब ने तो मध्य एशिया विजय की कभी इच्छा नहीं की और उसके अत्यन्त दुर्बल उत्तराधिकारियों ने इस समस्या पर कभी विचार ही नहीं किया।

उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त नीति

सूर सुल्तानों के समय (१५४५-१५५४) को छोड़ कर देश में मुगल साम्राज्य के स्थापित होने के दिन से लेकर १७३९ तक अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही भाग था। अतः अफ़ग़ानिस्तान और भारत के बीच का यह कबाइली प्रदेश जो आजकल उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त नाम से प्रसिद्ध है, मुग़ल साम्राज्य का एक भाग था। इस प्रदेश का सदा से ही भौगोलिक एवं आर्थिक महत्व रहा है। फलतः भारत के शासक युगों से इस पर अपना सुदृढ़ अधिकार रखते आये हैं। हिन्दूकुश पर्वत माला मध्य एशिया को दक्षिणी अफ़ग़ानिस्तान, बलोचिस्तान और भारत से अलग करती है और हिरात के उत्तर में उसकी ऊंचाई बहुत कम रह जाती है, अतः शत्रु फारस अथवा मध्य एशिया से आकर इस ओर से काबुल की घाटी और भारत पर हमला कर सकता है। मुग़ल सम्राट जानते थे कि मध्य एशिया अथवा फारस का शत्रु इस ओर से काबुल और भारत पर हमला कर सकता है, अतः वे इस स्थान की रक्षा के लिये अत्यन्त सचेष्ट रहते थे। दूसरी बात यह थी कि कन्धार के सुदृढ़ गढ़ पर अधिकार रखना भी मुग़लों के लिये अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि इसके अधिकार के बिना मुग़ल साम्राज्य भारत में सुरक्षित नहीं रह सकता था। कन्धार से शत्रु बड़ी सरलता से हमला कर सकता था, अतः उस युग में यह भारत की रक्षा की प्रथम पंक्ति बना हुआ था। इसके अतिरिक्त एक बात यह थी कि यह व्यापार का बड़ा केन्द्र था और एशिया के भिन्न भिन्न भागों के व्यापारी व्यापारिक वस्तुओं के विनिमय के लिये वहाँ जाते थे। तीसरी बात यह थी कि यद्यपि आधुनिक उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त प्रदेश मुग़लों का नाम मात्र के लिये अधीन था किन्तु वास्तव में वह स्वतन्त्र था और मुगलों के लिये युसुफज़ाई, खटक, मौहमन्द, उज़बेग और दूसरे बलवाई कबाइलियों को दबा कर रखना अत्यन्त आवश्यक हो गया था क्योंकि ये कबाइली स्वतन्त्रता के बड़े प्रेमी थे और उनका सगठन आपस की बराबरी पर स्थित था। इनके देश में रक्षा के सुदृढ़ साधन थे और इनका सदा यह विचार रहता

था कि उनका कोई पड़ोसी उन पर आक्रमण कर उनके देश को अपने देश में न मिला ले।

उत्तरी भारत पर अधिकार करने के पूर्व बाबर ने कन्धार के गढ़ पर अधिकार कर लिया और हैरात के उत्तर में हिन्दूकुश पर्वत माला के उस स्थान की सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया जिधर से शत्रु हमला कर सकता था। इस प्रकार उसने अफ़गानिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों को बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित कर दिया। हुमायूँ के शासनकाल में भी यही प्रबन्ध जारी रहा हालांकि अफ़गानिस्तान, पंजाब और सीमाप्रांत के प्रदेश कामरान को सौंप दिये गये थे। किन्तु बाबर और हुमायूँ दोनों में से किसी ने भी उत्तर-पश्चिम-सीमाप्रान्त के कबाइलों के प्रति वैज्ञानिक नीति को नहीं अपनाया। किन्तु फिर भी कबाइले इन दोनों के शासन काल में दबे रहे और उन्होंने किसी प्रकार का भी विद्रोह नहीं किया। अकबर ने भी हिन्दूकुश पर्वत माला की सुरक्षा के लिये उसी नीति को अपनाया और फारस के शाह से खोये हुए कन्धार को वापस ले लिया। उसने उज़बेग के उपद्रवों के दबाने के लिये क़दम उठाया और उनके नेता अब्दुल खाँ को मुग़ल साम्राज्य से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखने के लिये बाध्य किया। किन्तु उत्तर पश्चिम सीमाप्रांत के कबाइलों में भयानक अशांति पैदा हो गई, जिसके फलस्वरूप एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जो रोशनिया आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। रोशनिया बयाज़ीद के अनुयायी थे। ये लोग इस्लाम के विशेष रूप का तथा ग़ैर मुसलमानों के साथ शत्रुता रखने का उपदेश देते थे। रोशनिया मुग़ल सम्राट की अधीनता के विरुद्ध थे। अकबर ने सीमाप्रान्त को सुरक्षित रखने के महत्व को अच्छी तरह समझ कर रोशनियों के उपद्रवों को दबाने के लिये सेना भेजी। युसुफ़ज़ई भी रोशनियों से मिल गये थे, अतः अकबर ने उन्हें दबाने के लिये राजा टोडरमल को भेजा। विद्रोही कबाइले हार गये और बहुत से मारे गये। सीमाप्रान्त के स्वात, बज़ौर और बूनेर के विद्रोहियों को खदेड़ दिया गया। अकबर ने कबाइलों के विद्रोह को देखकर उत्तरी पश्चिम सीमाप्रांत को सुरक्षित करने के लिये दूसरा क़दम उठाने का निश्चय किया। उसके काश्मीर, सिंध और बलोचिस्तान तथा कन्धार को जीतकर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत सुरक्षित हो गया।

जहाँगीर के शासन काल में कन्धार के निकल जाने से सीमा प्रान्त की स्थिति दयनीय हो गई। यह महत्वपूर्ण गढ़ और इससे लगा हुआ प्रदेश मुग़ल और फारसी लोगों के बीच लड़ाई की जड़ थे। शाह अब्बास (१५८७-१६२९) ने १६२१ में कन्धार का घेरा डालकर जून १६२२ में उस पर अधिकार कर लिया। जहाँगीर अपनी सेना की सारी शक्ति लगा कर भी इसे फिर वापस न ले सका।

शाहजहाँ समझ गया कि साम्राज्य से कन्धार के निकल जाने पर उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में मुग़लों की स्थिति अवश्य ही बिगड़ जायगी, अतः उसने उसे पुनः प्राप्त करने के लिये कूटनीति का आश्रय लिया। कन्धार के फारसी गवर्नर (सूबेदार) अलीमर्दान ख़ां ने यह महत्वपूर्ण गढ़ शाहजहाँ को सौंप दिया जिसके फलस्वरूप उसको बहुमूल्य उपहार और ऊंची ऊंची उपाधियाँ मिलीं। ईरान के शाह अब्बास द्वितीय ने इस अपमान से दुःखी होकर शीतकाल के अगस्त १६४८ में कन्धार पर आक्रमण कर दिया। बर्फ गिरने के कारण शाहजहाँ गढ़ के सूबेदार के पास नई सेना नहीं भेज सका। मुग़ल किलेदार ने फरवरी १६४८ में आत्म-समर्पण कर दिया और कन्धार फिर शाह के हाथ में चला गया। शाहजहाँ ने इसे प्राप्त करने के तीन असफल प्रयत्न किये। पहला प्रयत्न शाहज़ादे औरंगज़ेब के नेतृत्व में १६४६ में किया गया। कन्धार का दूसरा घेरा तीन वर्ष बाद औरंगज़ेब के नेतृत्व तथा सादुल्ला ख़ाँ के नेतृत्व में डाला गया। इस बार सम्राट शाहजहाँ भी काबुल गया जिससे उसके पास में रहने से सेना पर दबाव पड़ता रहे। तीसरा प्रयत्न १६५४ में दारा के नेतृत्व में किया गया, किन्तु यह भी असफल रहा। तीनों आक्रमणों में बारह करोड़ रुपये व्यय हुए और असंख्य जन-शक्ति की हानि हुई। इस पराजय से मुग़ल सम्राट की सैन्य शक्ति तथा राजनैतिक प्रतिष्ठा को बड़ा भारी धक्का लगा।

औरंगज़ेब ने कन्धार के वापस लेने का प्रयत्न नहीं किया। वह कट्टर मुसलमान था और अपने मुसलमान भाइयों का खून बहाना नहीं चाहता था। तो भी उसे राजनैतिक और आर्थिक कारणों से विवश होकर उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के सम्बन्ध में अनुगामी नीति अपनानी पड़ी क्योंकि उस प्रदेश के बलवाइये मुसलमान कबाइले खुशी खुशी मुग़ल साम्राज्य के अधीन होने वाले नहीं थे और सरकार के लिये चिन्ता का कारण बने हुये थे। कबाइलों का काम लूट मार करना था। ये उत्तर पश्चिम पंजाब के धनी नगरों को लूट लिया करते थे। औरंगज़ेब ने इन्हें आर्थिक सहायता देकर अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया जिससे कि उत्तर-पश्चिम मार्ग से आवागमन और व्यापार शान्तिपूर्वक हो सके। ये कबाइले बड़े बलवान् थे और इनकी संख्या निरंतर बढ़ती जा रही थी, अतः ये 'राजनीतिक पेंशन' से सन्तुष्ट नहीं थे। इनमें से युसुफज़ई फ़िरके ने अपने नेता भागू के नेतृत्व में १६६६ में विद्रोह आरंभ कर दिया। उन्होंने अटक के पास सिन्ध पार कर हज़ारा जिले को लूट लिया। यूसुफज़ाई के एक झुण्ड ने पहाड़ी इलाके से आगे बढ़कर उत्तरी पेशावर तथा अटक जिले को लूट लिया। किन्तु कुछ ही दिनों में इस यूसुफज़ई को दबा दिया गया। १६७२ में अफरीदियों ने अपने नेता अकमल ख़ाँ के नेतृत्व में हथियार उठाये। इस नेता ने शाह की उपाधि धारण कर मुग़लों के विरुद्ध

राष्ट्रीय युद्ध में सम्मिलित होने के लिये सारे पठानों से अपील की। अफ़रीदियों ने मुहम्मद अमीन ख़ाँ के नेतृत्व में अली मस्जिद स्थान पर मुग़ल सेना को हरा दिया। इस युद्ध में बहुत अधिक मुग़ल सैनिक मारे गये और अफ़रीदियों के हाथ बहुत धन लगा। इस सफलता से अकमल ख़ाँ की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। अब अकमल ख़ाँ ने अटक से कन्धार तक ऊँचे पैमाने पर कबाइलों के विद्रोह को फैलाने का विचार किया। इस युद्ध में खटक भी अफरीदियों से मिल गये। खटकों का नेता खुशाल ख़ाँ एक अच्छा कवि और वीर था। उसने लोगों में "राष्ट्रीयता की भावना भर कर अपनी लेखनी और तलवार से कबाइलों को समान रूप से उत्साहित करना आरम्भ कर दिया।" १६७४ में कबाइलों ने शुजात ख़ाँ नाम के शाही अफसर को हरा कर मार डाला और बची हुई मुग़ल सेना को जसवन्तसिंह राठौर बचा कर ले गया।

१६७४ के मध्य में स्थिति ऐसी भयप्रद हो गई कि औरंगज़ेब को उसी वर्ष जुलाई में पेशावर के पास हसन अब्दुल पर पठानों को आतंकित करने के लिये स्वयं जाना पड़ा। कूटनीतिक चाल और शक्ति से उसने प्रमुख-प्रमुख सरदारों को धन इत्यादि द्वारा अपने वश में कर लिया। उसने उन्हें उपहार, पेन्शनें और जागीरें दीं और जो हठी थे उनको अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। सम्राट ने अमीन ख़ाँ को अफ़ग़ानिस्तान का राज्यपाल नियुक्त किया और इस योग्य पदाधिकारी ने कबाइलों के प्रति सान्त्वना पूर्ण नीति अपना कर उन्हें वश में कर लिया। औरंगज़ेब ने अपने पूर्वाधिकारियों के समान क्षेत्रों के कबाइली सरदारों को आर्थिक सहायता देकर और एक एक जिरगे को दूसरे के विरुद्ध लड़ा कर उत्तर पश्चिम-सीमा प्रान्त में शांति रखने का प्रबन्ध किया। किन्तु खटक जिरगे का नेता खुशहाल ख़ाँ उस समय तक विद्रोह करता रहा जब तक कि उसके निजी पुत्र ने उसके साथ विश्वासघात नहीं किया। उसको कारागार में डाल दिया गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों ने दर्रों में शांतिपूर्ण यातायात को खुला रखने के लिये कबाइली सरदारों को घूस देने की नीति तब तक जारी रखी जब तक अफ़ग़ानिस्तान मुग़ल साम्राज्य का भाग बना रहा। सन् १७३६ में नादिरशाह ने अफ़ग़ानिस्तान को अपने बस में करके भारतवर्ष की सीमा को सिंध नदी तक पीछे हटा दिया और भारत तथा अफ़ग़ानिस्तान के बीच के प्रदेश के कबाइलों को अपनी स्वाधीनता फिर से प्राप्त करने का अवसर दिया।

विशेष अध्ययन के लिये पुस्तकें

(अ) फारसी

अध्याय ५-८ के अन्त में दी गई विशेष अध्ययन के लिए पुस्तकों की सूची देखिये ।

(ब) आधुनिक साहित्य

१. Mughul Administration (चौथा संस्करण १९५२) लेखक सर यदुनाथ सरकार ।

२. Mughul Government and Administration लेखक प्रोफेसर श्रीराम शर्मा, १९५१ ।

३. The Central Structure of the Mughul Empire लेखक इब्न हसन, १९३६ ।

४. The Provincial Government of the Mughuls लेखक डा० पी. सरन, १९४१ ।

५. The Army of the Indian Mughuls लेखक विलियम इर्विन, १९०३ ।

६. The Mansabdari System and the Army of the Mughals लेखक अब्दुल अज़ीज़ ।

७. Some Aspects of Muslim Administration लेखक डा० आर. पी. त्रिपाठी, १९३६ ।

८. The Religious Policy of the Mughal Emperors लेखक प्रोफेसर श्रीराम शर्मा ।

९. Mughal Rule in India लेखक एडवर्ड्स तथा गरेट ।

अध्याय १३

समाज एवं संस्कृति

देश तथा जनता

मुग़ल कालीन भारत आज के भारत से बहुत कुछ मिलता जुलता था। यह ठीक है कि उस समय न तो रेलें थीं और न पंजाब तथा उत्तर प्रदेश की आधुनिक नहर प्रणाली ही। उस समय देश में पक्की सड़कें भी नहीं थीं। देश के भिन्न-भिन्न भाग तथा मुख्य-मुख्य नगरों में कच्ची सड़कों से ही आना जाना होता था। इन सड़कों के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगे थे और नुक्कड़ों पर सरायें बनी थीं जिनमें व्यापारी तथा यात्री रात में बेखटके ठहर सकते थे। आगरा बहुत समय तक भारत की राजधानी रहा था, अतः देश के भिन्न-भिन्न भागों से इसमें आने जाने का अच्छा प्रबन्ध था। इसके पूर्व में ग्रांड ट्रंक रोड ढाका तक तथा उत्तर पश्चिम में काबुल तक जाती थी। यह बड़ी सड़क पटना, इलाहाबाद, बनारस, आगरा, मथुरा, दिल्ली, लाहौर तथा अटक होती हुई काबुल जाती थी। एक दूसरी सड़क आगरा से असीरगढ़ तक जाती थी। इस सड़क के किनारे आगरा, धौलपुर, ग्वालियर, जोधपुर, सिरोह, अजमेर तथा असीरगढ़ थे। एक दूसरी मुख्य सड़क आगरा से अहमदाबाद तक जाती थी। दूसरी मुख्य सड़क लाहौर और मुल्तान से मिली हुई थी। सिन्ध, गंगा, यमुना, घाघरा तथा बंगाल की नदियां ऐसी थीं जिनमें यात्रा हो सकती थी, अतः इन नदियों के द्वारा प्रायः व्यापार तथा यात्रा होता थी। मुग़ल काल में आजकल की अपेक्षा अधिक जंगल थे। उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, गोंडा, लखीमपुर खेरी तथा बिजनौर जिलों में, बिहार के भागों में तथा मध्य प्रदेश में विशेष घने जंगल थे। जंगली जानवर तो गंगा के कुछ भागों में भी पाये जाते थे। गंगा यमुना के दक्षिणी जंगलों में हाथी पाये जाते थे और सिंह तथा चीतों का शिकार मालवा के अनेक भागों में किया जाता था। इनके अतिरिक्त आज के भारत में तथा मुग़ल कालीन भारत में कोई विशेष भिन्नता नहीं थी। देहातों में बहुत अधिक गांव थे जो पास पास घने बसे हुए थे। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कानपुर इत्यादि आज कल के नये नये नगर मुग़ल काल में नहीं थे। कन्नौज, विजयनगर इत्यादि पुरानी राजधानियों की इमारतें खंडहर हो गई थीं। उस समय सबसे समृद्ध नगर फ़तहपुरसीकरी, आगरा, दिल्ली, इलाहाबाद, बनारस, मुल्तान, लाहौर, उज्जैन, अहमदाबाद, अजमेर, पटना, राजमहल और ढाका थे। ये सब घने बसे हुए थे और बहुत समृद्ध थे। वैसे तो बड़े बड़े

बाग देश के सभी भागों में पाये जाते थे किन्तु बड़े-बड़े नगरों के आस-पास ये विशेष रूप से दिखाई देते थे। केवल देहात ही नहीं अपितु नगर भी दूर से बड़े सुहावने लगते थे।

देश की आबादी आजकल की आबादी की तरह घनी नहीं थी। सारी जनता एक ही जाति की नहीं थी। यह ठीक है कि हिन्दू बहुसंख्या में थे और वे जातियों में बँटे हुए थे। इनमें जैन, बौद्ध और सिक्ख भी सम्मिलित थे। राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और वैश्य ऊँची जातियाँ समझी जाती थीं किन्तु इनमें अन्तर्जातीय भोज और विवाह नहीं होते थे। जाति बन्धन आज कल के बन्धनों से अधिक कठोर थे। जाति के नियमानुसार राजपूत फ़ौजी आदमी समझे जाते थे। उनकी जाति के नेता प्रदेशों के शासक और शाही फ़ौज में ऊँचे ऊँचे मनसबदार होते थे। ब्राह्मण पुरोहित अथवा अध्यापक होते थे। कुछ गुजराती नागर ब्राह्मण फ़ारसी पढ़ कर अफ़सर भी बन गये थे। उत्तर कालीन मुग़लों के शासन काल में तो कुछ नागर ब्राह्मण प्रान्तों के राज्यपाल भी हो गये थे। वैश्य व्यापारी जाति थी और कायस्थ अधिकतर क्लर्क, सेक्रेट्री (मुन्शी) और लगान अफ़सर थे। कुछ नीच जाति के हिन्दू विशेष कर बंगाल में तथा देश के दूसरे भागों में मुसलमान बना लिये गये थे और पंजाब तथा काश्मीर के ऊँची जाति के लोग भी अपने पैतृक धर्म के त्याग के लिये विवश किये गये थे। इस काल में कुछ उपजातियाँ भी पैदा हो गई थीं। काज़ी, तोशखानी, और आगा काश्मीरी ब्राह्मणों में थीं। मुन्शी गुजराती ब्राह्मणों में, तथा क़ानूनगो और रायज़ादा कायस्थों में उपजातियाँ थीं। इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों की ऊँची जातियों में बख़्शी और मेहता उपजातियां भी बन गई थीं। यद्यपि हिन्दू समाज जातियों में बंटा हुआ था किन्तु इनमें परस्पर सहयोग और संगठन बना हुआ था। ये जातियां अपनी अपनी जातियों के लोगों के चरित्रों की देख भाल रखती थीं।

मुसलमान स्पष्ट रूप से दो भागों में बँटे हुए थे, अर्थात एक तो वे थे, जो अरब, फ़ारस और दूसरे देशों से नौकरी अथवा व्यापार के लिए भारत आये थे और दूसरे वे थे जो हिन्दू थे और बाद में मुसलमान बन गए थे या मुग़लों के पहले बने हुए मुसलमानों की सन्तान थे।

विदेशी मुसलमानों की अपेक्षा देशी मुसलमानों की संख्या अधिक थी। अरब और फ़ारस इत्यादि विदेशों से आने वाले मुसलमान व्यापारी समुद्री तटों पर बस गए थे और नौकरी के लिए आये हुए उत्तरी भारत में बस गए थे। इनमें से कुछ लोग अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के दरबारों में नौकर हो गए थे। मुग़ल

परिवारों में अधिकतर विदेशी मुसलमान ही प्रतिष्ठित समझे जाते थे और बड़े बड़े ओहदों पर थे।

अरब, फारसी, तुर्की, मंगोलियन और उज़बेगों के अतिरिक्त देश में हब्शी और अरमीनियन भी रहते थे। ये देशी विदेशी मुसलमान अपनी धार्मिक रीति-भेदों के कारण सुन्नी, शिया, बौहरे और खोजों में बँटे हुए थे। मुसलमानों में सुन्नियों की संख्या अधिक थी। प्रायः सुन्नी, शिया तथा दूसरे सम्प्रदाय के मुसलमानों में झगड़े हुआ करते थे। वंश के अनुसार मुसलमान तुर्क, अफ़ग़ान, फारसी, सैयद और हिन्दुस्तानी मुसलमानों में बँटे हुए थे। हिन्दुस्तानी मुसलमानों में से कुछ ऐसे थे जो अपनी हिन्दू जाति की कुछ समानता अभी तक रखे हुए थे। विदेशी यात्रियों के लिए देश का द्वार खुला हुआ था, अतः यहाँ विदेशियों के बसने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। इसीलिये देश में पुर्तगाली, अँग्रेज़, चीनी, तुर्की, यहूदी इत्यादि भिन्न भिन्न राष्ट्रों के व्यक्ति दिखाई देते थे। पारसी कई शताब्दी पूर्व देश में आकर बस गए थे। अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में ये खेती किया करते थे किन्तु शाहजहाँ के शासनकाल में इन्होंने व्यापार करना आरम्भ कर दिया था। यूरोपियनों में पुर्तगाली अपना विशेष महत्व रखते थे। इन्होंने गोआ तथा दूसरे पश्चिमी समुद्री तटों पर अधिकार जमा लिया था। इन्होंने सिन्ध तथा गंगा के मुहानों पर अपना व्यापारिक केन्द्र भी स्थापित कर लिया था।

धार्मिक विश्वास तथा रीतियाँ

देश में भिन्न भिन्न धर्म के मानने वाली भिन्न भिन्न जातियाँ थीं। गुजरात और बम्बई में पारसी, पश्चिमी समुद्री तट पर विशेष कर ट्रावनकोर और कोचीन में ईसाई और देश के भिन्न भिन्न भागों में योरोपियन बसे हुए थे। किन्तु बहुसंख्या में देशी हिन्दू तथा विदेशी एवं देशी मुसलमान थे जो साथ साथ रहकर मुग़ल दरबारों तथा सरकारी नौकरियों में साथ साथ काम करते थे। इस्लाम धर्म की कुछ ऐसी विशेषता है कि इसके मानने वाले जिस देश पर भी आक्रमण करते हैं उसे जीत कर वहाँ के धर्म एवं संस्कृति को उखाड़ कर फेंक देने का पूर्ण प्रयत्न करते हैं। ये सब से पहिले ग़ैर मुसलमानों को ज़िम्मी अथवा 'सुरक्षित मज़दूर' घोषित कर मुसलमान और ग़ैर मुसलमानों में सदा के लिये भेद भाव के बीज बो देते हैं और फिर ग़ैर मुसलमानों को मुसलमानों जैसे नागरिक अधिकारों से वंचित कर देते हैं। भारत में वे अपने मुख्य उद्देश्य में तो सफल नहीं हुए किन्तु मुसलमान (इस्लाम को मानने वाला) और ग़ैर मुसलमान (काफ़िर) में भेद भाव की खाई अवश्य खोद दी। अकबर के समय में जो धार्मिक सहिष्णुता थी उसको ऊँच नीच के सभी मुसलमानों ने विरोध

किया। यद्यपि हिन्दुओं का व्यवहार मुसलमानों के अनुकूल ही रहा तो भी इन दोनों बहुसंख्यक जातियों में मुग़ल शासन के अन्त तक वैर विरोध बना ही रहा। मुसलमान हिन्दुओं को अपने से बहुत अच्छा समझते थे, अतः ये उनके धार्मिक विश्वास तथा रहन सहन का विरोध किया करते थे। हिन्दू अपनी राजनैतिक दुर्बलता को समझते थे, किन्तु मुसलमान उनके साथ जो व्यवहार करते थे उससे दिल ही दिल में जला करते थे क्योंकि ये मुसलमानों को गन्दा समझते थे। मुसलमान हिन्दुओं को काफ़िर कहते थे और हिन्दू उन्हें बदले में म्लेच्छ और अछूत पुकारते थे।

जैन और सिक्ख हिन्दुओं में ही शामिल थे। यद्यपि हिन्दू धर्म सदा से ही सर्व व्यापी और सर्व शक्तिमान् एक ही ईश्वर को मानता आया है तो भी मुग़ल काल में मूर्ति पूजा प्रायः हुआ करती थी। अकबर तथा जहांगीर ने धार्मिक स्वतंत्रता दे रखी थी, अतः उनके शासन काल में देश में प्रायः सर्वत्र अच्छे अच्छे मन्दिर थे जिनमें भिन्न भिन्न देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं।

इस समय वैष्णव धर्म में रामोपासक और कृष्णोपासक दोनों प्रकार के लाखों भक्त थे। अनेक सार्वजनिक एवं साम्प्रदायिक सन्त और सुधारक जनता के चरित्र-निर्माण के लिये अनेक प्रकार के उपदेश करते रहते थे। हिन्दुओं का खान पान और वेश भूषा साधारण था और उनका जीवन पवित्र, सादा और नियमित था। वे वर्ष में बहुत दिन व्रत रखते थे। वे तीर्थ यात्रा करते थे और दान देते थे। वे अपनी आय के कुछ अंश को सभी दीन दुःखियों की सेवा में लगाना अपना धार्मिक कर्तव्य समझते थे। वे गंगा, यमुना तथा दूसरी पवित्र नदियों का आदर करते थे और साधु सन्तों के दर्शन के लिये जाया करते थे।

मुसलमान यद्यपि मूर्ति पूजा के विरोधी थे किन्तु वे समाधियों का आदर करते थे। उनमें से कुछ ताज़िया निकालते थे और ग्रामीण मुसलमान तो स्थानीय देवी देवताओं की पूजा करते थे। साधु सन्तों की पूजा समाज में बहुत अधिक प्रचलित थी। दास प्रथा के कारण समाज चरित्रहीन हो गया था। हिजड़ों का क्रय-विक्रय स्वतंत्रता पूर्वक होता था। यद्यपि अकबर ने इस प्रथा को बन्द कर दिया था किन्तु युद्ध बन्दी दास बना कर इस्लाम के स्वीकार करने के लिये विवश किये जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मिथ्या धारणा रखते, सगुनों का विश्वास करते और फलित ज्योतिष को सच्चा मानते थे। मुग़ल काल में सभी जाति और धर्म के मनुष्य रसायन विद्या—साधारण धातुओं से सोना बनाना, यन्त्र मन्त्र, गंडा ताबीज़ तथा इसी प्रकार की अन्य देवी देवताओं की बातों में विश्वास रखते थे।

वस्त्र, आभूषण एवं शृङ्गार

उच्च और मध्यम श्रेणी के लोग अंगरखा और चूड़ीदार पाजामा पहिना करते थे। धनी अथवा निर्धन सभी हिन्दू साफ़ा बांधते थे। कुछ लोग सफेद रेशमी अथवा सूती पटका अपनी कमर से बांधते थे जो एड़ी तक लटका रहता था। कुछ लोग कंधे पर दुपट्टा भी डालते थे। साधारण हिन्दू धोती और निर्धन मुसलमान पायजामा और लम्बा कुर्ता पहिनते थे। मुग़ल सम्राट चमकीले भड़कीले क़ीमती वस्त्र और जवाहरात से जड़ी हुई पगड़ी पहिनते थे। हिन्दू अपने अंगरखे के बन्द बांई ओर और मुसलमान दांई ओर लगाते थे। हिन्दू स्त्रियां साड़ी पहिनती थीं और मुसलमान स्त्रियां पायजामा या घाघरा और जाकट पहिनती थीं और दुपट्टे से अपने सिर को ढक लेती थीं। देश के उत्तर पश्चिम भागों में कुलाह और काश्मीरी टोपियां सर्व साधारण रूप से पहिनी जाती थीं। मोजे नहीं पहने जाते थे किन्तु अधिकतर लोग अनेक प्रकार के जूते पहिनते थे। शरीर की स्वच्छता के लिये दाल, मैदा और रीठे का बना हुआ साबुन काम में लाया जाता था। लोग खिज़ाब, गज और बालों के उड़ने की दवा बनाना जानते थे। स्त्रियां अनेक प्रकार के लेप और विशेषकर चन्दन के लेप काम में लाती थीं। स्त्रियां हाथ पैरों पर महावर और आंखों में सुर्मा लगाती थीं। पान आजकल की लिपस्टिक का काम करते थे। इत्र और खुशबूदार तेल सभी काम में लाते थे। स्त्रियाँ आजकल की तरह ही मुग़ल काल में भी गहनों की शौकीन थीं। व्यक्तिगत स्वच्छता तथा स्वास्थ्य-रक्षा सदाचार का नियमित अङ्ग बन गया था और इसका पालन लोग प्रातःकाल से ही किया करते थे। दातुन करना, आंख और मुंह का धोना, मालिश करना, बदन मलना, कपड़े से रगड़ना, सुगंधित उबटन लगाना, स्नान करना, सुर्मा लगाना, पाउडर लगाना तथा पान खाना इत्यादि स्वास्थ्य-रक्षा के काम समझे जाते थे।

हिन्दू तथा मुसलमान दोनों एक सा ही भोजन करते थे। मुसलमान मांस भी खाते थे किन्तु बहुत से हिन्दू परिवार मांस नहीं खाते थे। किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि सभी हिन्दू मांस से घृणा करते थे। मद्रास, महाराष्ट्र, गुजरात और मध्यभारत में केवल जैनी तथा अधिकतर ब्राह्मण मास नहीं खाते थे। साधारणतया हिन्दू स्वभाव से तथा मितव्ययता के विचार से शाकाहारी ही थे। अकबर तथा जहांगीर ने वर्ष में कुछ दिन पशुवध एवं पक्षीवध पर रोक लगा दी थी और उन दिनों में वे स्वयं भी मांस नहीं खाते थे। ऊँची श्रेणी के मनुष्य बढ़िया भोजन किया करते थे। इनके भोजन में भिन्न भिन्न प्रकार के मांस, पुलाव और इसी प्रकार की स्वादिष्ट वस्तुएँ रहती थीं। शराब का पीना मुसलमानों के लिये निषिद्ध था, अतः यह साधारणतया नहीं परोसी जाती थी। उच्च तथा मध्यम श्रेणी के मनुष्य फलों का सेवन करते थे।

मुरब्बे और अचार साधारणतया खाये जाते थे। शाकाहारी हिन्दुओं के भोजन में मक्खन, दाल, सागभाजी, चावल और रोटियां रहती थीं। रसोईघर को स्वच्छ रखना हिन्दुओं का धार्मिक कर्तव्य समझा जाता था। हिन्दू बाज़ार की बनी चीज़ें नहीं खाते थे। मुसलमान चीनी, शीशे और मिट्टी के बर्तन काम में लाते थे और हिन्दू अपनी अपनी स्थिति के अनुसार पीतल, तांबे और चांदी के बर्तन काम में लाते थे। हिन्दू भोजन के पहिले और बाद में हाथ, पैर और मुँह धो लेते थे।

धार्मिक निषेध होने पर भी ऊँची श्रेणी के बहुत से मुसलमान शराब पीते थे और बहुत से तो नशे से मर जाते थे। राजपूत शराब तथा अफ़ीम दोनों का सेवन करते थे। बहुत से हिन्दू भांग पीते थे। जहांगीर के शासन काल के बाद तम्बाकू का प्रचार बहुत अधिक हो गया था।

मनोरंजन

मुग़ल काल में हमारे देशवासी खेल कूद के बहुत शौकीन थे। शतरञ्ज, चौपड़, ताश, गेंद बल्ले के अनेक खेल और अनेक प्रकार के मुरबग्घी के खेल उच्च श्रेणी तथा मध्य श्रेणी के स्त्री पुरुष साधारणतया खेला करते थे। मैदान के खेल जैसे शिकार, पशु युद्ध, और चौगान (पोलो) बड़े-बड़े आदमी ही खेलते थे। पोलो जल में तथा गर्म गेंद से रात में भी खेला जाता था। कुश्ती, बाजीगर तथा जादूगर के खेल प्रायः सर्वत्र हुआ करते थे। पतंग, नक़ल, आँख मिचौनी, लपक डंडा इत्यादि अनेक प्रकार के खेल प्रायः सर्वत्र खेले जाते थे। उच्च तथा मध्य श्रेणी के मनुष्यों को नाच का खास शौक़ था। ऊँचे घराने की स्त्रियाँ नाच, नाटक तथा प्रेम और साहसिक कहानियों से अपना मनोरंजन किया करती थीं।

शिकार खेलना भी मनोरंजन का अच्छा साधन था और मुग़ल सम्राट प्रायः शिकार खेला करते थे। अकबर ने एक विशेष प्रकार का शिकार निकाला था जो कमरघा कहलाता था और यह बहुत अधिक सर्वप्रिय हो गया था। इस खेल में बहुत से हँकवे (शिकार का पता लगाने वाले) चलीस कोस के घेरे में जानवरों को चारों ओर से घेरते थे और उनको सम्राट के निकट लाने का प्रयत्न करते थे जिससे सम्राट हाथी पर से उनका शिकार कर सके। केवल सम्राट ही हाथी पकड़ सकते थे और चीतों का शिकार कर सकते थे। नौका विहार भी अच्छा मनोरंजन था और इस मनोरंजन के लिये दरबार के पास बहुत सी नौकाएँ थीं। बड़े आदमी कहानी तथा गान से मनोरञ्जन किया करते थे। राजा, सरदार और बड़े बड़े आदमियों को बाग़वानी का भी शौक था।

मेले तथा उत्सव

सार्वजनिक मेले तथा उत्सवों में मित्र तथा सम्बन्धी परस्पर मिल जुल लेते थे और दैनिक जीवन की नीरसता को भुलाकर आनन्दोत्सव मना लेते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही अनेक उत्सव तथा मेले थे। मुग़ल दरबार में वर्ष में अनेक उत्सव होते थे जिनमें साधारण जनता सम्मिलित हो सकती थी। नौरोज़ (फारसी नव वर्ष), सम्राट के जन्म दिन, शाहज़ादों के जन्म दिन और दशहरा, वसन्त, दीपावली (औरंगज़ेब के समय को छोड़कर) और ईद, शुबरात, बारावफ़ात इत्यादि मुसलमान त्योहारों पर दरबार और महल बहुत अच्छी तरह सजाये जाते थे और उस दिन ख़ास दरबार, विशेष भोज और विशेष नाच रङ्ग एवं मनोरञ्जन होते थे। कभी कभी अच्छे अच्छे बाज़ार लगते थे जिनमें ऊँचे कुल की स्त्रियाँ आकर मनोरञ्जन और आनन्द मनाती थीं। इनके अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमानों के अनेक धार्मिक उत्सव होते थे। ये उत्सव आजकल जैसे ही होते थे। हरिद्वार, प्रयाग, मथुरा, गढ़मुक्तेश्वर, नीमसार, गया, कुरुक्षेत्र, उज्जैन तथा इसी प्रकार अनेक हिन्दू तीर्थ-स्थानों पर साल में कुछ समय के लिये मेले लगा करते थे जिनमें नर नारी तथा बच्चे बहुत बड़ी संख्या में जमा होते थे। धार्मिक और सामाजिक होने के कारण ये बहुत ही सर्वप्रिय हो गये थे। इनके अतिरिक्त मुख्य मुख्य नगरों के स्थानीय मेले भी होते थे। अजमेर, पानीपत, सरहिन्द और अजोधन इत्यादि मुसलमानी तीर्थ स्थान थे जहाँ पर मेले लगते थे जिनमें देश के कोने कोने से यात्री आते थे।

स्त्रियों की दशा

मुग़ल काल में प्राचीन हिन्दू कुल की तरह समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा नहीं थी। इस्लाम के प्रभाव तथा मुसलमान शासक और सरदारों के दुराचार के कारण पर्दा एवं बाल विवाह सारे समाज में फैल गया था। नीच जाति की स्त्रियों को छोड़ कर हिन्दू स्त्रियाँ घर के बाहर नहीं निकलती थीं। मुसलमानों के यहाँ तो पर्दा हिन्दुओं से भी अधिक कड़ा था। लड़की का जन्म अपशकुन समझा जाता था और लड़के का जन्म आनन्ददायक माना जाता था। बाल विवाह के कारण समाज में विधवाओं की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी और इन्हें पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं था। मुसलमानों में बहु विवाह प्रचलित था क्योंकि सुन्नी परम्परा के कारण एक सुन्नी मुसलमान चार स्त्रियों तक के साथ विवाह कर सकता था। शिया तो चार से भी अधिक स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता था। हिन्दुओं में तलाक़ प्रथा नहीं थी किन्तु मुसलमानों में स्त्री और पुरुष दोनों ही एक दूसरे को तलाक़ दे सकते थे। यद्यपि हिंदू धर्म शास्त्र में बहु विवाह का निषेध नहीं है तो भी हिन्दू अपने स्वभाव तथा मितव्ययता

के कारण एक पत्नीव्रती ही होते थे और कोई बहुत बड़ा आदमी ही एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता था। केवल हिंदू राजा ही बहु विवाह किया करते थे। इन सब बुराइयों के होते हुए भी घरों में स्त्रियों का अच्छा सम्मान था और उनमें से कुछ तो अपने पतियों के काम में सहायता भी देतीं थीं। इस काल में गोंडवाना की रानी दुर्गावती (जो वीर सैनिक तथा योग्य प्रबंधक थी), रानी कर्मवती, मीराबाई तथा ताराबाई इत्यादि हिंदू स्त्रियाँ अत्यन्त योग्य थीं।मुसलमानों में नूरजहां, मुमताज़-महल, चाँद बीबी, जहान आरा, रोशन आरा, ज़ेबुन्निसा और शाहिब जी (क़ाबुल के गवर्नर अमीन ख़ां की स्त्री) इत्यादि स्त्रियों ने उस समय बहुत अच्छे अच्छे काम किये थे।

कृषि एवं उद्योग

देश की बहु संख्यक जनता कृषि पर ही निर्भर रहती थी। खेती करने का ढंग उस समय भी आजकल जैसा ही था। गेहूं, जौ, चना, मटर और तिलहन इत्यादि साधारण फसलों के अतिरिक्त, गन्ना, नील तथा पोस्त भी देश के विभिन्न भागों में पैदा होता था। फसलों का स्थानीकरण था। गन्ना आजकल के उत्तर प्रदेश, बंगाल और बिहार के अनेक भागों में होता था और नील उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के अनेक स्थानों में पैदा किया जाता था। कपास देश के अनेक स्थानों में बोई जाती थी। खेती के औजार तथा साधन उस समय भी आज जैसे ही थे। मुग़ल काल में सिंचाई के आजकल जैसे कृत्रिम साधन नहीं थे, अतः किसान तालाब और कुओं से ही सिंचाई करते थे। देश अन्न के लिये आत्म निर्भर था। ग़ैर-किसान कामों में मछली पकड़ना, खान, नमक, अफ़ीम और शराब इत्यादि के काम मुख्य थे। सोना कुमायूँ, पर्वत और पंजाब की नदियों में पाया जाता था। लोहा देश के अनेक भागों में पाया जाता था और औजार, हथियार इत्यादि बनाने के कामों में अधिकता से काम में लाया जाता था। तांबे की खानें राजस्थान और मध्य भारत में पाई जाती थीं। लाल पत्थर की खानें फतहपुर सीकरी तथा राजस्थान में विद्यमान थीं। पीला पत्थर थट्टा में और संगमरमर जयपुर तथा जोधपुर में पाया जाता था। गोलकुण्डे में हीरे की प्रसिद्ध खान थी और इसके अतिरिक्त हीरा छोटा नागपुर में भी पाया जाता था। नमक सांभर झील से तथा पंजाब की पहाड़ियों से आता था। इसके अतिरिक्त नमक गुजरात तथा सिन्ध में समुद्र के तथा झील के पानी से बनाया जाता था। अफ़ीम मालवा और बिहार में अधिकता से पैदा होती थी और शराब प्रायः हर जगह बनाई जाती थी। शोरा भी बनाया जाता था जो गोला बारूद के काम में बहुत आता था।

देश का सबसे बड़ा उद्योग रुई का उत्पादन और सूती वस्त्र का बनाना था।

सूती उद्योग को हर गांव में जानते थे और घरेलू काम का कपड़ा सारे देश के गांवों में बना लिया जाता था। आगरा, बनारस, जौनपुर, पटना, बुरहानपुर, लखनऊ, खैराबाद और अकबरपुर तथा बीदर के अनेक स्थान, बंगाल, बिहार और मालवा बढ़िया कपड़े के लिये प्रसिद्ध थे। रंगसाज़ी का सहायक धंधा भी सूती उद्योग के साथ साथ खूब फल फूल रहा था। एडवर्ड टेरी देश के सुन्दर और गहरे रंगे हुए कपड़े को देखकर बहुत प्रभावित हुआ था। अयोध्या (फ़ैज़ाबाद) और ख़ानदेश में सुनहरी कपड़ा बनाया जाता था, बंगाल में ढाका तथा दूसरे स्थान रेशमी कपड़े, मलमल तथा गद्दों के लिये प्रसिद्ध थे। मुल्तान में सुन्दर फूलदार क़ालीन बनते थे और काश्मीर ऊनी क़ालीन तथा रेशमी एवं ऊनी वस्तुओं के लिये भी देश में प्रसिद्ध था। जहाँगीर ने अमृतसर में ऊनी क़ालीन तथा शाल बनाने का उद्योग स्थापित किया था। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा देश के अन्य भागों में कढ़ाई का काम होता था। बरार, सिरोंज, बुरहानपुर, अहमदाबाद और आगरा में छपे कपड़े तैयार होते थे। फतहपुर सीकरी, अलवर और जौनपुर में क़ालीन बनाये जाते थे। पंजाब में स्यालकोट तम्बुओं के लिए प्रसिद्ध था। राज्य बहुत बड़े पैमाने पर अनेक प्रकार की वस्तुओं के बनाने वालों को प्रोत्साहन देता था। दरबार से लगे हुए भी बहुत से कारख़ाने थे जिनमें सैकड़ों आदमी लगे हुए थे।

हमले के तथा बचाव के हथियार देश में सब जगह बनाये जाते थे। किन्तु इस उद्योग के मुख्य मुख्य केन्द्र पंजाब तथा गुजरात थे। सोमनाथ की तलवारें देश में सवत्र प्रसिद्ध थीं। जौनपुर तथा गुजरात के सुगन्धित तेल की तथा दिल्ली के गुलाबजल की शाही दरबार तथा प्रान्तीय दरबारों में बहुत अधिक मांग रहती थी। स्यालकोट, गया तथा काश्मीर में काग़ज़ बनाने के कारख़ाने थे। बीदर में सोने तथा चांदी के गहने तथा बरतन, फतहपुर सीकरी, बरार और बिहार में कांच के कारख़ाने थे। पंजाब में खेओरा सेंधा नमक से बनाई गई चीज़ों के लिये बहुत प्रसिद्ध था। दक्षिण भारत में समुद्र से मोती निकालने का काम खूब फल फूल रहा था। लकड़ी तथा चमड़े की चीजें देश में सब जगह बनती थीं। अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ, पीतल के बर्तन, मिट्टी के बर्तन, ईंटें, चक्की तथा दैनिक प्रयोग की दूसरी वस्तुएँ सारे देश में बनती थीं। दिन प्रतिदिन के काम में आने वाली वस्तुओं के लिए देश आत्मनिर्भर रहता था।

व्यापार

एशिया और योरोप के अनेक देशों के साथ हमारा व्यापार बहुत बढ़ा चढ़ा था। मुग़ल काल में लङ्का, बर्मा, चीन, जापान, पूर्वी द्वीप समूह, नेपाल, फारस,

मध्य एशिया, अरब और लाल सागर के बन्दरगाहों तथा पूर्वी अफ्रीका से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध था। पुर्तगाली, डच, अँग्रेज़ और फ्रांसीसी हमारे देश की वस्तुओं को योरोपीय बाज़ारों में ले जाते थे। देश से सूत और विशेषकर अनेक प्रकार के कपड़ों का निर्यात होता था। योरोप तथा एशिया के अनेक देशों में हमारे कपड़े की बहुत मांग थी। काली मिर्च, नील, अफ़ीम, शोरा, मसाले, चीनी, रेशम, नमक, माला के दाने, सुहागा, हल्दी, लाक, लाक बत्ती, हींग, दवाएं तथा अनेक प्रकार की दूसरी दूसरी वस्तुएं यहां से विदेशों को भेजी जाती थीं। विदेशों से जिन वस्तुओं का आयात होता था उनमें कलाबत्तू, घोड़े, सस्ते धातु, रेशम, हाथी दांत, मूंगा, अम्बर, क़ीमती पत्थर, रेशमी वस्त्र, मख़मल, कामख़ाब, बनात, इत्र, औषधियां, चीनी वस्तुएँ—विशेषकर चीनी बर्तन, अफ्रीकी दास और योरोपीय शराब इत्यादि मुख्य थीं। शाही तथा प्रान्तीय दरबारों में अद्भुत और दुर्लभ वस्तुओं की मांग बहुत अधिक रहती थी। कांच के बर्तन विदेशों से और विशेषकर वैनिस से आते थे।

देश में इतना अधिक कपड़ा पैदा होता था कि देश की आवश्यकता की पूर्ति करने के बाद वह अफ्रीका, अरब, मिश्र, बर्मा, मलाका और मलाया इत्यादि एशिया के अनेक देशों को भेजा जाता था। देश का सूती कपड़ा इटली, फ्रांस, इंगलैण्ड और जर्मनी इत्यादि को भेजा जाता था और इन देशों में इसकी बहुत अधिक मांग बनी रहती थी। काम्बे, सूरत, भड़ौच, लाहरी बन्दर, वसीन, चौल, गोआ, कालीकट, कोचीन, नागापट्टम, मसूलीपट्टम और सतगांव इत्यादि ऐसे प्रमुख नगर थे जिनसे समुद्र के द्वारा विदेशों से व्यापार होता था। स्थल के व्यापार के दो मार्ग थे—एक था लाहौर से काबुल तथा उससे परे तक और दूसरा था मुल्तान से कंधार और उससे परे तक। राज्य बहुत कम चुंगी लेता था। सूरत में जो वस्तुएँ आती थीं और जो वहाँ से बाहर जाती थीं उन पर ३॥ प्रतिशत चुंगी लगती थी किन्तु सोने चांदी पर केवल २॥ प्रतिशत चुंगी लगती थी। व्यापार का संतुलन सदा हमारे पक्ष में ही रहता था। लाहौर, मुल्तान, लाहरी बन्दर (सिन्ध), काम्बे, अहमदाबाद, सूरत, चटगांव पटना और आगरा ऐसे बड़े बड़े बाज़ार थे जहाँ विदेशों से वस्तुएँ आती थीं और फिर सारे देश में भेजी जाती थीं। इन्हीं बाज़ारों से विदेशों को वस्तुएँ जाती थीं।

आर्थिक प्रणाली

मुग़ल काल की आर्थिक प्रणाली की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उस काल में उत्पादक और उपभोक्ता के बीच भेद की चौड़ी खाई बनी ही रहती थी। उत्पादकों में किसान, कारीगर और व्यापारी थे तथा उपभोक्ताओं में नागरिक तथा फ़ौजी

अफ़सर, व्यवसायी तथा धार्मिककार्यकर्ता, सेवक, दास और भिखारी थे। इनके अतिरिक्त उपभोक्ताओं में बड़े बड़े अफ़सर और उनके सेवक और थे। मुग़ल काल के रईसों के यहां नौकर चाकर तथा दास दासी बहुत अधिक रहते थे। उस समय देश में हिन्दू तथा मुसलमान दानपात्री तथा भिखारी भी बहुत अधिक थे। इन लोगों से देश को कोई लाभ नहीं होता था फलत: देश की बहुत बड़ी आय का दुरुपयोग हुआ करता था और इसका भार बेचारे उत्पादकों पर पड़ा करता था। सरदारों और अफ़सरों को बड़ी बड़ी तनख़्वाहें मिलती थीं और ये लोग विलास एवं बनाव शृंगार की वस्तुओं पर धन का अति व्यय किया करते थे। ये लोग उत्तम भोजन किया करते थे, बढ़िया वस्त्र पहिना करते थे, आभूषण धारण किया करते और हाथी तथा घोड़े रखा करते थे। धनी वर्ग पुत्र तथा पुत्रियों के विवाह में मकान, मक़बरे तथा मस्जिद मन्दिर बनवाने में और बढ़िया बढ़िया विदेशी वस्तुओं के ख़रीदने में अपने धन का अति व्यय किया करते थे। कुछ लोग ऐसे फ़िज़ूलख़र्च थे जो अपनी फ़िज़ूलख़र्ची से कर्ज़दार हो जाते थे और फिर विवश होकर किसानों का माल मारा करते थे। मध्यम श्रेणी के मनुष्यों में व्यवसायी कलाकार और राजकर्मचारी थे और ये लोग साधारणतया अच्छा जीवन बिताते थे। उच्च एवं मध्यम श्रेणी के व्यापारियों की आर्थिक दशा अच्छी थी। निपुण कारीगर खूब कमाते थे और बहुत अच्छा जीवन बिताते थे किन्तु मोटा काम करने वाले मज़दूर, चपरासी और छोटे छोटे दुकानदारों की दशा अच्छी नहीं थी। मज़दूरों को लोग मज़दूरी भी कम देते थे और उनके साथ व्यवहार भी बुरा करते थे। निम्न श्रेणी के मनुष्य इतने निर्धन थे कि वे साधारण सुख सुविधा का उपभोग भी नहीं कर सकते थे। ये लोग आज के मज़दूरों की तरह झोंपड़ियों में रहते थे और सारे दिन परिश्रम करते थे। इन लोगों के पास जीवनोपयोगी वस्तुएँ भी बहुत कम होती थीं।

अकबर से लेकर औरंगज़ेब के शासन काल तक किसान, मज़दूर, चपरासी और छोटे छोटे दूकानदारों की दशा धीरे धीरे गिरती चली गई और उत्तरकालीन मुग़ल सम्राटों के शासन काल में तो यह बहुत ही बिगड़ गई। औरंगज़ेब के शासन काल में युद्धों के निरन्तर होते रहने के कारण और शासन व्यवस्था के निकम्मेपन के कारण कृषि, उद्योग और व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था। सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि "इस प्रकार भारत की आर्थिक दशा का महान् पतन आरम्भ हो गया। इस काल में राष्ट्रीय सम्पत्ति की ही अवनति नहीं हुई, अपितु यान्त्रिक निपुणता और सभ्यता का भी बहुत कुछ पतन हो गया तथा कला और संस्कृति के तो दूर दूर तक दर्शन दुर्लभ हो गए।" औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद तो देश का आर्थिक ढांचा

बिलकुल ही बिगड़ गया और परिणामस्वरूप साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, देश के अनेक भागों में प्रान्तीय राज्यों की स्थापना हो गई। केन्द्रीय सरकार की कमज़ोरी, मराठों की लूटपाट, विदेशी नादिर और अब्दाली के आक्रमण, पुर्तगालियों की समुद्री डकैती और योरोपीय व्यापारियों और उनके एजेन्टों को दी गई व्यापारिक सुविधाओं का दुरुपयोग इत्यादि कारण वश देश की बहुसंख्यक जनता को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी। इस प्रकार जब देश अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में आया उस समय देश की आर्थिक दशा बहुत बुरी थी और देश की आधी जनता बहुत बुरा जीवन बिता रही थी।

मूल्य

मुग़ल शासन काल में अन्न, सागभाजी, फल, दूध, घी, तेल, माँस और मछली, कपड़ा इत्यादि दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ बहुत सस्ती थीं। अकबर के शासन काल में सामान्य मूल्य गेहूँ एक रुपये का १२ मन, जौ १८ मन, बढ़िया चावल १० मन, मूंग १८ मन, उर्द १६ मन और नमक १६ मन था। डेढ़ रुपये की एक भेड़, एक रुपये का १७ सेर मांस और ४४ सेर दूध मिलता था। मज़दूरों की दैनिक मज़दूरी भी बहुत ही कम थी। मोटा काम करने वाले मज़दूर को २ दाम अर्थात् १/२० रुपया प्रति दिन मिलता था। बढ़ई तथा निपुण कारीगर को ७ दाम प्रति दिन मिलते थे। अकबर के उत्तराधिकारियों के समय में भी लगभग ये ही मूल्य थे। लड़ाई और अकाल के थोड़े समय को छोड़ कर सम्पूर्ण मुग़ल काल में वस्तुएँ सस्ती थीं। सारी वस्तुओं के सस्ते होने के कारण साधारण मनुष्य भी सरलता से जीवन बिता सकता था। इतिहासकार स्मिथ का मत है कि "भूमिहीन मज़दूर आज की अपेक्षा अकबर और जहाँगीर के शासन काल में अधिक खा पहिन सकते थे।" इसके विपरीत मोरलैण्ड का विचार है कि "मोटे तौर पर कह सकते हैं कि मुग़ल काल में भी सर्व साधारण की दशा आज जैसी ही थी"। किन्तु वास्तव में सच तो यह है कि मुग़ल काल में वस्तुएँ इतनी अधिक सस्ती थीं कि कम से कम आय वाले व्यक्ति को भी न तो भूखा मरना पड़ता था और न उसे जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कोई कष्ट ही उठाना पड़ता था। इसके साथ साथ एक बात और थी कि साधारण मनुष्य की आवश्यकताएँ भी कम थीं और वह आज की अपेक्षा सन्तुष्ट भी अधिक रहता था। वह बीसवीं शताब्दी के मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट और अधिक ईमानदार था तथा सीधा सच्चा जीवन बिताता था।

अकाल

हमारी फसल वर्षा पर ही निर्भर रहती है। जिस वर्ष पानी नहीं बरसता है उस

वर्ष देश में अकाल पड़ जाता है। १५५५-५६ में अर्थात् अकबर के शासन के प्रथम वर्ष में उत्तर पश्चिम भारत में बड़ा भारी अकाल पड़ा था, इसके बाद देश में महामारी फैली थी जिसके कारण बहुत अधिक मृत्युएँ हो गई थीं। इसी प्रकार १५७३-७४ में और १५९५-९६ में काश्मीर में अकाल पड़ा। इसी तरह का अकाल १५७५ में बंगाल में पड़ा और १६३०-३२ में दक्खिन और गुजरात में बड़ा भयङ्कर अकाल पड़ा। औरङ्गज़ेब के शासन काल में भी अनेक अकाल पड़े किन्तु ये बहुत भयानक नहीं थे। अकबर से लेकर जितने भी मुग़ल सम्राट हुए उन सबों ने जनता की कठिनाइयों को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। उन्होंने अकाल पीड़ितों को तक़ाबियाँ बाँटीं और उनका लगान माफ़ कर दिया। किन्तु मुग़ल सम्राट अकाल की समस्या को हल करने में सफल नहीं हुए क्योंकि एक तो यह समस्या ही जटिल थी, दूसरे शासन व्यवस्था भी सन्तोषजनक नहीं थी।

शिक्षा

मुग़ल सरकार जनता को शिक्षित बनाना अपना कर्तव्य नहीं समझती थी। इस सरकार में न तो कोई शिक्षा विभाग था और न मालगुज़ारी का कुछ अंश शिक्षा के लिए निकाल कर ही रखा जाता था। किन्तु अकबर ने शिक्षा-प्रसार का अवश्य प्रयत्न किया और उसने प्राइमरी स्कूलों से लेकर बड़े बड़े कालिज तक खोले। उसने पाठ्यक्रम में सुधार कर उसमें आचार शास्त्र, समाज शास्त्र, गणित, कृषि शास्त्र, क्षेत्रमिति, ज्यामिति, खगोल विद्या, मुखाकृति सामुद्रिक, ज्योतिष, गृह विज्ञान, नागरिक शासन व्यवस्था, चिकित्सा शास्त्र, तर्क शास्त्र, इतिहास इत्यादि अनेक लाभदायक विषयों को विद्यालयों में पढ़ाये जाने का प्रबन्ध किया। हिन्दी और संस्कृत विद्यालयों के अतिरिक्त अन्य सभी स्कूलों में शिक्षा का माध्यम फ़ारसी था। अकबर के उत्तराधिकारियों ने भी उसी की नीति को अपनाया। यह कहना तो कठिन है कि सभी मुग़ल सम्राट अकबर जैसे ही शिक्षा प्रेमी थे और उन्होंने अकबर द्वारा खोले गये सरकारी स्कूलों के चलाने में अकबर जैसी ही रुचि ली थी किन्तु यह स्पष्ट है कि मुग़ल काल के अन्त तक अनेक सम्राट स्कूलों को आर्थिक सहायता देकर चलाते रहे। किन्तु सरकार ने जनता के लिए बहुत कम स्कूल खोले थे और जनता द्वारा खोले गये स्कूलों को तो यह बिल्कुल भी सहायता नहीं देती थी। अतः मुग़ल कालीन भारत में शिक्षा बहुत ही कम थी और जो थी भी वह धर्म पर आधारित थी। मुग़ल सम्राट शिक्षा पर जो भी थोड़ा बहुत व्यय करते थे वह धार्मिक यश प्राप्त करने के लिए ही करते थे, जनता की भलाई के लिए शिक्षा-प्रसार करना उनका उद्देश्य नहीं रहता था।

जनता अपने बच्चों की आयु और परिस्थिति के अनुसार उनकी शिक्षा का स्वयं प्रबन्ध करती थी और ये प्रबन्ध सन्तोषजनक भी होते थे। एफ० डब्लू० थौमस लिखते हैं कि "विश्व में भारत के समान ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ लोगों में शिक्षा के लिये स्वयं प्रेम हुआ हो और उसका लोगों के मस्तिष्क पर स्थायी और शक्तिशाली प्रभाव पड़ा हो। वैदिक काल के साधारण कवियों से लेकर यहाँ पर टैगोर जैसे उच्च-कोटि के दार्शनिक हुए और देश में गुरु-शिष्य की परम्परा सदा ही चलती रही।" प्रायः प्रत्येक ग्राम में ही जनता के स्कूल थे और ये मन्दिर अथवा मस्जिद से लगे हुए थे। हिन्दू अपने बच्चों को पाँच वर्ष की अवस्था में नियमित रूप से स्कूल भेज दिया करते थे। मुसलमान अपने बच्चों का मक़तब चार वर्ष चार महीने और चार दिन की अवस्था होने पर करते थे। किसान अथवा छोटे छोटे नौकरों के बच्चों को छोड़कर शेष सभी बच्चे लिखना, पढ़ना और हिसाब सीखने के लिये स्कूल जाते थे। अकबर के समय से ही बहुत से हिन्दू बच्चे फ़ारसी पढ़ने के लिये मुसलमानी मक़तबों में जाने लगे थे। हिन्दुओं की तरह मुसलमानों में अपने बच्चों की शिक्षा के लिए उत्साह नहीं था। योरोपीय यात्रियों ने लिखा है कि साधारण श्रेणी का मुसलमान अपने बच्चे की शिक्षा पर ध्यान नहीं देता था। मक़तब बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा के प्राइमरी स्कूल थे। इनमें मौलवी पढ़ाते थे। डेलावेला कहता है कि "जहाँगीर के शासन काल में इस प्रकार के स्कूल प्रत्येक ग्राम और नगर में थे।" उस समय छपी हुई प्राइमरें नहीं थीं और बच्चे अक्षर तथा गिनती पट्टियों पर लिखा करते थे। मुस्लिम स्कूलों में कुरान प्रत्येक बच्चे को रटाई जाती थी। हिन्दू स्कूलों में रामायण, महाभारत और पुराणों की शिक्षा अनिवार्य थी। प्रारम्भिक गणित पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पहाड़े याद कराने का बड़ा अच्छा ढङ्ग था। बच्चे झुण्डों में पहाड़े याद करते थे। सुलेख पर विशेष ध्यान दिया जाता था और इसका प्रतिदिन अभ्यास कराया जाता था। कक्षाएँ प्रातः सायं दोनों समय लगती थीं और बीच में खाने की छुट्टी दी जाती थी। छात्रों से किसी प्रकार का भी शुल्क नहीं लिया जाता था क्योंकि निःशुल्क विद्यादान सबसे बड़ा धर्म समझा जाता था। धनिक वर्ग अध्यापकों की सहायता किया करता था। कभी कभी बच्चों के माता-पिता भी गुरुओं को भेंट दे जाया करते थे। शिष्य मण्डली तथा जनता गुरुजनों का बड़ा सम्मान करती थी। सुस्त और पाठ याद न करने वाले अथवा शरारत करने वाले छात्रों को शारीरिक दण्ड दिया जाता था और विशेषकर उनके कान खींचे जाते थे। जो लोग घर का काम करके नहीं लाते थे, जान-बूझकर शरारत करते थे और बुरा व्यवहार करते थे उन्हें स्कूल के बाद रोका जाता था और कामचोर छात्रों को दस या पन्द्रह बार पाठ लिखने के लिये दिया जाता था।

देश में उच्च कोटि के विद्यापीठ भी थे जहां पर धार्मिक और अर्थकरी विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। किसी किसी नगर में तो अनेक हाई स्कूलों अथवा कालिजों की स्थापना हो गई थी जिन्होंने मिल कर एक विश्वविद्यालय जैसा रूप धारण कर लिया था। मुग़ल काल में काशी और नदिया ऐसे ही उच्च कोटि के विद्यापीठ थे। बर्नियर लिखता है "बनारस विश्वविद्यालय के समान है किन्तु वह तत्कालीन योरोपीय विश्वविद्यालय के समान नहीं है जिनमें नियमित कक्षाएं होती हैं। बनारस के स्कूल योरोप के प्राचीन स्कूलों के समान थे और गुरुजन अपने घरों में अलग अलग पढ़ाया करते थे।" (Bernier's Travels, १८९१, पृष्ठ ३४१) विद्यालयों के लिये धनी अपने भवन दे दिया करते थे, इन भवनों में बाग़ बगीचे लगे रहते थे। काशी में संस्कृत व्याकरण, साहित्य, षड् दर्शन तथा हिन्दू धर्म शास्त्र पढ़ाये जाते थे। काशी की तरह बंगाल में नदिया हिन्दू शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ पर देश के प्रत्येक भाग से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते थे। मिथिला, तिरहुत, मथुरा, प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन, अयोध्या, सरहिन्द तथा मुल्तान इत्यादि हिन्दू-शिक्षा के बड़े बड़े विद्यापीठ थे।

मुस्लिम शिक्षा के भी अनेक विद्यापीठ थे। मुग़ल सम्राटों ने दिल्ली, आगरा, फतहपुर सीकरी तथा लाहौर में बहुत से मदरसे खोले थे। मुसलमान विद्वानों और उलेमाओं ने भी बड़े बड़े शहरों में बहुत से मदरसे खोल रखे थे। आगरा, दिल्ली, लाहौर, जौनपुर, स्यालकोट इत्यादि अनेक नगर मुस्लिम शिक्षा के मुख्य केन्द्र थे। मुग़ल काल में आगरा मुस्लिम शिक्षा का सर्व प्रधान केन्द्र था। यहां पर बहुत से कालिज थे और ज़्यादातर सम्राटों अथवा उनके सरदारों द्वारा खोले गये थे। आगरा के बाद दूसरा नम्बर दिल्ली का था। इसमें भी बहुत से कालिज थे। यहां का सबसे पहिला कालिज हुमायूँ तथा महम अनगा ने 'मदरसा-ए-बेग़म' नाम से खोला था। यद्यपि मुग़ल काल के आरम्भ में लाहौर आगरा और दिल्ली के समान विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र नहीं था, किन्तु औरंगज़ेब के शासन काल में यह विदेशों तक में विख्यात हो गया था। जौनपुर पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत का शीराज़ बन गया था और वह अपने इस गौरव को मुग़ल काल के अन्त तक बनाये रहा। लखनऊ, इलाहाबाद, ग्वालियर, स्यालकोट, अम्बाला, थानेश्वर तथा काश्मीर में बहुत से स्कूल तथा बड़े-बड़े विद्वान् थे।

इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि मुस्लिम विद्यार्थी खगोल विद्या, ज्योतिष शास्त्र, गणित तथा चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन के लिये हिन्दू विद्यालयों में आया करते थे। इसी प्रकार हिन्दू विद्यार्थी भी फ़ारसी पढ़ने के मुस्लिम स्कूलों में जाते थे।

प्रारम्भिक तथा माध्यमिक स्कूलों में विद्यार्थी को नियत वर्षों तक नहीं पढ़ना पड़ता था। बुद्धिमान् और चतुर विद्यार्थी थोड़े समय में ही योग्यता प्राप्त कर स्कूल छोड़ सकते थे। बड़े बड़े विद्यापीठों में स्नातक का पाठ्य-क्रम १०–१२ वर्ष तक भिन्न भिन्न होता था। किन्तु वार्षिक परीक्षाएँ नियमित रूप से नहीं होती थीं। प्रत्येक विषय का अध्यापक विद्यार्थी को अपने विषय की योग्यता का प्रमाण पत्र दे सकता था। कभी-कभी विद्यार्थियों के शास्त्रीय वाद-विवाद हुआ करते थे जिनमें उनकी स्नातक-परीक्षा हो जाया करती थी। उस समय प्रमाण-पत्र अथवा उपाधि-पत्र नहीं दिये जाते थे और विद्यार्थी की योग्यता और विद्वत्ता उसके गुरु तथा विद्यालय की प्रसिद्धि पर निर्भर थी।

मुग़ल काल में राजकुमारियाँ और उच्च घराने की लड़कियाँ ही शिक्षा प्राप्त करती थीं। लड़कियों के स्कूल कहीं नहीं थे। धनी लोग घर पर अध्यापक रखकर अपनी पुत्रियों को साहित्य, प्रारम्भिक गणित तथा धार्मिक शास्त्र पढ़ाते थे। शिक्षित स्त्रियों का घर तथा समाज में अच्छा मान था। गुल बदन, सलीमा, सुलताना, रूपमती, ज़ेबुन्निसा और जिनतुन्निसा का नाम विदुषियों में उल्लेखनीय था। रानी दुर्गावती, चांदबीबी, नूरजहाँ, जहांनारा और साहिब जी इत्यादि विदुषियों ने राजनैतिक क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये थे।

साहित्य

फ़ारसी साहित्य

मुग़ल काल में फ़ारसी साहित्य की बहुत उन्नति हुई। तैमूर के वंशज सभी शासक विद्वान् थे और विद्या का प्रचार करते थे। बाबर तुर्की और फ़ारसी का जन्म-जात कवि तथा उच्च कोटि का लेखक था। यह साहित्य का बड़ा प्रेमी था। हुमायूँ भी साहित्य का बड़ा प्रेमी था। इन सम्राटों के दरबारों में बड़े बड़े विद्वान् थे और उन्होंने अपने अपने सम्राटों के संरक्षण में उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण किया था। मध्य कालीन भारत के इतिहास में अकबर का शासन काल सभ्यता एवं संस्कृति का पुनरुत्थान काल था। अकबर धार्मिक सहिष्णु उदार और विद्या प्रेमी था और उसने देश में आन्तरिक शान्ति रख कर समृद्धि के बढ़ाने का सदा प्रयत्न किया था, अतः उसके शासन काल में साहित्य और कला का पूर्ण विकास हुआ था। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अकबर के शासन काल में उच्च कोटि के विद्वानों द्वारा उच्च कोटि के मौलिक साहित्य का निर्माण हो सका। फ़ारसी में दो प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ। इसमें कुछ तो मौलिक रचनाएँ थीं और कुछ अनुवाद थे।

मौलिक रचनाओं में पत्र तथा काव्यों का महत्वपूर्ण स्थान था। उस समय ऐसी रीति थी कि साहित्यकार अपने पीछे अपने पत्र छोड़ जाते थे जो साहित्यिक शैली के नमूने समझे जाते थे। अबुल फज़ल तथा दूसरे लेखकों के पत्रों के देखने से अकबर के समय की फ़ारसी शैली का ज्ञान होता है। मध्य काल में कविता साहित्यिक भावों के प्रदर्शन का सर्व प्रिय साधन था और देशी तथा विदेशी मुसलमान विद्वान इसके बहुत प्रेमी थे। अकबर के दरबार में बहुत अधिक कवि थे। अबुल फज़ल की रचनाओं के देखने से ज्ञात होता है कि इन कवियों ने अपने अलग अलग दीवान लिखे थे जिनमें उनकी विविध प्रकार की उत्तम उत्तम कविताओं का संग्रह रहता था। आइने अकबरी में फ़ारसी के उन ५९ सर्वश्रेष्ठ कवियों के नाम दिये हुए हैं जो अकबर के दरबार में रहते थे। इनके अतिरिक्त १५ और कवि थे जो मौलिक रचना किया करते थे और फ़ारस से अपनी कविताएँ अकबर के दरबार में भेजा करते थे। अबुल फ़ैज़ी अकबर का राजकवि था और अमीर खुसरो के बाद फ़ारसी का वही सबसे बड़ा कवि माना जाता था। फ़ैज़ी तथा दूसरे कवियों की फ़ारसी कविताओं की उत्तमता के विषय में आलोचकों के भिन्न भिन्न मत हैं। वी० ए० स्मिथ का मत है कि ये कवि केवल तुकबन्दी करने वाले कवि थे, किन्तु भारतीय विद्वान् उस युग के साहित्य का अच्छा मान करते हैं। चाहे कोई स्मिथ के मत के बिलकुल विरुद्ध हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय में फ़ारसी में कविता करने वाले कवि भाषा के सजाने पर अधिक जोर देते थे और भावों पर बहुत कम ध्यान देते थे और उनका विषय प्रायः प्रेम होता था।

बहुत से लेखकों ने कुरान पर भाष्य लिखे हैं। इस काल के इतिहास के उल्लेखनीय ग्रन्थ अबुल फ़ज़ल का अकबर नामा और आइने अकबरी, निज़ामुद्दीन अहमद का तबक़ाते अकबरी, और गुलबदन बेगम का हुमायूँ नामा और जौहर का तज़किरातुल वाक़यात हैं। अब्बास सरवानी ने तौफ़ा-ए-अकबरशाही अर्थात् तारीख़े शेरशाही लिखा था। अकबर ने नक़ीब ख़ाँ, थट्टा के मुल्ला मुहम्मद और ज़ाफर बेग को इस्लाम धर्म के १,००० वर्ष के इतिहास लिखने की आज्ञा दी थी और यह ग्रन्थ अबुल फ़ज़ल की भूमिका के साथ तारीख़े अलफ़ी नाम से ठीक समय पर प्रकाशित हो गया था। इस समय इतिहास के कुछ और ग्रन्थ लिखे गये। इस काल में अबुल क़ादिर बदायुँनी ने मुनतख़बुत-तवारीख, अहमदयादगार ने तारीख़े सलातीने अफ़ग़ान, बयाज़ीद सुल्तान ने तारीख़ हुमायूं, नुरुलहक़ ने ज़ुब्दतुल तवारीख़ और असद बेग़ ने वाक़यात और शेख़ इलहदाद फ़ैज़ी सरहिन्दी ने अकबरनामा इत्यादि ग्रन्थ लिखे।

अकबर ने संस्कृत, अरबी, तुर्की और यूनानी भाषा के अनेक ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद कराया जिससे देश के विद्वानों को सर्वमान्य साहित्य प्राप्त हो सके।

खगोल विद्या का प्रसिद्ध ग्रन्थ ताज़क और तुज़ुके बाबरी की आत्मकथाओं का फ़ारसी में अनुवाद हुआ। जिच-जदीदे मिराज़ै का भी फ़ारसी में अनुवाद हुआ। इसी प्रकार रामायण महाभारत, अथर्ववेद, राजतरंगिणी, हरवंश पुराण, पंचतंत्र इत्यादि संस्कृत के अनेक उत्तम उत्तम ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद करवाया गया।

अकबर के उत्तराधिकारियों के शासन काल में भी फ़ारसी साहित्य की खूब उन्नति हुई। जहाँगीर स्वयं विद्वान् और आलोचक था तथा उसने अपने दादा के समान तुज़ुके जहांगीरी नाम की आत्मकथा लिखी। इस पुस्तक में उसने अपने शासन के १७ वें वर्ष तक का हाल लिखा था। उसके बाद जहाँगीर की आज्ञा से मौतमिद ख़ां ने काम जारी रखा और बादशाह के १९ वें वर्ष तक का हाल उसमें लिखा। इसमें जहांगीर की दिनचर्या सचाई और सफ़ाई के साथ लिखी गई है। केवल जहांगीर का अपने पिता के प्रति विद्रोह, वे परिस्थितियां जिनमें उसने नूरजहां के साथ विवाह किया था और शाहज़ादे खुर्रो की मृत्यु इत्यादि कुछ बातों का वर्णन ईमानदारी के साथ नहीं किया गया। सम्राट उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण करने वाले कवियों को अच्छा पुरस्कार देता था। निशापुर का नासरी जहांगीर के दरबार में फ़ारसी का सबसे योग्य कवि था। मौतमिद ख़ां नाम के एक दरबारी ने इक़बाल-नामा-ए-जहांगीरी लिखा जो जहांगीर के शासन का मान्य ग्रन्थ है। जहांगीर के शासन काल में इतिहास के जो उत्तम उत्तम ग्रन्थ लिखे गये उनमें से मुख्य मुख्य ये हैं :— मआसिरे जहांगीरी और ज़ुब्दुत तवारीख़। जहांगीर के दरबारी कविरत्नों में गयास बेग़ उपनाम इतमादुद्दौला, नक़ीब ख़ां, मौतमिद ख़ां, नियामत उल्ला और अब्दुल हक़ दहलवी इत्यादि प्रमुख कवि थे। इस काल में कुरान पर भाष्य लिखे गये और कविता का बहुत अधिक निर्माण हुआ। किन्तु अनुवाद का काम रुक गया। शाहजहां भी अपने पिता तथा दादा के समान विद्वान और कवियों को पुरस्कार देता रहा। उसके दरबारी कवियों में अबु सालेह उपनाम कलीम, हाजी मुहम्मद जान तथा चन्द्रभान ब्राह्मण मुख्य थे। उसके शासन काल में ऐतिहासिक साहित्य का अच्छा निर्माण हुआ। दरबारी इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी ने पादशाह नामा लिखा। अमीनाई क़ाज़बिनी नाम के एक दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् ने दूसरा पादशाह नामा लिखा। इनायत ख़ां ने शाहजहां नामा और मुहम्मद सालेह ने आलमे सालेह नामक ग्रन्थ लिखे। सम्राट का सबसे बड़ा लड़का दारा शिकोह उच्च विद्वान् था। यह अरबी, फ़ारसी और संस्कृत का अच्छा विद्वान् था और उसने सूफ़ी दर्शन पर अनेक ग्रन्थ और मुसलमान सन्तों की जीवनियाँ लिखीं। उसने अनेक उपनिषद्, भगवद्गीता और योग वाशिष्ठ का अनुवाद भी किया। उसका सबसे

अच्छा मौलिक ग्रन्थ मज्मुल-बहरीन अथवा दो सागरों का सम्मिश्रण है। इसमें उसने दिखाया है कि हिन्दू धर्म और इस्लाम एक ही लक्ष्य के दो मार्ग हैं और दोनों एक दूसरे में सरलता से मिल सकते हैं। औरंगज़ेब ने मुस्लिम दर्शन और मुस्लिम धर्मशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन किया था, किन्तु उसे कविता से प्रेम नहीं था और वह अपने शासन काल के इतिहास लिखाने का भी विरोधी था। तो भी उसके समय में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये, यद्यपि इन पर कोई पुरस्कार नहीं मिला था। इन ग्रन्थों में से मुख्य मुख्य ग्रन्थ ये हैं :—मुंतख़बुल-लुबाब लेखक ख़्वाफ़ी ख़ां, आलमगीर नामा लेखक मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम, मासिरे आलमगीरी लेखक मुहम्मद सक़ी, नुशके दिलकुशा लेखक भीमसेन, फतुआते आलमगीरी लेखक ईश्वरदास नागर, तथा खुलासत-तवारीख़ लेखक सुजानराय भण्डारी। औरंगज़ेब के शासन काल में सम्राट की आज्ञा से मुस्लिम क़ानून का केवल एक बृहत्त ग्रन्थ लिखा गया जिसका नाम फ़तवा-ए-आलमगीरी था। यह क़ानून की पुस्तक थी और उलेमाओं की विद्वत्मण्डली ने इसे बड़े परिश्रम से तैयार किया था। औरंगज़ेब के बाद मुहम्मदशाह (१७१३-४८) तक तो फ़ारसी को राज्याश्रय प्राप्त होता रहा, किन्तु मुहम्मदशाह के बाद जो सम्राट हुए वे फ़ारसी बोलने और समझने में स्वयं अयोग्य थे, अतः वे फ़ारसी से उर्दू पर आ गये और उर्दू ने फ़ारसी का स्थान लेना आरंभ कर दिया। तो भी अठारहवीं शताब्दी में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने फारसी में अनेक पुस्तकें लिखीं। इनमें से कुछ सूफी सम्प्रदाय पर थीं और कुछ इतिहास की पुस्तकें थीं, किन्तु इनका साहित्यिक महत्व बहुत कम था। फ़ारसी में ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी जाती रहीं। पहिले तो इनके लेखकों को स्थानीय शासकों के राजवंशों से सहायता मिलती रही और फिर अंग्रेजी राज्यपाल और अफ़सरों से। इस काल में जो मुख्य मुख्य ग्रन्थ लिखे गये उनके नाम ये हैं :—सियरुल मुताख़रीन लेखक गुलाम हुसैन, तवारीख़े मुज़फ़्फ़री लेखक मुहम्मद अली अन्सारी, तवारीख़ चहार गुलज़ारे शुजाई लेखक हरिचरनदास, इमादुस-सआदत लेखक गुलाम अली नक़वी, मदन-उस-सआदत लेखक सुल्तान अली सफ़वी, इबरत नामा लेखक ख़ैरुद्दीन और हदीक़ुल अक़ालीम लेखक मुर्तज़ा हुसैन बिलग्रामी। शाह आलम द्वितीय तक दिल्ली के दरबार में इतिहास की असंख्य पुस्तकें लिखी जाती रहीं।

हिन्दी कविता

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में उच्च कोटि के हिन्दी काव्य का निर्माण हुआ। यद्यपि बाबर, हुमायूँ, शेरशाह और उसके उत्तराधिकारियों के समय में हिन्दी कविता को राज्याश्रय प्राप्त नहीं हो सका था तो भी अकबर के पूर्व हिन्दी में कुछ

उच्च कोटि के ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें पद्मावत और मृगावत के नाम उल्लेखनीय हैं। पद्मावत हिन्दी कविता में लिखा हुआ उपन्यास है जो रूपक के रूप में लिखा गया है। इसमें मेवाड़ की रानी पद्मिनी की कथा है। अकबर का शासन हिन्दी कविता का स्वर्णयुग था। अकबर के समय में शान्ति और व्यवस्था होने के कारण तथा धार्मिक सहिष्णुता होने के कारण हिन्दी कवियों को उत्तम उत्तम ग्रन्थ लिखने के लिये अच्छा उत्साह मिला। इस काल के उच्च कोटि के कवि तुलसीदास, सूरदास, अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना, रसखान और बीरबल थे। इस काल में हिन्दी और फ़ारसी के जितने भी कवि हुए उनमें सर्वश्रेष्ठ स्थान महाकवि तुलसीदास का है, किन्तु तुलसीदास ने अकबर से मिलने की कभी भी इच्छा नहीं की। उन्होंने उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण किया और उनकी सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वप्रिय रचना रामचरितमानस अथवा रामायण है। तुलसीदास के बाद दूसरे प्रमुख कवि सूरदास थे जिनकी कल्पना तुलसीदास से भी अधिक उर्वरा थी। वे सूरसागर तथा ब्रजभाषा के अन्य अनेक गीतों के प्रणेता थे। कुछ आलोचकों के विचार से सूर तुलसी की अपेक्षा उत्कृष्टतर थे। सूर अकबर के दरबारी कवि थे और "आगरे के अन्ध कवि" नाम से विख्यात थे। इनके अतिरिक्त अनेक महाकवि अकबर के दरबार की शोभा बढ़ाया करते थे। अकबर के शासन काल में अनेक मुसलमान कवियों ने भी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया था। उच्च कोटि के हिन्दी मुसलमान कवियों में अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना का स्थान प्रमुख है। इन्होंने भारतीय संस्कृति को हिन्दी कविता में व्यक्त किया था। उनके सैकड़ों पद, दोहे और सतसइयाँ हिन्दी साहित्य की निधि हैं। मुसलमान कवियों में रसखान भी हिन्दी कवि थे। ये भगवान् कृष्ण के परम भक्त थे और इन्होंने भगवान् कृष्ण के वृन्दावन विहार सम्बन्धी अत्यधिक पद लिखे हैं। इन्होंने १६१४ में प्रेमवाटिका लिखी थी जिसका हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आज भी मान है। इनके अतिरिक्त अकबर के दरबार में कविराज बीरबल, राजा मानसिंह, राजा भगवानदास, नरहरि और हरिनाथ भी हिन्दी के अच्छे कवि थे। इनके अतिरिक्त दरबार में हिन्दी के अनेक अच्छे कवि थे। इनमें प्रधान कवि नन्ददास, विट्ठलनाथ, परमानन्ददास और कुंभनदास कृष्ण भक्ति शाखा के उच्च कोटि के कवि थे।

उस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उस समय साहित्यिक हलचलें दरबार तथा सरदारों तक ही सीमित नहीं थीं, यह जनता का आन्दोलन था और उस समय हिन्दी के अनेक विद्वान और कवि देहातों में भी पाये जाते थे। गाँवों के ज़मीदार तथा धनी लोग इन कवियों की आर्थिक सहायता करते थे। यह हिन्दी कविता का स्वर्ण युग था और इस समय कविता का कैसा विकास हुआ इसे जानने के

लिए हमें मिश्रबन्धु विनोद तथा राचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करना चाहिये।

जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल तक हिन्दी कविता राज्य संरक्षण पाकर खूब फलती फूलती रही। तुलसीदास के साहित्यिक जीवन के अन्तिम दिन जहाँगीर के शासन में बीते थे। जहाँगीर और शाहजहाँ के दरबार में अनेक उल्लेखनीय कवि थे। इनमें से सुन्दर श्रृङ्गार के निर्माता सुन्दर कविराज, कवित्त रत्नाकर के निर्माता सेनापति, शिरोमणि मिश्र, बनारसी दास, भूषण, मतिराम इत्यादि मुख्य थे। देव कवि भी एक प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने अनेक धार्मिक कविताएँ बनाई थीं। महाकवि बिहारी मिर्ज़ा जयसिंह के राज्याश्रय में रहते थे। इनके अतिरिक्त पन्ना के प्राणनाथ और अहमदाबाद के दादू भी अच्छे कवि थे। इन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम को मिलाने का प्रयत्न किया। इन्होंने ने भी अनेक कविताएँ लिखीं। प्राणनाथ ने प्राणनाथ पंथ और दादू ने दादू पंथ चलाया। इसी काल में ओड़छा में महाकवि केशव भी अच्छे कवि हुए। इनके कविप्रिया, रसिक प्रिया और अलंकार मंजरी उस युग में कविता तथा छन्दालंकार के अच्छे ग्रन्थ माने जाते थे।

मुग़ल काल में दूसरी देशी भाषाओं को भी अच्छा प्रोत्साहन मिला। चारण तथा कवियों ने राजस्थानी भाषा को बहुत समृद्ध बनाया। पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी का अमर कवि हुआ। इसने राणा प्रताप के स्वतन्त्रता प्रेम, धार्मिक भावना तथा देश-भक्ति सम्बन्धी अनेक उत्तम कविताएँ लिखी थीं। इस युग में अनेक वीर गाथाएँ भी लिखी गईं जिनमें मुख्य हैं मुहतानैनसी की ख्यात, खुमान रासो, हम्मीर रासो, राणारासो और सूरजमल का वंश भास्कर। इस युग में बंगाली साहित्य की भी अच्छी उन्नति हुई। इस युग में वैष्णव सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य का भी निर्माण हुआ जिसमें कृष्णदास, कविराज, वृन्दावन दास, जयनन्द, त्रिलोचन दास और नरहरि चक्रवर्ती की चैतन्य की आत्मकथाओं का स्थान विशेष महत्व का है। इस युग में भगवद्गीता, महाभारत तथा रामायण का भी बंगाली में अनुवाद हुआ।

औरंगज़ेब के शासन काल में हिन्दी की अवनति हुई क्योंकि औरंगज़ेब ने इसको तनिक भी संरक्षण नहीं दिया। किन्तु हिन्दू राजदरबारों में हिन्दू विद्वान और कवि फूलते फलते रहे। अठारहवीं शताब्दी में हिन्दी कविता के भाव तथा भाषा दोनों की ही अवनति हुई।

उर्दू भाषा तथा कविता

विदेशी तुर्की और मध्य एशिया की जनता में तथा हिन्दुओं में पारस्परिक

सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दिल्ली के सल्तनत काल में सर्व साधारण की बोली का जन्म हुआ। किन्तु उत्तरकालीन मुग़ल सम्राटों के शासन काल में इसने भाषा का रूप धारण कर लिया। आरम्भ में यह ज़बान हिन्दवी कहलाती थी और फिर उर्दू कहलाने लगी। यह पश्चिमी हिन्दी प्रान्तों की बोली थी जो दिल्ली और मेरठ के आसपास शताब्दियों से बोली जाती थी। इस भाषा का व्याकरण यद्यपि भारतीय है तो भी इसमें फ़ारसी अरबी के शब्द बड़ी तेज़ी से आने लगे थे। अमीर खुसरो पहला मुसलमान कवि है जिसने इस भाषा को कविता का माध्यम बनाया। अठारहवीं शताब्दी के चतुर्थांश तक मुग़ल सम्राटों ने उर्दू को राज्याश्रय नहीं दिया क्योंकि इन्होंने देशी खिचड़ी भाषा को न अपनाकर फ़ारसी को अपनाना ही उचित समझा। उर्दू कविता रेख़्ता नाम से प्रसिद्ध हुई और सबसे पहले इसे दक्खिन के सुल्तानों द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। दिल्ली में इसे कोई मान्यता नहीं मिली। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के लगभग उत्तरार्ध में मुग़ल सम्राट और उनके सरदारों की मातृभाषा फ़ारसी न रहकर उर्दू बन गई और फिर घर, दरबार और शिविर में बोली जाने लगी। मुहम्मदशाह (१७१९-४८) पहला मुग़ल शासक था जिसने उर्दू को प्रोत्साहन देने के लिए दक्खिन के कवि वली को बुलाया जिसने १७२२ में दिल्ली जाकर दरबार में अपनी कविताएँ सुनाईं। इसके बाद तो अनेक मुसलमान कवि विद्वान अनेक विषयों पर उर्दू कविता करने लगे। अब्रू, हातिम, नाजी, मज़मून और मज़हर इत्यादि दिल्ली में उर्दू के अनेक कवि हुए जिन्हें अठारहवीं शताब्दी के द्वितीयांश और तृतीयांश में अच्छा मान प्राप्त हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उर्दू को राजभाषा बना दिया जिससे इसका गौरव बहुत बढ़ गया।

संस्कृत

बाबर और हुमायूँ का संस्कृत या हिन्दी साहित्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं था। अकबर ही पहला मुग़ल सम्राट था जिसने संस्कृत को राज्याश्रय दिया। इसके दरबार में संस्कृत के अनेक विद्वान् और कवि थे और इन्हें दरबार से पुरस्कार मिलता रहता था। हिन्दी के प्रायः सभी कवि संस्कृत के विद्वान् थे। अकबर केवल उनकी कविता ही नहीं सुनता था बल्कि वह हिन्दू धर्म और विचारों के सिद्धान्तों पर वाद विवाद भी करता था। उसके शासन काल में फ़ारसी और संस्कृत का एक कोष लिखा गया जिसका नाम पारसी प्रकाश है। जहाँगीर ने भी अपने पिता का ही अनुकरण किया और उसने भी संस्कृत के अनेक कवि और विद्वानों को दरबार में जगह दी। शाहजहाँ यद्यपि कट्टर मुसलमान था तो भी उसने अपने पूर्वजों की नीति

के अनुसार संस्कृत के विद्वानों को राज्याश्रय दिया। रस गंगाधर तथा गंगा लहरी के निर्माता संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जगन्नाथ पण्डित शाहजहाँ के राजकवि थे। कवीन्द्र आचार्य सरस्वती भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। यह शाहजहाँ के दरबारी कवि थे और इन्हें दरबार से सदा पुरस्कार मिलता रहता था। दरबारी इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी ने संस्कृति के उन अनेक कवियों के नाम दिये हैं जो शाहजहाँ के दरबार में समय समय पर उपस्थित होकर कविताओं पर पुरस्कार प्राप्त किया करते थे। कविता के अतिरिक्त १६४३ में खगोल विद्या और ज्योतिष विद्या के अच्छे अच्छे कोषों का भी निर्माण हुआ जिनमें वेदांगाचार्य ने पारिभाषिक शब्दों की रचना की। औरंगज़ेब के हृदय में संस्कृत के विद्वानों के लिये कोई स्थान नहीं था, अतः उसके तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में संस्कृत विद्वानों का मुग़ल दरबारों में राज-सम्मान बन्द हो गया। किन्तु हिन्दू राजाओं के दरबारों में संस्कृत का मान होता रहा। किन्तु मुग़ल काल का संस्कृत साहित्य उच्चकोटि का साहित्य नहीं था। न तो यह कलापूर्ण मौलिक साहित्य ही था और न महत्वाकांक्षा के भावों को भरने वाला उच्चकोटि का सही साहित्य था।

चित्रकला

यद्यपि कुरान में चित्रकला का निषेध किया गया है तो भी मुग़ल सम्राट चित्र-कला का बहुत आदर करते थे। सबसे पहले मंगोल विजेताओं ने १३वीं शताब्दी में फ़ारस में इस कला का आरंभ किया। यह चीनी कला का प्रान्तीय रूप था और इस पर भारतीय, बौद्ध, ईरानी, वैक्ट्रियाई और मंगोलियन विचारों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। फ़ारस के तैमूर वंशी राजाओं ने इसे राजकीय सहायता दी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बाबर जब हेरात में आया तब उसे इस प्रकार की चित्रकला से परिचय प्राप्त हुआ और फिर उसने इसे राजकीय संरक्षण प्रदान किया। हुमायूँ गान, कविता और चित्रकारी का प्रेमी था और उसे अपने निर्वासन काल में फ़ारस के उच्चकोटि के चित्रकारों से परिचय प्राप्त हुआ। इनमें से एक हैरात का प्रसिद्ध चित्रकार बिहज़ाद का शिष्य मीर सैय्यद अली था और दूसरा ख़्वाजा अब्दुस-समद था। हुमायूँ इन दोनों को बाध्य कर १५५० में अपने साथ काबुल ले आया। काबुल में हुमायूँ तथा अकबर ने इन विद्वानों से चित्रकला का अभ्यास किया।

अकबर ने इस चीनी अथवा मंगोलियन चित्रकला को भारत में लाकर अपने दरबार में स्थान दिया। उस समय प्राचीन भारतीय कला को धीरे धीरे अकबर के दरबार में स्थान मिलने लगा था। यद्यपि प्राचीन भारतीय कला को कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ था तो भी उसकी परम्परा चली आ रही थी। अजन्ता और एलौरा की चित्रकारी को देख कर प्राचीन चित्रकारी की महत्ता का ज्ञान

हो जाता है। अकबर के दरबार में फ़ारसी (चीनी) तथा भारतीय चित्रकारी धीरे-धीरे एक दूसरे में समाने लगी और कुछ समय बाद दोनों एक हो गईं। इस कला का विदेशीपन धीरे धीरे समाप्त होने लगा और अन्त में वह बिलकुल भारतीय हो गई। दास्ताने अमीर हमज़ा, तारीख़े-ख़ानदानी-तैमूरिया और पटना की खुदाबख़्श लाइब्रेरी में रखे हुए बादशाहनामा के चित्रकारों की चित्रकारी को देख कर मुग़ल चित्रकला के क्रमिक विकास का पता सरलता से लगाया जा सकता है। दास्ताने अमीर हमज़ा को मीर सैय्यद अली और ख़्वाजा अब्दुस समद ने १५५० और १५६० के बीच में चित्रित किया था। चित्रकारी पर चीनी और फ़ारसी का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। १५६२ से हिन्दू तथा चीनी-फ़ारसी चित्रकारी एक दूसरे में समाने लगी थी। प्रसिद्ध गायक तानसेन के उस प्रसिद्ध चित्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है जिसमें उसका मुग़ल दरबार में आना दिखाया गया है। १५६६ और १५८५ के बीच में अकबर ने हिन्दू तथा फ़ारसी चित्रकारों द्वारा अपने फतहपुर सीकरी के महलों की दीवारों पर उत्तम उत्तम चित्र खिंचवाये थे जिससे ज्ञात होता है कि इस कला की धीरे धीरे उन्नति हो गई थी। चित्रकारी से विदेशीपन धीरे धीरे हट कर इसमें हिन्दुस्तानीपन आता जा रहा था। अकबर के संरक्षण के कारण दरबार में अच्छे से अच्छे चित्रकार आने लगे। इन चित्रकारों में हिन्दू चित्रकार अधिक थे तथा औरों से अधिक योग्य थे। विदेशी चित्रकारों में कुछ फ़ारसी चित्रकार बहुत योग्य थे। इनमें से अब्दुस समद, फ़रु ख बेग़, खुसरु कुली तथा जमशेद बहुत अधिक प्रसिद्ध थे। अकबर के दरबार में सत्रह कलाकार बहुत योग्य थे। इनमें से तेरह हिन्दू थे। इनमें भी दसवन्त, बसावन, सांवलदास, ताराचन्द्र, जगन्नाथ, लाल, केसू, मुकन्द और हरिवंश का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अबुल फ़ज़ल ने इन कलाकारों की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है "अकबर के दरबार में सौ से अधिक निपुण एवं प्रसिद्ध चित्रकार थे। इनमें से पूर्णता प्राप्त करने वाले तथा अधकचरों की संख्या अधिक थी। इनमें से हिन्दुओं की संख्या अधिक थी क्योंकि उनके चित्र आशा से बहुत अधिक अच्छे होते थे। वास्तव में उनके समान संसार में बहुत कम चित्रकार थे।" (आइने अकबरी जिल्द १, पृष्ठ १०७)

अकबर ने ख़्वाजा अब्दुस समद की अध्यक्षता में चित्रकारी का एक अलग विभाग खोल दिया था। सम्राट इस विभाग की देखरेख स्वयं करता था और इसे यथासम्भव पूरी पूरी सहायता देता था। इस विभाग के कलाकार शाही सेवक समझे जाते थे और उन्हें मनसब भी दिये जाते थे। सम्राट की इसमें रुचि लेने के कारण ही चित्रकारी का स्कूल स्थापित हो गया था जो भारतीय राष्ट्रीय चित्रकला स्कूल के नाम से पुकारा जा सकता है। इसके सदस्य भारत के सब प्रान्तों के ही नहीं

अपितु विदेशों तक के होते थे। भिन्न भिन्न धर्म और जातियों के होते हुए भी उन सबका सम्मिलित उद्योग उस उच्च कला का निर्माण करना होता था जिसे देख कर कला का परम पारखी सम्राट प्रसन्न हो जाय। अकबर तथा शाही दरबार के सदस्यों के चित्र खींचे जाते थे और वे चित्र-संग्रह (एलबम) के रूप में सुरक्षित रहते थे।

जहाँगीर चित्रकला का बड़ा अच्छा पारखी और संरक्षक था और अपनी रुचि के उच्चकोटि के चित्रों के लिये बड़े से बड़ा मूल्य देने को तैयार रहता था, अतः यह स्कूल उसके शासन काल में बहुत अच्छी तरह चलता रहा। सम्राट स्वयं चित्रकला में निपुण था और प्रत्येक कलाकार की कला के पहचानने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती थी और वह चित्र को देख कर चित्रकार का नाम बता देता था। जहाँगीर तुज़ुके जहाँगीरी में स्वयं लिखता है "यदि अनेक कलाकारों द्वारा एक से अधिक चित्र बनाये जायं तो भी मैं प्रत्येक कलाकार की चित्रकारी अलग अलग बता दूँगा। यदि एक ही चित्र अनेक चित्रकारों द्वारा भी बनाया जाय तो भी उस एक चित्र के भिन्न भिन्न अंगों के बनाने वालों के नाम बता दूँगा।" (तुज़ुके जहाँगीरी, अनुवादक रोज़र तथा बावरिज, जिल्द १, पृष्ठ २०)। उसके दरबार में हैरात के आग़ा रज़ा और उसका पुत्र अब्दुल हसन, समरक़न्द के मुहम्मद नादिर और मुहम्मद मुराद और उस्ताद मन्सूर प्रमुख चित्रकार थे। हिन्दू चित्रकारों में बिशनदास, (अनुपम चित्रकार) मनोहर, माधव, तुलसी और गोवर्धन अति प्रसिद्ध थे।

जहाँगीर के उत्कट प्रेम और उत्साह के कारण मुग़ल चित्रकला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। जहाँगीर राजपूत रानी से पैदा हुआ था और चित्रकला का अच्छा ज्ञाता था। उसने अपनी देखरेख में चित्रकला के उस स्कूल को उन्नति की चोटी पर पहुँचा दिया जिसकी अकबर ने नींव डाली थी। वह कला का सच्चा पारखी था और उसकी अचूक परख से यह स्कूल सदा सफलता प्राप्त करता गया।

शाहजहां अपने पूर्वजों के समान इस कला का संरक्षण तो करता रहा किन्तु वह अपने पिता और दादा के समान चित्रकारी का अगाध प्रेमी नहीं था। उसे चित्रकारी की अपेक्षा स्थापत्य कला तथा जवाहरात तथा आभूषणों से अधिक प्रेम था। इसका परिणाम यह हुआ कि जहांगीर के समय चित्रकला की जो उन्नति हुई थी उसका पतन हो गया। दरबार के चित्रकारों की संख्या के घटने के साथ साथ कला की भी बहुत अवनति हो गई। शाहजहां के शासन काल में फ़क़ीर उल्ला, मीर हाशिम, अनूप, चित्रा इत्यादि दरबारी चित्रकार थे। शाहजहां के समय की चित्रकारी में सोने चांदी इत्यादि की झलक की बड़ी प्रधानता थी किन्तु इसमें नाना प्रकार के रङ्गों तथा छाया का इस तरह से मिश्रण नहीं था जिससे चित्रकार के भाव सुन्दरता

के साथ प्रकट हो सकें। शाहजहां का सबसे बड़ा पुत्र दारा चित्रकला का प्रबल संरक्षक था और उसकी मृत्यु के कारण इस कला पर घातक प्रहार हुआ।

औरंगज़ेब कट्टर मुसलमान होने के कारण चित्रकला का विरोधी था, अतः दरबारी सहायता न मिलने के कारण कला का पतन होता गया। औरंगज़ेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के महलों की चित्रकारी को बिगड़वा दिया और सिकन्दरा में अकबर के मकबरे के चित्रों को मिटवा कर उन पर सफ़ेदी करवा दी। इस समय भी कुछ चित्रकार दिल्ली में रह कर सम्राट की आज्ञा के विरुद्ध उसके चित्र बनाते रहे थे। सम्राट की उदासीनता के कारण योग्य चित्रकार अवध, हैदराबाद, मैसूर और बंगाल के नये प्रान्तों के दरबारों में चले गये। लखनऊ और पटना के दरबारों ने योग्य कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया। राजपूताने में चित्रकला खूब फलती फूलती रही और वह राजपूत चित्रकारी कहलाई। जयपुर और नाथद्वारा इसके प्रधान केन्द्र थे। अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कांगड़ा की चित्रकारी भी देखने में आई। इसकी एक शाखा टेहरी गढ़वाल की चित्रकारी थी। कुशल आलोचकों ने इन कलाओं की बहुत प्रशंसा की है।

सुलेख

सुलेख और चित्रकला का घनिष्ठ सम्बन्ध था और भारत, फ़ारस तथा चीन में इसका बड़ा आदर था। यह ललित कला समझी जाती थी और प्रायः सभी मुग़ल सम्राट इसको प्रोत्साहन देते थे। यद्यपि अकबर शिक्षित नहीं था किन्तु उसे सुलेख से बड़ा प्रेम था और वह अपने दरबार में अच्छे अच्छे सुलेखक रखता था। ये लोग अकबर की आज्ञा से पुस्तकालय के लिए पुस्तकें लिखा करते थे। सुलेखों का संग्रह चित्र कला के समान चित्र-संग्रह में रक्खा जाता था। अबुल फ़ज़ल के कथनानुसार अकबर के दरबार में सुलेख लिखने के आठ प्रकार प्रचलित थे किन्तु अकबर इनमें से नसतालीक़ को अधिक पसन्द करता था। इसमें आरम्भ से अन्त तक टेढ़ी लाइनें होती थीं। अकबर के दरबार में मुहम्मद हुसैन काश्मीरी सबसे अधिक प्रसिद्ध सुलेखक था और 'ज़र्रीक़लम' नाम से विख्यात था। जहाँगीर भी सुलेखन कला का प्रेमी था और सुन्दर सुन्दर लेख लिखवाने के लिए दरबार में अच्छे अच्छे सुलेखक रखता था। शाहजहाँ भी सुलेखकों को आर्थिक सहायता देता था और उसके दरबार में मीर हाशिम अच्छा सुलेखक और चित्रकार था, जिसका दरबार में अच्छा प्रभाव था। औरंगज़ेब स्वयं अच्छा सुलेखक था और वह क़ुरान का अनुवाद किया करता था। जवाहिर रक़म औरंगज़ेब के पुस्तकालय का अध्यक्ष था। यह बड़ा अच्छा सुलेखक था अतः औरंगज़ेब इसका बहुत अधिक ध्यान रखता था। शाही मुहर

के खुदवाने, भवन तथा समाधियों पर कुरान की आयतों के लिखवाने तथा चित्रालयों में सुन्दर चित्रों के संग्रह करने के लिये सुलेखन कला का प्रयोग किया जाता था।

सुन्दर जिल्दसाजी भी सुलेखन कला से सम्बन्धित थी। इस कला के द्वारा उत्तम उत्तम चित्रों से पुस्तकें सजाई जाती थीं। पुस्तकों की जिल्द बांधने के लिये और उनके हाशिये तथा मुख पृष्ठों को सजाने के लिये अथवा उनके विषयों को चित्रों द्वारा प्रदर्शित करने के लिये कलावर्ग के मनुष्य नियुक्त होते थे। यह उच्च कोटि के चित्रकार होते थे। मुग़ल काल में अनेक प्रकार की पुस्तकें बनाई गईं और उनकी बहुत क़ीमती जिल्दें बांधी गईं और उन्हें बड़े मूल्यवान् चित्रों से सजाया गया था। इन पुस्तकों को हम आज भी पुस्तकालयों में देख सकते हैं। इन पुस्तकों में बाबर नामा तथा तारीख़-ख़ानदान-तिमूरिया तथा बादशाह नामा बहुत अधिक प्रसिद्ध हैं। बाबर नामा अलवर तथा आगरा कालिज में तथा बादशाह नामा ख़ुदाबख़्श लाइब्रेरी पटना में सुरक्षित हैं।

मूर्ति कला

प्राचीन भारत में मूर्ति कला की बहुत उन्नति हुई थी। किन्तु बाबर और हुमायूँ कट्टर मुसलमान थे और कुरान की आज्ञानुसार मूर्ति पूजा को निन्द्य समझते थे। किन्तु अकबर कट्टर मुसलमान नहीं था अतः वह मूर्ति कला को प्रोत्साहन देता था। उसने हाथियों पर बैठे हुए चित्तौड़ के राजपूत वीर जयमल और फत्ता की मूर्तियों को पत्थर पर खुदवाया और फिर उन्हें आगरा किले के मुख्य द्वार पर प्रतिष्ठित किया। फतहपुर सीकरी का हाथी पोल "दो बड़े-बड़े अंगहीन हाथियों से आज भी शोभायमान है। ये १२॥ फीट ऊँचे खम्भों पर रक्खे हुए हैं और बनने के समय इनकी सूँड़ें फाटक के ऊपर आपस में मिली हुई थीं।" जहाँगीर ने भी राणा अमरसिंह और उसके पुत्र करनसिंह की संगमर्मर की पूरी पूरी मूर्तियाँ बनवा कर आगरा महल के बाग़ में झरोखा दर्शन के नीचे लगवाई थीं। शाहजहाँ ने मूर्ति कला को प्रोत्साहन दिया हो इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देखने में नहीं आता है। यह तो इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं कि औरंगज़ेब मूर्ति कला का कट्टर शत्रु था और उसने तो आगरा तथा दिल्ली की मूर्तियों के टुकड़े टुकड़े करवा दिये थे और फतहपुर सीकरी तथा आगरा के हाथियों की आकृति बिगाड़ कर उनको नष्ट करवा दिया था। राजकीय सहायता न मिलने के कारण यह कला बिलकुल नष्ट हो गई।

सुन्दर नक्काशी

मुग़ल सुन्दर और उभरी हुई नक्काशी के बहुत प्रेमी थे और उन्होंने इस कला द्वारा अपने भवनों को खूब सजाया था। मुग़ल काल में यह कला राजकीय संरक्षण

पाकर खूब फलती फूलती रही। सिकन्दरे में अकबर का मक़बरा है। उसके सबसे ऊँचे चबूतरे पर जो संगममर की दीवारें हैं उन पर ५२ प्रकार की बारीक नक्काशी का काम है। इस नक्काशी के अतिरिक्त सारा भवन बादलों की घटा, पौधे, फूल, तितली, कीड़े-मकोड़े और तरह-तरह के गुलदस्तों के चित्रों से शोभायमान है। मुग़लों द्वारा बनवाई गई बढ़िया इमारतों पर उभरी हुई नक्काशी का होना अनिवार्य समझा जाता था। संगमरमर की जाली भी उस समय प्रचलित थी। फतहपुर सीकरी में शेख़ सलीम चिश्ती की क़ब्र पर और ताजमहल की क़ब्र के चारों ओर जो सुन्दर और प्रशंसनीय जाली है उसके देखने से पता चलता है कि अकबर और शाहजहाँ के शासन काल में इस कला की बहुत उन्नति हो गई थी और इस कला के कलाकारों ने ऐसी उत्तम उत्तम वस्तुएँ बनाई थीं जिनकी तुलना गुजरात की आदर्श कारीगरी से की जा सकती है।

पच्चीकारी

मुग़लों द्वारा बनवाई गई इमारतों में रंग बिरंगी पच्चीकारी तथा जड़ाऊ काम बहुत अधिक होता था। अकबर के समय में संगमरमर तथा अन्य प्रकार के बहुमूल्य पत्थरों के सुन्दर डिज़ाइन् काट कर इमारतों में जड़े जाते थे। किन्तु जहाँगीर के समय से चमकते हुए सीप तथा जवाहरात इत्यादि बहुमूल्य पत्थरों को पच्चीकारी के काम में लाया जाने लगा था। संगमरमर की दीवार में पत्थर काट कर सुन्दर बेल बूटे बनाये जाते थे और कटे हुए स्थान पर सुन्दर जवाहरात और सीप इत्यादि के बेल बूटे उसमें भर दिये जाते थे। सीप और जवाहरात की पच्चीकारी का सबसे पहला नमूना उदयपुर के पिचोला झील के जग मन्दिर नामी महल में और आगरे के एतमादुद्दौला के मकबरे में पाया जाता है। शाहजहाँ के समय में पुरानी पत्थर की पच्चीकारी के स्थान पर पीतरादौरा की पच्चीकारी बहुत प्रचलित हो गई थी। दिल्ली और आगरे में शाहजहाँ की सभी इमारतों में पीतरादौरा की पच्चीकारी की बहुतायत है। नई पच्चीकारी की सजावट के सबसे अच्छे नमूने आगरा के ताजमहल और शाहदरा में जहाँगीर का मक़बरा और लाहौर के किले में शीशमहल और नौलखा महल हैं।

संगीत

पक्का गाना भी प्राचीन भारतीय संस्कृति की एक विशेषता थी। प्रायः सभी हिन्दू राजा और विशेषकर गुप्तवंश का समुद्रगुप्त तो इसका सदा संरक्षण करते रहे। समुद्रगुप्त तो संगीत का ऐसा प्रेमी था कि उसने तो अपने सिक्कों पर अपनी जो मूर्ति खुदवाई थी उसमें वह अपने एक हाथ में वीणा लिये हुए है। यद्यपि पहले मुसलमान धर्माचार्यों ने गान विद्या की निन्दा की थी और इसे मुबाह (अर्थात् जो न

अच्छा हो और न बुरा हो) कहकर पुकारा था तो भी सल्तनत काल (१२०६-१५२६) के कुछ उल्लेखनीय मुसलमानों ने और विशेषकर जौनपुर के सर्की राजवंश तथा मालवा के बाज़बहादुर ने इस विद्या को अपने दरबार में स्थान दिया था। मुग़ल सम्राट इस विद्या के परम भक्त थे। बाबर इस विद्या में बहुत कुशल था और उसने गान कला की एक पुस्तक भी लिखी है। बाबर के समान ही हुमायूँ भी गाने का प्रेमी था। अकबर तो भारतीय पक्के गाने को अधिक पसन्द करता था। अबुल फज़ल लिखता है "सम्राट संगीत पर विशेष ध्यान देते हैं और इस चित्ताकर्षक राग का जो भी अभ्यास करता है उसकी पूरी पूरी सहायता करते हैं।" वह स्वयं अच्छा गायक था और नक्क़ारे पर बड़ा कलापूर्ण प्रदर्शन करता था। अकबर ने लाल कलावन्त से हिन्दू तान सुरों को सीखा था और उसने इसे "हर हिन्दी राग रागिनी का अभ्यास करा दिया था।" उसने देश विदेश के बड़े बड़े गायकों को अपने दरबार में इकट्ठा करने का प्रयत्न किया। अबुल फज़ल लिखता है कि अकबर के दरबार में गायकों की संख्या बहुत अधिक थी, इनमें हिन्दू, ईरानी, तुरानी और काश्मीरी स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे। ये सात विभागों में विभक्त थे। प्रत्येक विभाग सप्ताह में एक दिन सम्राट तथा दरबार का मनोरंजन करता था। इनमें से अबुल फज़ल ने अपने आइने अकबरी में ३६ गायकों का उल्लेख किया है, इनमें तानसेन तथा मालवा के भूतपूर्व राजा बाज़बहादुर भी सम्मिलित हैं। तानसेन इस युग का अत्यन्त उल्लेखनीय गायक था और अबुल फ़ज़ल के कथनानुसार "हज़ार वर्ष से तानसेन के समान कोई गायक नहीं हुआ था।" पहले वह रीवां के राजा के पास नौकर था और अकबर ने १५६२-६३ में उसे अपने दरबार में भेजने के लिये बाध्य किया था। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने गान विद्या का एक स्कूल खोला था। इसी में तानसेन ने शिक्षा पाई थी (१४८६-१५१८)। उसके विषय में कहा जाता है कि उसने अनेक रागों का आविष्कार किया था। कुछ आलोचकों के कथनानुसार तानसेन से "रागों को बिगाड़ दिया था और मेघ और हिन्डोल रागों का उसके समय से सदा के लिये अन्त हो गया था।" इस कथन में चाहे जो भी सत्य हो "तानसेन अपने समय का सबसे अधिक विख्यात गायक था।" अकबर की सेवा में आने के कुछ समय पश्चात् वह मुसलमान हो गया और उसे मिर्ज़ा की उपाधि दी गई। १५८९ में उसकी मृत्यु हो गई और वह ग्वालियर में दफ़ना दिया गया। अकबर के दरबार में दूसरा प्रसिद्ध गायक बाबा रामदास था जिसका नम्बर तानसेन के बाद दूसरा था। अकबर के राजप्रतिनिधि बैराम ख़ाँ ने उसे एक लाख टंक का पुरस्कार दिया था। बैजू बावरा भी इसी प्रकार एक प्रसिद्ध गायक था। अकबर के दरबारी गायकों में सूरदास का नाम भी प्रथम श्रेणी के गायकों में लिया जाता है।

अकबर के गान प्रेम तथा सहायता के कारण वाद्य तथा संगीत दोनों की बहुत उन्नति हुई। अकबर के दरबार में हिन्दू तथा मुस्लिम संगीत मिल कर एक हो गये थे। अकबर को इस बात का श्रेय है कि उसने हिन्दू मुसलमान गान के भेद-भाव को मिटा कर दोनों को भारतीय राष्ट्रीय गान बना दिया था।

जहाँगीर को भी अकबर के समान ही संगीत से प्रेम था। वह भी अपने दरबार में उच्च कोटि के अनेक गायकों को आश्रय देकर नियमपूर्वक उनके गाने सुनता था और उनको शाही पुरस्कार देता था। इक़बालनामा-ए-जहाँगीरी में उसके ६ अत्यन्त प्रसिद्ध दरबारी गायकों के नाम दिए हुए हैं। विलियम फिचन ने लिखा है "सैकड़ों गायक और नर्तकी लड़कियाँ रात दिन दरबार में उपस्थित रहते थे और अपनी बारी के अनुसार सप्ताह में एक दिन नाचा गाया करते थे। किन्तु उस दिन उनकी बारी कई बार आती थी। वे सम्राट या उसकी बेग़मों को गाना सुनाने के लिये हरदम तैयार रहते थे चाहे उन्हें किसी समय भी गाना गाने के लिये महल में बुला लिया जाय। वह उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार छात्रवृत्ति देता था।" (Early Travels लेखक डब्लू० फोस्टर पृष्ठ १८३) शाहजहाँ भी संगीत और गान का प्रेमी था। दरबार में बहुत अधिक गायक थे और वह प्रतिदिन सोने से पूर्व अच्छे अच्छे गायकों के गाने सुना करता था। दीवाने ख़ास में प्रतिदिन वाद्य तथा ...... संगीत से मनोरंजन होता था। शाहजहाँ स्वयं संगीत का अच्छा ज्ञाता था और कभी कभी वह भी गाने बजाने में भाग लेता था। उसका स्वर ऐसा चित्ताकर्षक था कि "अनेक शुद्धात्मा सूफ़ी फ़कीर तथा संसार से सन्यास लेने वाले साधु सन्त भी उसका गाना सुनकर सुध बुध विसार देते थे और परमानन्द में लीन हो जाते थे।" (Studies in Mughul India यदुनाथ सरकार, पृष्ठ १२-१३) शाहजहाँ संगीतज्ञों का बहुत बड़ा संरक्षक था। उसके दरबार में रामदास और महापात्र दो प्रधान गायक थे। कहा जाता है कि सम्राट अपने संस्कृत राजकवि जगन्नाथ के गाने से ऐसा प्रसन्न हुआ था कि उसने उसे इनाम में उसके बराबर सोना तोल कर दिया था।

अपने शासन के प्रारंभिक दस वर्षों में औरंगज़ेब भी अपने पूर्वाधिकारियों के समान अच्छे अच्छे गायकों के गाने सुना करता था और संगीत कला को राजकीय संरक्षण प्रदान किया करता था। उसके दरबार में अनेक अच्छे अच्छे गायक थे। मआस्सिरे आलमगीरी का लेखक सक़ी मुस्ताद ख़ाँ लिखता है "औरंगज़ेब के दरबार में बड़े अच्छे अच्छे संगीतज्ञ थे और सम्राट कभी कभी उनका गाना बजाना सुना करता था। (मआस्सिरे आलमगीरी पृष्ठ ५२६) किन्तु ज्यों ज्यों औरंगज़ेब की आयु बढ़ती गई त्यों त्यों वह संयमी तथा विरक्त होता गया। उसने गाना सुनना छोड़ दिया और सभी

दरबारी गायकों को दरबार से निकाल दिया । किन्तु कुछ लेखकों का यह कहना बिलकुल भ्रमपूर्ण है कि उसने जनता को गाने बजाने से मना कर दिया था। संगीतज्ञों के दरबार से निकाल देने के कारण संगीत कला पर घातक प्रहार हुआ और दरबारी संगीतज्ञों को संगीत की अर्थी निकालने के लिये उस समय विवश होना पड़ा जब सम्राट शुक्रवार को नमाज़ पढ़ने के लिये जामा मस्जिद जा रहा था। सम्राट ने संगीतज्ञों का रोना चिल्लाना सुन कर उनके शोक के बारे में पूछा। संगीतज्ञों ने उत्तर दिया कि दरबार से संगीत के निकाल देने के कारण उसकी मृत्यु हो गई है और अब वे उसे दफ़नाने के लिये ले जा रहे हैं"। औरंगज़ेब ने उत्तर दिया "संगीत की आत्मा के लिये प्रार्थना कर उसे खूब गहरा गाड़ना"। राजकीय संरक्षण के न रहने पर भी गाना बजाना खूब फलता फूलता रहा। बेगमों ने नाच गान को नहीं छोड़ा। नवाब, दरबारी तथा धनी लोग ही नहीं, अपितु साधारण मनुष्य भी इस चित्ताकर्षक कला से अपना मनोरंजन करते रहे।

स्थापत्य कला

मुग़लों ने बड़ी बड़ी इमारतें बनवाई थीं। मध्य एशिया की कला की विशेषता गुम्मद, ऊँची ऊँची मीनार, महराब तथा डाटों में थी और देशी हिन्दू शिल्पकला की विशेषता चौरस छत, छोटे खम्भे, नुकीली महरावें और तोड़ों में थी। यह विदेशी स्थापत्य कला—जिसे हम इस्लामी स्थापत्य कला कह सकते हैं—उत्तर पश्चिम से आने वाले मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ भारत आई थी और बाबर के समय तक उसे तीन सौ वर्ष से अधिक का समय हो गया था। किन्तु यह कला भारतीय स्थापत्य कला पर विशेष प्रभाव नहीं डाल सकी थी। सत्य तो यह है कि भारतीय स्थापत्य कला ने मुसलमानी कला को किसी मात्रा में प्रभावित कर लिया था। इसके कई एक कारण थे। पहला कारण यह था कि विदेशी तुर्की शासकों को हिन्दुस्तानी कारीगर तथा शिल्पकार रखने पड़े थे। इन लोगों को अपनी देशी भवन निर्माण कला के रूप तथा उसकी पद्धति का स्पष्ट ज्ञान था, अतः उन्होंने अनजाने रूप में मुसलमानी इमारतों में उस अलंकृत शिल्प कला सम्बन्धी कारीगरी का समावेश किया जो इस देश में सैकड़ों वर्ष से प्रचलित थी। दूसरा कारण यह था कि प्रायः सभी प्रारंभिक विजेताओं ने धर्मान्धता के कारण जो हिन्दू और जैनियों के मन्दिर ढाये थे उन्हीं के मलवे से उन्होंने मस्जिद, महल और कब्रें बनवाई थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि विजेताओं ने अपनी इमारतों के लिये जो नमूने सोचे थे उनमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। तीसरा कारण यह था कि यद्यपि हिन्दू और मुसलमान इमारतों में बड़ी भिन्नता होती है तो भी किन्हीं बातों में वे एक दूसरे से मिलती जुलती हैं। इसीलिये

तुर्की सुल्तानों ने कभी कभी हिन्दू और जैन मन्दिरों की छतों को गिरवाकर उनकी जगह गुम्मद और मीनार बनवा कर उन्हें मन्दिर से मस्जिद बनवा दिया था। इन परिस्थितियों के कारण देशी हिन्दू कला मुसलमानी शिल्पकला पर प्रभाव डालती रही और यह प्रभाव दिल्ली के सल्तनत काल में ही समाप्त नहीं हुआ अपितु मुग़ल काल तक जारी रहा और "छोटे खम्भे, चौकोर खम्भे, तोड़े तथा मुग़लों की इमारतों की दूसरी सजावट में अपना निजीपन प्रकट करता रहा।"

बाबर स्थापत्य कला का उच्च कोटि का पारखी था, अतः उसे तुर्की और अफ़ग़ानी बादशाहों द्वारा बनवाई गई दिल्ली और आगरे की इमारतें पसन्द नहीं आईं। किन्तु बाबर तो ग्वालियर की उस सुन्दर शिल्प कला से प्रभावित हुआ जिसे उसने "मानसिंह और विक्रमाजीत द्वारा बनवाये गये महलों में देखा था।" बाबर ने इन महलों को 'अनुपम सुन्दर' बताया था यद्यपि उसकी दृष्टि में ये भिन्न-भिन्न टुकड़ों में बिना किसी नियमित योजना के बने थे। ग्वालियर के महल सोलहवीं शताब्दी के चतुर्थांश की हिन्दू शिल्प कला के अच्छे नमूने थे और जब बाबर ने अपने महल बनवाने आरम्भ किये तो वे उनके लिये नमूने बन गये थे। उसने आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर, अलीगढ़ (कोल) में इमारतें बनवाने के लिये सैकड़ों कारीगर लगाये थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इन स्थानों में मण्डप, स्नानागार, कुंए, तालाब और फव्वारे ही बनवाये थे, महल अथवा सार्वजनिक भवन नहीं बनवाये। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके महल कमज़ोर बने थे जो समय के कारण होने वाली जीर्णता को न सह सके। उसकी बनवाई हुई केवल दो इमारतें ही बच पाई हैं जिनमें से एक पानीपत के क़ाबुली बाग़ में है और दूसरी रुहेलखण्ड के सम्भल में जामा मस्जिद है। ये दोनों मस्जिदें १५२६ में बनवाई गई थीं। उसके समय की तीसरी इमारत भी एक मस्जिद ही है जिसे बाबर की आज्ञा से अबुल बक़ी ने अयोध्या में बनवाया था। परन्तु इनमें से किसी में भी शिल्प कला का कोई विशेष प्रतीक विद्यमान नहीं है। बाबर का विचार था कि वह कुस्तुनतुनिया से अलबानी के प्रसिद्ध शिल्पकार के शिष्य सिनान को अपनी इमारतों के नक़शा बनाने में सहायता देने के लिये बुलावे, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसे इस विचार को छोड़ देना पड़ा। यद्यपि हुमायूँ शिल्पकला का प्रेमी था किन्तु उसने भी कोई ऐसी प्रसिद्ध इमारत नहीं छोड़ी है जिससे कि उसकी ख्याति हो सके। उसका दीन पनाह नाम का दिल्ली का महल बड़ी जल्दी में बना था जिसमें न तो सुन्दरता का ध्यान रक्खा गया और न टिकाऊपन का। ऐसा प्रतीत होता है कि शायद उसे उसके प्रतिद्वन्द्वी शेरशाह ने नष्ट कर दिया था। हुमायूँ ने एक मस्जिद आगरा में तथा दूसरी फ़तिहाबाद (हिसार)

मे बनवाई थी। अब इन दोनों के केवल खण्डहर रह गये हैं। इनमें भी कला तथा मौलिकता के कोई चिह्न नहीं हैं। बाबर तथा हुमायूँ दोनों को ही इमारतें बनवाने की रुचि थी और अनुभव था, अतः इन दोनों ने अप्रत्यक्ष रूप मे इमारत बनवाने की उस परम्परा की स्थापना कर दी जिसके कारण दिल्ली के सुल्तानों की इमारतों की अपेक्षा भविष्य में अच्छी इमारतें बनने लगीं।

अकबर के शासन के पूर्व की हिन्दू-मुस्लिम शिल्प कला का सबसे अच्छा नमूना शायद शेरशाह का मक़बरा है जिसे उसने बिहार के सहसराम झील केन्द्र में एक ऊँचे टीले पर बनवाया था। इमारत का बाहरी रूप मुसलमानी ढंग का बना हुआ है किन्तु इसका भीतरी भाग तोड़ों तथा हिन्दू ढंग के खम्भों से सजा हुआ है। आलोचकों का मत है कि शेरशाह का मक़बरा स्थापत्य कला के विकास के इतिहास में तुग़लक सुल्तानों के समय की भारी तथा भद्दी इमारतों और शाहजहाँ की बनवाई हुई सुन्दर इमारतों के बीच की कड़ी है। शेरशाह ने हुमायूँ के दीन पनाह को गिरवा कर उस पर पुराना क़िला नाम की एक महत्वपूर्ण इमारत बनवाई जिसका केवल एक भाग काल के विनाश से अभी तक बचा हुआ है। इसके भीतर एक मस्जिद है जिसे पुराने क़िले की मस्जिद कहते हैं "यह प्रशंसनीय शिल्प कला का ऐसा नमूना है जिसने उत्तरी भारत की इमारतों में अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया है।"

शेरशाह की मृत्यु के बाद और अकबर के सिंहासन पर बैठने तक के काल में कोई अच्छी इमारत नहीं बनी। जब अकबर ने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर शांति और व्यवस्था स्थापित कर दी तब बड़ी बड़ी इमारतों के बनाने के लिये अनुकूल वातावरण तैयार हो गया। शिल्पकला में सम्राट की रुचि होने के कारण तथा उसका संरक्षण करने के कारण सुन्दर सुन्दर इमारतें बन सकीं जिनके विषय में अबुल फ़ज़ल ने उचित ही लिखा है "सम्राट उत्तम उत्तम इमारतों की योजना बनाया करते हैं और अपने हृदय तथा मस्तिष्क के विचारों को पत्थर और चूने का रूप दे देते हैं।" देश में उस समय जितनी भी शिल्पकारियाँ प्रचलित थीं अकबर उन सबके सूक्ष्म भेदों को खूब समझता था और अपने शिल्पशास्त्रियों (कारीगरों) को कार्य रूप में परिणत करने के लिये कारीगरी की नई नई बातें बताता था। अकबर की आज्ञा से आगरा, फतहपुर सीकरी, लाहौर, इलाहाबाद, अटक इत्यादि जितने स्थानों में इमारतें बनवाई गईं उन पर वह अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालने में समर्थ हो सका था। अकबर ने शिल्पकला की प्रणाली में जो सुधार किया वह हिन्दू-मुस्लिम शिल्पकला का मिश्रित रूप था जिसे हम हिन्दू मुस्लिम प्रणाली का मिश्रण अथवा शिल्पकला की राष्ट्रीय भारतीय प्रणाली कह सकते हैं।

अकबर के शासन काल की सबसे पहिली इमारत दिल्ली में हुमायूँ का मक़बरा है जो सम्राट की सौतेली मां हाजी बेग़म की देख रेख में बनवाया गया था। एक तो हाजी बेग़म को फ़ारसी शिल्पकला से सहानुभूति थी दूसरे इसका बनाने वाला कारीगर मिरक़ मिर्ज़ा ग़ियास भी फ़ारस का रहने वाला था, अतः इस इमारत का निर्माण फ़ारसी शिल्पकला के आधार पर हुआ था। यह भारत में उभरी हुई दुहरी गुम्मद का सबसे पहला नमूना है। इस गुम्मद की गर्दन लम्बी है और यह समरकंद वाले तैमूर और बीबी ख़ानम के मक़बरों से मिलता जुलता है। इस नमूने की मस्जिद सबसे पहले ग्यारहवीं शताब्दी में दमसकस में बनी थी जिसे उमैय्यद राजघराने ने बनवाया था। समय की गति के अनुसार फिर आगरा और लाहौर के क़िलों और महलों के बनने की बारी आई। अकबर ने इनका नक़शा स्वयं बनाया था और अपनी देख रेख में ही इन्हें बनवाया था। आगरा के लाल क़िले की दीवारें लगभग ७० फीट ऊँची हैं, इसका घेरा लगभग डेढ़ मील का है और इसके दो मुख्य द्वार हैं जिनमें से एक पश्चिम की ओर है जिसका नाम दिल्ली द्वार या हाथी द्वार है क्योंकि इसके मुख्य महराब पर दो हाथियों की आकृतियाँ थीं और दूसरा द्वार इससे छोटा है और अमरसिंह द्वार कहलाता है। चहारदीवारी के भीतर अकबर ने ५०० से अधिक इमारतें रेतीले लाल पत्थर की बनवाई थीं। इनमें से बहुत सों को शाहजहाँ ने गिरवा कर उनकी जगह सफ़ेद संगमरमर के मण्डप बनवा दिये। क़िले के अन्दर अकबर के समय में बनवाई गई सबसे महत्वपूर्ण इमारतें अकबरी महल और जहाँगीरी महल हैं। अकबरी महल में बंगली बुर्ज बने हुए हैं और जहाँगीरी महल शाहज़ादा जहाँगीर के रहने के लिए बनवाया गया था। ये महल लाल रेतीले पत्थर के बने हैं। इनके बीच में चौकोर आँगन हैं "तथा चारों ओर दुमंजिले कमरे बने हुए हैं।" दोनों महलों की बनावट की विशेषता उनकी कड़ियों तथा तोड़ों में है। यथासम्भव महराबें नहीं बनाई गई हैं। जहाँगीरी महल कुछ समय बाद बना था। इसकी विशेषता उसकी सुन्दर हाथ की कारीगरी और खुदाई किये गये तोड़ों में है। ये शहतीर इन तोड़ों पर टिके हुए हैं। जहाँगीरी महल हिन्दू डिज़ाइन का है और इसमें सजावट भी हिन्दू ढंग की ही है, इन कारणों से यह किसी हिन्दू राजा का महल बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। आगरा किले की साधारण रूपरेखा मानसिंह द्वारा बनवाये गये ग्वालियर के क़िले से मिलती जुलती है। "हाथी दरवाज़ा, अमरसिंह दर्वाज़े की छतरियाँ, क़िले की दीवारों से ऊँचे उठे हुए महल, इन महलों के निर्माण का ढंग तथा खुदाई के कुछ ब्यौरे इत्यादि कुछ चीज़ें ऐसी थीं जिन्हें देखकर बाबर लगभग चालीस वर्ष पूर्व पूलक गद्गद हो गया था और जिन्हें उसके भाग्यशाली पोते ने नमूने के रूप में स्वतन्त्रता-अपना लिया था।" (Cambridge History of India जिल्द ४ पृष्ठ ५३८)

लाहौर का किला भी लगभग आगरे के किले के साथ साथ ही बना था। लाहौरी किले की इमारतें आगरा किले के जहाँगीरी महल के समान ही हैं। उनमें केवल थोड़ा सा अन्तर यह है कि लाहौरी किले की सजावट आगरा किले की अपेक्षा अधिक और घनी है। "तोड़ों में हाथी और सिंहों की मूर्तियाँ हैं और छत के नीचे बनी हुई कारनिस में मोरों के चित्र खुदे हुये हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चित्रकार अधिकतर हिन्दू थे और मुग़लों का निरीक्षण सहिष्णुतापूर्ण था।" इलाहाबाद का किला कुछ समय बाद बना था और इसकी अनेक इमारतें तथा भीतरी दीवारें नष्ट हो गई हैं। अकबर की शिल्पकला की सबसे बड़ी सफलता उसकी नई राजधानी फतहपुर सीकरी की सुन्दर इमारतों में है। इनमें से मुख्य इमारतें महाफिज़ ख़ाना, दिवाने ख़ास, दिवाने आम, ख़ज़ाना, पंचमहल, मरियम का महल, तुर्की सुल्ताना का महल, सम्राट का शयनागार तथा पुस्तकालय, जोधाबाई और बीरबल के महल इत्यादि हैं। चहार दीवारी के बाहर जामा मस्जिद के फाटक का ऊँचा महराब है जो बुलन्द दर्वाज़ा नाम से प्रसिद्ध है। मस्जिद की चाहर दीवारी के भीतर संगमर्मर की बनी हुई शेख़ सलीम चिश्ती की दरगाह है। प्रायः ये सभी इमारतें हिन्दू मुस्लिम मिश्रित कला के द्वारा बनी हैं और प्रधानता प्रायः हिन्दू कला की है। इनमें से कुछ की सजावट जैसे दिवाने ख़ास में लगे हुए खम्भों की शोभा बढ़ाने वाले तोड़े, पंचमहल और जोधाबाई के महल में लगे हुए उभरे घंटे तथा जंजीर और मरियम के महलों में पत्थर खोद कर बनाये गये पशुओं के चित्र इत्यादि हिन्दू तथा जैन मन्दिरों की ही नक़ल हैं। आलोचकों का मत है कि दीवाने ख़ास उल्लेखनीय इमारतों में से एक है। संगमरमर और रेतीले लाल पत्थर के बने हुए "बुलन्द दरवाज़े में शिल्प कला का जो उत्कृष्ट नमूना दिखाई देता है वैसा देश में अन्यत्र कहीं नहीं है।" फतहपुर सीकरी की इमारतें लगभग ग्यारह वर्ष में बन कर तैयार हुई थीं (१५६९-१५८०) "यद्यपि यह आज उजड़ी पड़ी है तो भी यह अपना निजी महत्व रखती है।"

फतहपुर सीकरी के अतिरिक्त अकबर ने अटक का किला, मेड़ता की और आमेर की मस्जिदें तथा अन्य स्थानों में किले इत्यादि अनेक अच्छी अच्छी इमारतें बनवाई थीं। सिकन्दरे में अकबर का जो मकबरा है उसका नक़शा अकबर ने स्वयं बनाया था और बाद में उसके पुत्र ने उसे पूरा करवाया था। इन इमारतों के अतिरिक्त उसने अनेक सराय, स्कूल बनवाये तथा तालाब और कुएँ खुदवाये।

अकबर ने शिल्पकला का जो नया रूप निकाला उसका सारे देश पर और राजस्थान के राजपूत राजाओं तक पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अकबर के शासन काल

में आमेर, बीकानेर, जोधपुर, ओरछा और दतिया में जो महल बने उन पर मुग़ल कला का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यहाँ तक कि हिन्दुओं के मन्दिर भी अकबर की राष्ट्रीय शिल्प कला के प्रभाव से नहीं बच सके थे। वृन्दावन के हिन्दू मन्दिरों की कुछ बनावट भी स्पष्ट रूप से बताती है कि उन पर समकालीन मुग़लों की शिल्प कला का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था।

जहांगीर की रुचि शिल्पकला की अपेक्षा छोटी चित्रकारी और बाग़बानी में अधिक थी। इसीलिये मुग़लों की इमारतों का बनना कुछ समय के लिये रुक सा गया। जहांगीर ने कुछ इमारतें बनवाई किन्तु उनमें अकबर जैसी शिल्पकला का वह उत्कृष्ट रूप नहीं था। फिर भी जहाँगीर द्वारा बनवाई गई कुछ इमारतें विशेष रूप से अच्छी हैं। नूरजहाँ द्वारा बनवाया गया आगरे का एतमादुद्दौला का मक़बरा जहाँगीर के समय की इमारतों में बहुत अच्छा है। इसमें नक़्क़ाशी का काम है और यह सफेद संगमरमर का बना हुआ है और संगमरमर के टुकड़ों के बराबर क़ीमती पत्थर लगे हुए हैं। यह पहली ही मुग़ल इमारत है जो सारी की सारी सफेद संगमरमर की बनी हुई है और जिसमें पच्चीकारी का काम है। इस एतमादुद्दौला को चाहे ललित एवं अनुपम कला की दृष्टि से देखें अथवा ललित कला के नमूने की दृष्टि से देखें यह अपना सानी नहीं रखता है। यह उत्कट अपत्य स्नेह का प्रतीक है और मुग़ल काल में प्रचलित उच्च कोटि की कला का नमना है। (Cambridge History of India जिल्द ४, पृष्ठ ५५३ पर पर्सी ब्राउन) इसके बाद जहाँगीर के समय की दूसरी उल्लेखनीय इमारत सिकन्दरे में अकबर का मकबरा है। यद्यपि इसका नक़शा अकबर ने स्वयं बनाया था किन्तु यह तैयार १६०५ तथा १६१२ के बीच जहांगीर की देखरेख में हुआ था। इस मकबरे में पांच चौकोर चबूतरे हैं, जो प्रत्येक मंजिल में छोटे होते गये हैं और इस मक़बरे के ऊपर कोई गुम्मद नहीं है। मुसलमानों के सभी मक़बरों में गुम्मद बनाने की प्रथा प्राचीन समय से चली आती है। इस प्रभाव के कारण. कुछ आलोचकों का मत है कि सिकन्दरा कट्टर मुसलमानी ढंग का मक़बरा नहीं है। कुछ आलोचकों का मत है कि यह इमारत बौद्ध विहारों के समान बनी हुई है। लाहौर के पास शहादरा में जहाँगीर का मकबरा है जिसका नक़शा उसने स्वयं बनाया था। यह अकबर के मकबरे के बाद का बना हुआ है और लम्बाई चौड़ाई में उससे छोटा है। इसके ऊपर संगमरमर का एक मण्डप था जिसे सिक्खों ने अपने अधिकार के समय में उतार लिया था। समाधि का भीतरी भाग संगमरमर की पच्चीकारी से सुशोभित है। चिकने और रंगीन खपरैल इसकी शोभा को बहुत अधिक बढ़ा रहे हैं। पर्सी ब्राउन के कथनानुसार सारी इमारत प्रभावशाली प्रतीत नहीं होती है।

शाहजहाँ के शासन काल में मुग़ल शिल्प कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। शाहजहाँ ने आगरा, लाहौर, दिल्ली, काबुल, काश्मीर, अजमेर, कन्धार, अहमदाबाद इत्यादि अनेक स्थानों में सफेद संगमरमर के महल, मस्जिद, मक़बरे और मण्डप बनवाये थे। अकबर ने आगरा तथा लाहौर में रेतीले लाल पत्थर की इमारतें बनवाई थीं किन्तु शाहजहाँ ने उनमें से बहुतों को गिरवा कर सफेद संगमरमर का बनवा दिया था क्योंकि संगमर्मर सांभर के पास मकराना की कानों में असीम मात्रा में मिल रहा था। आगरा क़िले में अकबर ने जहाँगीरी महल के उत्तर में बहुत सी इमारतें बनवाई थीं किन्तु शाहजहाँ ने उनको गिरवा कर उनके स्थान में दीवाने आम, दीवाने ख़ास, ख़ास महल, शीश महल, मुसम्मन बुर्ज़, मच्छी भवन और मोती मस्जिद इत्यादि इमारतें बनवाई थीं। दीवाने ख़ास बड़ी सुन्दर इमारत है और इसमें दुहरे खम्भे लगे हुए हैं और मुसम्मन बुर्ज़ क़िले की लम्बी चौड़ी दीवार पर अप्सरा कुँज के समान शोभायमान है।" मोती मस्जिद में सभी इमारती सामान उत्तम लगा है और यह बड़ी अच्छी कारीगरी के साथ बनी है, अतः यह मुग़ल कालीन कला का उत्कृष्ट नमूना बन गई है।" पवित्रता और ललित कला की दृष्टि से आगरे किले की सफेद संगमरमर की यह मस्जिद जैसी उत्कृष्ट है वैसी दूसरी इमारत नहीं है। आगरे की जामा मस्जिद में दीवारों की शोभा बढ़ाने वाले एक सी नाप के बहुत से गुम्मद वाले मण्डपों की पंक्ति है जो कला का उत्कृष्ट नमूना है। शाहजहाँ ने भी लाहौर के किले में ऐसा ही उल्लेखनीय परिवर्तन करा कर किले के उत्तर-पश्चिमी भाग में चालीस खम्भे का दीवाने आम, मुसम्मन बुर्ज़, शीश महल, नौलखा और ख्वाबग़ाह इमारतें बनवाईं। १६३८ में शाहजहाँ ने दिल्ली के पास शाहजहाँबाद नाम के नये नगर की नींव डाली और वहाँ पर किला बनवाया जो लाल किले के नाम से विख्यात है। इस किले के भीतर सफेद संगमरमर की बड़ी सुन्दर सुन्दर इमारतें बनवाई गई हैं जिनमें मोती महल, हीरा-महल और रंग महल विशेष उल्लेखनीय हैं। दीवाने आम और दीवाने ख़ास इत्यादि सरकारी इमारतों के अतिरिक्त उसने संगीत भवन और कई एक दफ़्तर तथा बाज़ार बनवाये। हर महल के सामने फूलों की क्यारियाँ, से सिंचाई के साधनों तथा अलंकृत फ़व्वारों से सुशोभित बाग़ थे। इमारतें कंगूरों की क़तारों चमकते हुए गुम्मदों तथा हवाई गोखड़ों से सुसज्जित थीं और जाली के कटावों, खम्भों पर बने हुए महारावों तथा दीवारों पर खुदी हुई चित्रकारी से इनकी सुन्दरता और बढ़ गई थी। महलों तथा दूसरी इमारतों में संगमर्मर का फर्श था। नहरे बहिश्त अथवा स्वर्ग-गंगा शाह बुर्ज़ से महल में आती थी और भवनों को जल देती हुई एक फ़व्वारे का रूप धारण कर लेती थी। इन फ़व्वारों में से सबसे अच्छा फ़व्वारा रंग महल के

मध्य के भवन म हैं। आलोचकों का मत है कि यह महल बहुत ही सुन्दर तथा मनोहर है और इसकी चित्रकारी अत्यन्त उत्तम तथा कलापूर्ण है अतः एक दीवार पर खुदे हुए ये वाक्य बिलकुल सच्चे प्रतीत होते हैं "यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्गीय आनन्द है तो वह यहीं है।"

शाहजहां ने किले के पास नगर की चहार दीवारी के भीतर दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद बनवाई थी। यह बहुत बड़ी, सुन्दर और शाही ढंग की इमारत है। किन्तु आगरे का प्रसिद्ध ताजमहल शाहजहां की सब इमारतों में सबसे अच्छा है। यह संसार के आश्चर्यों में से एक है और इसके बनाने में साढ़े चार करोड़ से अधिक रुपया लगा था। इसका बनना १६३१ में प्रारम्भ हुआ था और यह १६५३ में बनकर तैयार हुआ था। इतिहासकार स्मिथ का मत है कि इसका निर्माण योरोपीय तथा एशियाई कलाकारों ने किया था किन्तु अन्य इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं। इसका डिज़ाइन उस्ताद इसा तथा बहुत से देशी विदेशी कलाकारों तथा सुलेखकों ने बनाया था जो इसके बनाने के लिये नियुक्त हुए थे। पर्सी ब्राउन का कहना है कि इस विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि इसका निर्माण तो प्रायः मुसलमान कलाकारों द्वारा हुआ था किन्तु इसकी चित्रकारी प्रायः हिन्दू कलाकारों द्वारा हुई थी और पीतुरादौरा की पच्चीकारी जैसी कठिन चित्रकारी का भार तो कन्नौज के हिन्दू कलाकारों को सौंपा गया था। (Cambridge History of India, जिल्द ४, पृष्ठ ५६४) यद्यपि इस इमारत का निर्माण मुख्यतया फ़ारसी डिज़ाइन का है तो भी इसमें कुछ अंश में हिन्दू शिल्पकला तथा हिन्दू सजावट का सम्मिश्रण है। इसके मुख्य गुम्मद की आकृति तैमूरी गुम्मद से मिलती जुलती है और यह उसी प्रकार का है जैसा कि जैरूसलम में बना हुआ पत्थर का गुम्मद। किन्तु इसके किनारे की छतरियां देशी शिल्पकला के प्रतीक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी किसी हिन्दू मन्दिर की महराबदार छत से नकल की गई है। (Cambridge History of India जिल्द ४, पृष्ठ ५६५) स्थापत्य कला की दृष्टि से ताजमहल के निर्माण, बनावट और सजावट में महराबदार छत से नक़ल की गई है। (Cambridge History of India जिल्द ४, पृष्ठ ५६५) स्थापत्य कला की दृष्टि से ताजमहल के निर्माण, बनावट और सजावट में और उसके दूध की तरह के संगमर्मर में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं पाई जाती है। आलोचकों ने इसे प्रेम का काव्य कहा है।

शहाजहां की मृत्यु के बाद मुग़ल-शिल्पकला का धीरे धीरे पतन होने लगा। उसके उत्तराधिकारी औरगज़ेब ने बहुत ही कम इमारतें बनवाईं और जो बनवाईं वे भी बहुत ही मामूली बनवाईं। उसने औरङ्गाबाद के पास अपनी स्त्री रबिया-

उद-दौरानी का मक़बरा बनवाया है। यह एक मामूली ढंग की इमारत है और इसकी सजी हुई महराबों में और अन्य सजावट में कोई विशेषता नहीं है।

दिल्ली की जामा मस्जिद की नक़ल पर बनवाई गई लाहौर की बादशाही मस्जिद यद्यपि बड़ी है किन्तु भद्दी है। सम्राट औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद तो मुग़ल कालीन शिल्पकला का बिलकुल पतन हो गया और अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जो इमारतें बनीं वे तो मुग़ल कालीन शिल्पकला के डिज़ाइन का खोखलापन और दिवालियापन ही प्रकट करती हैं।

जवाहरात

प्राचीन काल में जवाहरात की कला भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। क्योंकि आदि काल से ही हिन्दू नर नारियां रत्न और आभूषण बड़े प्रेम से पहना करते थे। मुग़ल सम्राटों ने इस कला की उन्नति का बड़ा प्रयत्न किया क्योंकि ये स्वयं रत्न और आभूषणों के बड़े प्रेमी थे। हुमायूँ ने कोहनूर नामक प्रसिद्ध हीरे को ग्वालियर के राजा विक्रमाजीत के परिवार से प्राप्त कर लिया था। अकबर के पास तो रत्नों का बहुत बड़ा संग्रह था। इस संग्रह में अत्यन्त सुन्दर लाल बहुत अधिक थे जो कि दो मालाओं के रूप में थे। इनमें से प्रत्येक का मूल्य दस लाख था। जहांगीर को बहुत से रत्न अकबर से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए थे जिनमें बिना तराशे हुए १$\frac{१}{२}$ मन हीरे, १२ मन मोती, १ मन लाल, ५ मन पन्ना, ५ मन हरित मणि शामिल थे और इनके अतिरिक्त रत्नजटित आभूषण तथा सामान और था। शाहजहां मुग़ल सम्राटों में रत्नों का सबसे अधिक प्रेमी था और उसके पास पांच करोड़ के निजी रत्न भी थे और इनके अतिरिक्त उसने दो करोड़ के रत्न तो शाही परिवार को भेंट कर दिये थे। उसके पास रत्नों का मयूर सिंहासन था। यह शुद्ध सोने का बना हुआ था और इसमें रत्न जड़े हुए थे। "यह सिंहासन पलंग के समान था और इसके पाये सोने के बने हुए थे। मीनाकारी से बना हुआ चिकना और सुन्दर चन्दोवा पन्ने के बने हुए बारह खम्भों पर लगा हुआ था। प्रत्येक खम्भे में दो रत्न-जटित मोर बने हुए थे। हीरे, लाल, पन्ना और मोती से लदा हुआ एक पेड़ पक्षियों (मोरों) के प्रत्येक जोड़े के बीच में लगा हुआ था।" अन्दरूनी छत में मीनाकारी हो रही थी और बाहरी छत में लाल तथा दूसरे रत्न जड़े हुए थे। "सम्राट के सिंहासन तक जाने के लिये तीन सीढ़ियाँ रत्नों से जड़ी हुई थीं और सिंहासन के चारों ओर ग्यारह चौखटें थीं। इसके बीचों बीच एक केन्द्रीय रत्न था जो एक सुन्दर लाल था और जिसे शाह अब्बास प्रथम ने जहांगीर को भेंट में दिया था।" नादिरशाह १७३९ में मयूर सिंहासन को फ़ारस ले गया। अब यह संसार में नहीं है। शाही बेगमों के

पास इतनी अधिक रत्न-राशि थी कि जिसके वर्णन को सुन कर लोग भोंचक्के हो जाते थे। मुग़ल साम्राज्य के पतन के कारण तथा शाही परिवार तथा सरदारों की दरिद्रता के कारण अट्ठारहवीं शताब्दी में रत्न कला का ह्रास होने लगा।

बाग़ बगीचे

मुग़लों के भारत में आने से बहुत पहले भी यहां पर बाग़ बगीचे थे किन्तु न तो ये रेखागणित के आधार पर बने थे और न इनमें से प्रत्येक में जलाशय ही बने थे। बाबर ही पहला व्यक्ति था जिसने भारत में फ़ारस और तुर्किस्तान के ढंग के नये बाग़ बगीचों का लगवाना आरम्भ किया। "इन बगीचों की मुख्य विशेषता यह थी कि इनकी सिंचाई कृत्रिम नालियों, तालाबों और छोटे छोटे झरनों से होती थी जो ऐसे ढंग से बनाये जाते थे कि पानी दोनों ओर लबालब भरा रहे। साथ ही साथ ढालू स्थानों पर प्राय: आठ चबूतरे बनाये जाते थे जिसका अभिप्राय कुरान में बताये गये स्वर्ग के आठ भागों से होता था और कभी कभी ये सात ग्रहों के प्रतीक रूप में सात ही होते थे।" मुख्य मण्डप कभी कभी सबसे ऊँचे चबूतरे पर बनाया जाता था और कभी कभी सबसे नीचे के चबूतरे पर। इस प्रकार के चबूतरे इसलिये बनाये जाते थे जिससे उन पर बैठे हुए दर्शक बिना किसी विघ्न बाधा के फूल पत्ती तथा प्रपात के सौन्दर्य को देख सके।

बाबर फूल पत्ती का बड़ा प्रेमी था। उसने आगरे में एक बाग़ लगवाया जो रामबाग़ नाम से विख्यात हुआ। हुमायूँ बाबर से सौन्दर्य का कम प्रेमी नहीं था, अतः उसने दिल्ली में बसाये अपने दीन पनाह नामक नये नगर को तो पुष्प और फलदार बाग़ों से अवश्य ही सुशोभित किया होगा। अकबर ने भी अपने पूर्वजों का अनुसरण किया और आगरा किला, फतहपुर सीकरी तथा अन्य स्थानों में अनेक बाग़ लगवाये। किन्तु अकबर के नाम को अमर करने वाला उसका सबसे अच्छा बाग़ सिकन्दरे में है जहाँ वह दफ़नाया गया था। इस बाग़ के केन्द्र में उसका सुन्दर मक़बरा है। यह बाग़ चार पंक्तियों में लगा हुआ है। इसके चारों ओर बहुत बड़ी चहार दीवारी है जिसकी चारों दीवारों के बीचों बीच चार दर्वाज़े हैं। मक़बरा केन्द्र में है और इसकी बगल में तालाब हैं जिनमें सामने की ओर केन्द्र में फ़व्वारे लगे हुए हैं। वहाँ पर पानी की एक सी नालियां हैं जिन पर पलस्तर हो रहा है और जिनके किनारे पर नाना प्रकार के सुन्दर वृक्ष और फूल लगे हुए हैं।

जहांगीर के शासन काल में मुग़लों की उद्यान कला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। जहांगीर यदि थोड़े समय के लिये भी कहीं रहा तो भी उसने वहां बड़े सुन्दर ढंग से बाग़ लगवा दिये थे। जहांगीर द्वारा लगवाये गये बाग़ों में से सबसे अधिक

चित्ताकर्षक बाग़ श्रीनगर (काश्मीर) में शालामार बाग़ है। इसके चारों ओर पर्वत माला है और किनारे पर सुहावनी डल झील है। उसके दो अत्यन्त महत्वपूर्ण बाग़ और हैं। इनमें से एक आगरे में एतिमादुद्दौला के मकबरे में है और दूसरा लाहौर के पास शहादरा में उसी के मकबरे में है। ये दोनों सिकन्दरे के बाग़ के समान ही बने हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें ऊँचे उठे हुए फ़व्वारों से युक्त तालाब हैं और आठ बड़े-बड़े चबूतरे हैं। नूरजहां के भाई आसफ़ ख़ां ने श्रीनगर (काश्मीर) में निशात बाग़ लगवाया था जो देश के सुन्दर बाग़ों में से एक है।

शाहजहां भी बाग़ों का शौकीन था। उसने लाहौर के पास प्रसिद्ध शालामार बाग़ लगवाया। सुन्दरता और प्रसिद्धि में ताजमहल के बाद इसी का नाम है। इसमें दो चारबाग़ हैं। यह शालामार बाग़ दो भागों में विभक्त है और इन दो भागों को चारबाग़ कहते हैं। दोनों चारबागों के बीच में एक कम चौड़ा चबूतरा बना हुआ है और चबूतरे के केन्द्र में एक जलाशय है। जलाशय के दोनों ओर मण्डप बने हुए हैं और सारा घेरा फूलों की क्यारियों से सुशोभित है। दिल्ली का लाल किला भी बहुत से बागों से विभूषित था और हयात बाग़ उनमें सबसे अधिक सुन्दर था। यह सबसे बड़ा था और किले में बड़े मनमोहक ढंग से लगाया गया था। जलमार्ग के बीच बीच फूलों की चौकोर क्यारियों के बड़े सुन्दर नमूने बने थे और उनके ऊपर सावन भादों नाम के मण्डप बने हुए थे। शाहजहां के समय के दूसरे प्रसिद्ध बाग़ दिल्ली में तालकटोरा बाग़ और शालामार बाग़ थे। काश्मीर में वज़ीर बाग़ नाम से प्रसिद्ध दारा का बाग़ था। औरंगज़ेब ने जीवन के अनेक सुखों पर लात मार दी थी, अतः उसने बागों के लगाने में कोई विशेष रुचि नहीं ली। तो भी उद्यान कला सर्वथा लुप्त नहीं हुई। हां यह उस उच्च कोटि की तो नहीं रही जैसी यह प्रारम्भिक मुग़ल सम्राटों के समय में थी। इसी काल में लाहौर की बादशाही मस्जिद के चारों ओर एक सुन्दर बाग़ लगाया गया था और दूसरा सुन्दर बाग़ फ़िदई ख़ां ने पंजाब के पिनजोर नामक स्थान में लगवाया। औरगज़ेब की लड़की ज़ेबुन्निसा ने भी लाहौर के पास एक सुन्दर बाग़ लगवाया और उसका नाम चहार बुर्जी बाग़ रक्खा।

समय की गति के कारण मुग़ल कालीन अनेक बाग़ उजड़ गये और अनेक बिलकुल लुप्त हो गये किन्तु जो बचे हैं वे इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि लाहौर के निकट के शालामार बाग़ में बागों की जो प्रशंसा खुदी हुई है वह बहुत बढ़ा कर नहीं कही गई है। "यह बाग़ ऐसा सुन्दर और आनन्द दायक है कि ट्यूलिप (पोस्त) का रंग बिरंगा फूल तो इसके सामने अत्यन्त तुच्छ है। सूर्यमुखी और चन्द्रमुखी पुष्प ही इसके सुन्दर दीप हैं।"

विशेष अध्ययन के लिये पुस्तकें

१. Early Travels in India, सम्पादक डब्ल्यू० फौस्टर।

२. Travels in the Mughul Empire (1656-1668), लेखक बर्नियर, कांस्टेबिल तथा स्मिथ द्वारा सम्पादित।

३. Travels in India, लेखक ट्रेवरनियर।

४. Storia do Mogor, जिल्द १–४, लेखक मनूची, विलियम इरविन द्वारा अनूदित तथा सम्पादित।

५. Rambles and Recollections of Sleeman, वी. ए. स्मिथ द्वारा सम्पादित।

६. India at the death of Akbar, लेखक डब्लू. एच. मौरलैंड।

७. From Akbar to Aurangzeb, लेखक डब्लू. एच. मौरलैंड।

८. Ancient Indian Education, लेखक एफ. ई. की।

९. Promotion of learning in India during the Muhammadan Rule, लेखक एन. एन. लॉ।

१०. Studies in Mughul India, लेखक सर यदुनाथ सरकार।

११. Literature of Hindustan, लेखक जार्ज ग्रियर्सन।

१२. Music of Hindustan, लेखक फॉक्स स्टैंगवेज़।

१३. Court Painters of the Grand Moguls, लेखक एल. बिनयन।

१४. Indian Painting under the Mughals, लेखक पर्सी ब्राउन।

१५. History of fine Arts in India and Ceylon, लेखक वी. ए. स्मिथ।

१६. History of Indian and Eastern Architecture, लेखक फर्ग्यूसन।

१७. Indian Sculpture and Painting, लेखक ई. बी. हैविल।

१८. Gardens of the Great Mughals, लेखक सी. एम. विलियर्स स्टुअर्ट।

१९. Cambridge History of India, जिल्द ४ अध्याय १८

अध्याय १४

मुग़ल साम्राज्य : इसकी सफलताएँ और विफलताएँ

कुछ आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने या तो मुग़ल सरकार की शासन पद्धति को समझा नहीं है अथवा या फिर जान बूझ कर इसकी उदारता की डींग मारी है। इन लोगों ने मुग़ल शासन को 'राष्ट्रीय शासन' और मुग़ल काल को भारतीय राष्ट्रीयता का युग बताया है। इसको बढ़ा चढ़ा कर कहने का कारण स्पष्ट है। पहला कारण तो यह है कि ब्रिटिश राज्य मुग़ल काल के तुरन्त बाद ही स्थापित हुआ था। उस समय देश के विद्वानों के हृदय में देशभक्ति की लहर उठ रही थी और ब्रिटिश राज्य के प्रति घृणा हो रही थी, अतः यह स्वाभाविक ही था कि उन्होंने ब्रिटिश राज्य की अपेक्षा मुग़ल शासन को अधिक अच्छा और सहानुभूतिपूर्ण दिखाने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने मुग़ल काल को वह स्वर्ण काल बताया जिसमें देश पर भारतीयों का शासन था और इसलिये उनके विचार से यह राष्ट्रीयता का युग था। दूसरा कारण यह था और यह ठीक भी था कि मुग़ल शासन-काल में दिल्ली के सल्तनत काल (१२०६-१५२६) की अपेक्षा अधिक उन्नति हो गई थी। सल्तनत काल पूर्णतया इस्लामी राज्य था और अत्यधिक बहुसंख्यक हिन्दुओं के धर्म के प्रति असहिष्णु था और उनके धार्मिक कृत्यों का बाधक था। यही कारण था कि कुछ आधुनिक इतिहासकारों को मुग़लों का नर्म राज्य इतिहास में स्वभावतः ही सुनहरी अध्याय प्रतीत हुआ। तीसरा कारण यह था कि मुग़ल वंश में अकबर जैसा विशेष योग्यता सम्पन्न शासक हुआ जिसने बिना किसी धर्म अथवा जाति के पक्षपात के सारी प्रजा पर समान रूप से शासन किया और उनकी भौतिक तथा सांस्कृतिक उन्नति का पूर्ण प्रयत्न किया। उसके दो उत्तराधिकारी भी कुछ अंशों में उसी के पद चिह्नों पर चले। आधुनिक भारतीय इतिहासकार या तो सम्पूर्ण मुग़ल काल पर ठीक और विवेक पूर्ण विचार कर ही नहीं सके या उन्होंने किया ही नहीं और इसीलिये उन्होंने भ्रम से यह समझ लिया कि जो बात अकबर और जहाँगीर के सम्बन्ध में ठीक थी वही बात बाबर, हुमायूँ, औरंगज़ेब और दूसरे उत्तरकालीन मुग़लों के विषय में अवश्य ही सच होगी। चौथी बात यह है कि साम्प्रदायिक एकता के विचार से तथा भारतीय मुसलमानों में सार्वजनिक इतिहास के प्रति अभिमान पैदा करने के विचार से आधुनिक हिन्दू इतिहासकारों ने अपने नये इति-

हासों में जान-बूझ कर उन तथ्यों की ओर ध्यान नहीं दिया है जो हमारे मुसलमान भाइयों को अरुचिकर प्रतीत होते। क्योंकि ये भाई मुस्लिम शासन के प्रति सदैव पक्षपात दिखाते रहे थे और अपने को मध्य युग में भारत पर शासन करने वाले विदेशी मुसलमानों की जाति का समझते रहे थे। अन्तिम बात यह है कि सभी आधुनिक मुसलमान इतिहासकारों ने अप्रिय सत्य को छिपाया है और मुगलों की सफलताओं की डींग मारी है। उन्होंने पाठकों के सामने ऐतिहासिक तथ्यों को ठीक न रख कर इतिहास के बिगाड़ने का प्रयत्न किया है। उनके इस प्रयत्न ने न केवल इतिहास की पाठ्य-पुस्तक लिखने वाले विद्वान्, राजनीतिज्ञ तथा सर्वसाधारण हिन्दुओं को भ्रम में डाला है, अपितु इतिहास का गम्भीर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को भी भ्रम में डाल दिया है।

मुगल शासन प्रधान रूप से विदेशी था और केवल आंशिक रूप से भारतीय था। बाबर और हुमायूँ विदेशी विजेता थे। उनके आदर्श, उनकी मान्यताएँ, उनके जीवन का रहन सहन और उनकी सरकार का रंग ढंग सभी विदेशी था। बाबर ने तो हिन्दुस्तान में दफ़नाया जाना भी पसन्द नहीं किया था। और यदि हुमायूँ की आकस्मिक मृत्यु न हुई होती तो वह भी अपने मृत शरीर की वसीयत कर जाता कि वह हिन्दुस्तान में न गाड़ा जाकर काबुल में गाड़ा जाय जिससे कि वह अपने पिता के निकट चिर शांति प्राप्त कर सके। यह अकबर ही था जिसने अपने पूर्वजों की नीति को नहीं अपनाया। उसने इतना ही नहीं किया अपितु उसने तो भारतीय विचार और रहन सहन को भी अपनाने का प्रयत्न किया। अकबर ने सन् १५६३ में धार्मिक सहिष्णुता की नीति को अपनाकर ज़ज़िया कर को हटा दिया किन्तु अकबर की यह नीति मुगलों के २५० वर्ष (१५२६-१८०३) के शासन में मुश्किल से ६० वर्ष ही रही। इस ६० वर्ष के सहिष्णुतापूर्ण शासन में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि जहाँगीर और शाहजहाँ ने अपनी कट्टरता का परिचय देकर तथा इस नीति को न अपना कर हिन्दुओं के मन्दिर गिराये और हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बना लिया। अत: ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह कहना असत्य होगा कि सम्पूर्ण मुगल काल में भारतीय राष्ट्रीयता विद्यमान थी। सच तो यह है कि यह संघर्ष का युग था और यह संघर्ष था शासन प्रबन्ध के भारतीयकरण करने में तथा इस्लामी राज्य के सिद्धान्तों तथा प्रक्रियाओं को भारत पर थोपने में।

मुगल शासन प्रबन्ध के सिद्धान्त देशी और विदेशी दोनों ही थे। वास्तव में विदेशी अरबी और फ़ारसी तत्वों की ही इसमें प्रधानता थी, "अत: मुगल शासन प्रबन्ध की आत्मा को अरबी फ़ारसी शासन प्रणाली और उसके शरीर को भारतीय

शासन प्रणाली ठीक ही कहा गया है।" सर यदुनाथ सरकार का कहना है कि "मुग़ल शासकों की सरकार के सिद्धान्त, उसकी धर्म नीति, उसके कर लगाने के नियम, उसका विभागों का बँटवारा और उसके अफ़सरों के पदों के नाम तक विदेशी थे और भारत में ज्यों के त्यों लाये गये थे। किन्तु देश में जो देशी शासन प्रणाली प्रचलित थी और जिससे यहाँ के निवासी पूर्णतया परिचित थे उसको भी इस विदेशी प्रणाली ने अपना लिया। इस विदेशी शासन प्रणाली में ऐसे सुधार कर दिये गये जिससे कि वह स्थानीय आवश्यता के अनुकूल पड़ जाय।" सम्राट तथा उसके दरबारी फ़ारस तथा ईरान से प्रेरणा प्राप्त किया करते थे।

मुग़ल सरकार के लगभग सभी कार्यकर्ता विदेशी थे। अकबर के शासन काल में ७० प्रतिशत बड़े बड़े अफ़सर फ़ारसी, तुर्की, उज़बेग और अफगानिस्तानी थे और केवल तीस प्रतिशत भारतीय मुसलमान और हिन्दू थे। यद्यपि अकबर ने हिन्दुओं के लिये सरकारी नौकरियों का द्वार खोल रक्खा था किन्तु वास्तव में बहुत कम हिन्दू सरकारी नौकरियों में नियुक्त किये गये। अकबर ने चालीस वर्ष में ५०० और उसके ऊपर के मनसबों पर केवल २१ हिन्दू नियुक्त किये थे। इनमें से १७ आमेर, मारवाड़, बीकानेर, जैसलमेर तथा बुन्देलखण्ड के राजपूत राजा थे। उसने ५०० और उससे कम के मनसबों पर ३७ हिन्दू नियुक्त किये थे। इनमें से ३० छोटे-छोटे राज्यों के राजा थे। केवल चार गैर राजपूत हिन्दुओं को ५०० से ५०,००० तक के मनसबों पर नियुक्त किया था। ये चार बीरबल, टोडरमल, टोडरमल का पुत्र तथा एक और प्रमुख खत्री थे। शाहजहाँ के शासन के अन्तिम दिनों को छोड़ कर जहाँगीर के समय से जहाँदारशाह के समय तक, जबकि साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया था, सभी मुग़ल सम्राटों की शाही नौकरियों में हिन्दुओं की संख्या बहुत कम हो गई थी। ऊपर दिये हुए विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि सभी महत्वपूर्ण बड़ी बड़ी जगहों पर विदेशी ही नियुक्त थे। अतः वह सरकार जिसमें विदेशियों की बहुत अधिकता हो राष्ट्रीय सरकार नहीं कही जा सकती है।

मुग़ल सरकार देश में केवल एक फ़ौजी व्यवसाय मात्र थी और यह मुग़ल शासन के अन्त तक ऐसी ही बनी रही। यह एक बहुत बड़ी सेना रखती थी और इसके सैनिक और अफ़सर अधिकतर विदेशी थे। यह जनता को आतंकित कर उसे बस में रखने के लिये मोर्चे के स्थानों पर बड़ा भारी तोपख़ाना रखती थी। मुग़ल शाही नौकरी के सभी अफसर अर्थात् सेनापति मनसबदार होते थे। न तो नागरिक और फ़ौजी नौकरी में कोई अन्तर था और न कोई नागरिक ख़ज़ाना ही था। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मुग़ल सरकार देश में सैनिक व्यवसाय करने वाली ही बनी

रही और इसके दो मुख्य कामों में से एक तो देश में बाहरी और भीतरी शांति रखना था और दूसरा था जनता से लगान वसूल करना। इस सरकार ने देश के करोड़ों समृद्ध मनुष्यों की शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक सुधार इत्यादि सामाजिक कर्तव्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले रक्खा था। इसने जनता को शिक्षित करने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि मुगल सम्राटों ने कुछ स्कूल खोले थे और वे विद्वानों को आर्थिक सहायता भी देते थे किन्तु यह सहायता दरबार से सम्बन्ध रखने वाले कुछ कृपापात्रों को ही दी जाती थी न कि जनता को शिक्षित बनाने के लिये। साहित्य, कविता, संगीत तथा चित्रकला को दरबार में प्रोत्साहन दिया जाता था। किन्तु यह सम्राटों का निजी शौक था, इसका उद्देश्य देश की कला एवं संस्कृति के विस्तार का नहीं था। मुगल सरकार की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि उसने देश के दो बड़े सम्प्रदायों अर्थात् हिन्दू मुसलमानों में जान बूझकर भेद भाव बनाये रखने का सफल प्रयत्न कर रक्खा था। यह मुसलमानी परम्परा के आधार पर मुसलमान और गैर मुसलमान में सदैव भेद भाव बनाये रखना चाहती थी। इन मुगल सम्राटों में अकबर ही एक ऐसा सम्राट था जिसने अपने शासनकाल के थोड़े से समय में जनता में मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उसका यह प्रयत्न केवल २५ वर्ष ही रहा और उसकी मृत्यु के बाद यह प्रयत्न सदा के लिये विदा हो गया। जहाँगीर ने तो अकबर के पूर्व के दिनों की भेद भाव की नीति को जान बूझ कर अपना लिया था। इसने हिन्दुओं पर मुसलमान लड़कियों के साथ विवाह करने की रोक लगा दी थी और करने वाले को प्राण दण्ड देने की घोषणा कर दी थी। शाहजहाँ भी उसी के पद चिह्नों पर चला। औरंगज़ेब और उसके उत्तराधिकारी तो कट्टर मुसलमान थे ही। इन सबका परिणाम यह हुआ कि दोनों जातियों में भेद-भाव की खाई चौड़ी होती गई और मुसलमान शासकों द्वारा लगाया गया भेद भाव का यह कलङ्क हम पर आज भी लगा हुआ है।

हिन्दुओं की दशा

सर यदुनाथ सरकार का कहना है कि "किसी भी सरकार की राजनैतिक प्रणाली की परख का माप दण्ड यह है कि उसके शासन काल में जनता की आर्थिक और नैतिक उन्नति पर उसका कैसा प्रभाव पड़ा है।" यदि हम इस माप दण्ड से भारत में मुग़ल शासन की परीक्षा करें तो हमें कहना पड़ेगा कि यह बिलकुल ही असफल रहा। अकबर के थोड़े से शासन काल में जनता की आर्थिक एवं नैतिक उन्नति अवश्य हुई थी किन्तु १५२६–१८०३ तक सारे मुग़ल-शासन काल में लगभग सारी ही जनता का जीवन दुःखमय रहा था। इस सम्बन्ध में समकालीन योरापीय

व्यापारी और यात्री तथा समकालीन मुसलमान लेखकों ने समय समय पर जो कुछ लिखा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुग़ल शासन हिन्दुओं के लिये एक अभिशाप था और उस शासन में उनका जीवन, उनकी प्रतिष्ठा और उनकी सम्पत्ति सुरक्षित नहीं थी।

सर यदुनाथ सरकार के शब्दों में "इस सारे विनाश का कारण इस्लामी धर्मान्धता है। शरियत के कट्टर क़ानून जब मनुष्यों की सरकार की जटिल समस्याओं के सुलझाने के लिये लागू किये जाते हैं तब जनता की एकता तथा राजनैतिक समानता नष्ट हो जाती है और जनता सदा के लिये दो भागों में बंट जाती है। इनमें से एक भाग मुसलमान और दूसरा ग़ैर मुसलमान अथवा काफ़िर कहलाने लगता है। मुग़ल-शासन का आधार धर्मान्धता थी और पैग़म्बर का वाक्य ब्रह्म वाक्य समझा जाता था। अतः इस शासन में दो (हिन्दू संस्कृति तथा मुस्लिम संस्कृति) भिन्न भिन्न संस्कृतियों में वैसी एकता असम्भव थी जैसी एकता विवेक और न्यायपूर्ण ब्रिटिश शासन में ब्रिटेन के प्रोटेस्टेंटों और कनाडा निवासी कैथोलिकों में रहती है। इस्लामी शासन के मौलिक सिद्धान्त ६२० ईसवी में बने थे और तबसे इनमें कोई संशोधन नहीं हुआ था। अत: इस प्रकार की शासन प्रणाली में प्रगतिशील क़ानून का बनना असम्भव था क्योंकि ऐसा करना पैग़म्बर की सर्वज्ञता में अविश्वास करना समझा जाता।" (Hindustan Standard, Puja Annual) कुछ लेखकों का मत है कि केवल कट्टर औरंगज़ेब के शासन काल में ही हिन्दुओं का धर्म नष्ट हो गया था और उनके राजनैतिक अधिकार कुचले गये थे। शेष मुग़ल काल में हिन्दू अपने अधिकारों का उपभोग करते हुए सुखमय जीवन बिताते रहे थे। किन्तु यह मत भ्रमपूर्ण है। अकबर ने अपने शासन के अन्तिम २५ वर्षों में हिन्दू मुसलमान के भेदभाव की खाई को पाटने का प्रशंसनीय प्रयत्न अवश्य किया था किन्तु शेष काल में जब से इस्लामी शासन देश में आया शरियत के कानूनों ने हिन्दू मुसलमानों के बीच भेद भाव के वे बीज बो दिये जो सम्पूर्ण मुग़ल काल में फूलते फलते रहे। अकबर ने शरियत की अवहेलना करके जो नियम बनाये उनका देश की मुस्लिम जनता ने पालन नहीं किया और जैसा कि पहले कहा जा चुका है जहांगीर ने तो अकबर के पूर्व दिनों की नीति को ही अपना लिया था। अकबर के शासन काल में हिन्दुओं को जो राजनैतिक समानता, धार्मिक-सहिष्णुता, मुसलमान बने हुए हिन्दुओं को फिर से हिन्दू बनाने का अधिकार तथा जनता में अपने धर्म का प्रचार और क़ानून का समान रूप से लागू होना इत्यादि सुविधाएँ थीं, वे सब अकबर की मृत्यु के साथ विदा हो गईं और उस समय से शाहजहां के शासन तक कम मात्रा में रह गईं। संक्षेप में हम यह कह कह सकते हैं कि मुग़ल सम्राट इस्लामी राज्य के सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे और उसके अनुसार

ग़ैर मुसलमानों का दमन तथा उनके धर्म का विनाश मुस्लिम सरकार का कर्तव्य समझा जाता था। जो सरकार इन कामों को नहीं करती थी वह या तो अपवाद मान ली जाती थी या फिर उस पर कर्तव्य न पालन करने का दोष मढ़ा जाता था। जब सरकार इन कामों के करने में असमर्थ होती थी या अपने कर्तव्य का पालन नहीं करती थी तब मुसलमान जनता सरकार के इस कर्तव्य को अपने हाथ में लेकर हिन्दुओं को दुरुस्त कर देती थी। आये दिन उद्दण्ड मुसलमान अनेक स्थानों में अपना सिर उठाते रहते थे और क़ानून को अपने हाथ में ले कर हिन्दू मन्दिरों को तोड़ते थे और उनके तीर्थ स्थानों को भ्रष्ट किया करते थे। मुग़लों के पतन काल के दिनों में भी ये घटनाएँ आये दिन हुआ करती थीं। उदाहरण के लिये सितम्बर १७५५ में बनारस के क़ाज़ी और मुहतसिब ने एक मुसलमान भीड़ को साथ ले कर विश्वेश्वर महादेव के उस नये मन्दिर को तोड़ दिया जो विश्वनाथ के प्राचीन मन्दिर के पास बनाया गया था और जिसके टूटने पर नगर में हड़ताल हो गई थी। (Delhi Chronicle, पृष्ठ १२८) बरेली के मौलवी सैय्यद अहमद ने १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में जो अत्याचार किये थे उन्हें तो प्रायः सभी जानते हैं। इन सब बातों के कारण मुग़ल शासन के सबसे अच्छे समय में भी हिन्दुओं के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक जीवन पर प्रतिबन्ध लगा रहा और वह असुरक्षित बना रहा। हिन्दुओं को इस बात का सदा भय बना रहता था कि मुसलमान मुल्लाओं की अध्यक्षता में उन पर किसी समय भी हमला कर देंगे और उनके हमले के समय या तो सरकार निकम्मी साबित होगी या फिर तरह दे जायेगी। (सरकार, Society during the Muslim Period, Hindustan Standard, Puja Annual, १९५१) दक्षिण भारत में मुसलमान बहुत कम थे और हिन्दू बड़ी बड़ी रियासतों के मालिक थे तथा अत्याचारों का मुकाबला करने में पूर्ण समर्थ थे, अतः वहां पर बहुत कम अत्याचार हुए। इसके विपरीत उत्तर भारत में हिन्दुओं के धर्म को नष्ट करना मुसलमानों का नियम बन गया था, अतः यहां पर हिन्दू संस्कृति या तो अर्ध स्वतन्त्र हिन्दू राज्यों में या फिर देश के अन्तर्तम कोने में ही फली फूली रह सकी।

दमनकारी मुस्लिम शासन का सबसे बुरा प्रभाव हिन्दुओं पर यह पड़ा कि वे न तो सच बात कह सकते थे और न लिख सकते थे। वे अपने को मुसलमानों के समान भी नहीं समझ सकते थे। इन सब कारणों से उनका इतना नैतिक पतन हो गया कि वे किसी तरह दिन काटने के लिये छोटी छोटी धूर्तताएँ, पाखण्ड और धोखेबाज़ी तक करने लग गये थे। इस्लाम के सिद्धान्तानुसार शासन करने वाले मुग़लों पर यह सबसे बड़ा कलंक है कि उनके शासन काल में हिन्दुओं का नैतिक पतन हो गया था।

अकबर के शासन काल को तथा जहाँगीर के शासन काल के कुछ वर्षों को छोड़ कर साधारण हिन्दू जनता की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर के समय में मालगुज़ारी के जो ठीक और उदार नियम बने थे वे उसके उत्तराधिकारी के समय में ही समाप्त हो गये। औरंगज़ेब ने तो हिन्दुओं पर जिज़िया, यात्रा कर, और गंगा में हड्डी डालने का कर फिर लगाकर उन पर करों का भार लाद दिया था। हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि औरंगज़ेब कर लगाने में पक्षपात करता था। शाहजहाँ और औरंगज़ेब ने लगान की दर भी बढ़ा दी थी। अकबर उपज का एक तिहाई लगान में लेता था और किन्तु शाहजहाँ पैदावार का आधा लेने लगा था। अबुल फ़ज़ल के कथनानुसार अकबर के शासन काल में लगान की आमदनी १३,२१,३६,८३१ रु० थी। और अब्दुल हमीद लाहौरी के कथनानुसार शाहजहाँ के शासन काल में यह बढ़कर २२,४०,००,०००रु०हो गई थी। किन्तु औरंगज़ेब के शासन के प्रथम दशक में यह आमदनी ३८,६८,१६,५८४ रु० हो गई और इसमें जिज़िया, तीर्थ यात्रा कर तथा केवल हिन्दुओं पर लगाये गये भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक टैक्सों की आमदनी शामिल नहीं थी। बरनियर, ट्रैवरनियर और मुनक्की जैसे समकालीन योरोपियन यात्रियों ने लिखा है कि साधारण हिन्दू जनता को मुग़ल दरबार तथा निकम्मी नौकरशाही की शान शौकत बनाये रखने के लिये तथा उनकी फ़िज़ूल खर्ची के लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता था। वे हमें बताते हैं कि खेती करने के लिये लोगों को बाध्य किया जाता था और राज्य किसानों पर टैक्सों का असह्य बोझा डाल कर उन्हें चूस लेता था। मोरलैण्ड निम्न शब्दों में साधारण जनता की दशा इस प्रकार बताता है :—"जुलाहे स्वयं नंगे रह कर दूसरों का तन ढकने के लिये कपड़ा बुनते थे। किसान स्वयं भूखे रह कर कस्बे और नगर निवासियों का पेट भरने के लिये कठिन परिश्रम करते थे। भारत इकाई के रूप में अपनी लाभदायक वस्तुओं को सोने और चाँदी के विनिमय में बाहर भेज देता था अथवा यों कह सकते हैं कि पत्थर के बदले में रोटी दे देता था। साधारण जनता एक फ़सल से दूसरी फसल तक आधा पेट खाकर रहती थी और दूसरी फसल की आशा लगाये रहती थी। और यदि वह भी मारी जाती थी, जैसा प्रायः हुआ करता था, तब दास व्यापारी ही उसका एक मात्र सहारा रह जाते थे और जब वे भी उन्हें नहीं ख़रीदते थे तब नृशंसता, क्रूरता, आत्म-हत्या और भूखों मरने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जाता था। इस सबसे बचने का एक मात्र उपाय उत्पादन बढ़ाना और जीवन का स्तर बढ़ाना था किन्तु शासन की जो प्रचलित प्रणाली थी उसमें यह उपाय संभव नहीं थे। मुग़ल सरकार उत्पादन में बाधा डालती थी और जनता के प्रत्येक बढ़े हुए उपभोग को देख कर

अधिक लूट के लिये लालायित होती थी।" (Moreland, From Akbar to Aurangzeb, पृष्ठ २०४-५) लगभग एक हज़ार वर्ष की गुलामी की कठिन यन्त्रणाओं के सहने के बाद जब देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई और जनमत की स्थापना तथा ज़मींदारी का उन्मूलन हुआ तब भारतवासियों को सुनहरी आशा की झलक दिखाई दी।

मुग़ल राजस्थान तथा दोआब के जीतने में क्यों सफल हुए और पहले आये हुए सुल्तान इन्हें जीतने में क्यों विफल रहे

प्रश्न हो सकता है कि मुग़ल वीर राजपूतों को दबा कर दोआब को जीतने में तथा सम्पूर्ण उत्तर भारत पर और दक्षिण के कुछ भागों पर पूर्ण अधिकार करने में कैसे सफल हो गये और दिल्ली के सुल्तान विफल क्यों रहे और इन सुल्तानों को मालगुज़ारी वसूल करने के लिये तथा देश के अनेक भागों में उपद्रव करने वालों को क़ाबू में रखने के लिये प्रति वर्ष सेना क्यों भेजनी पड़ती थी। इसका कारण ढूँढ़ने के लिये हमें विशेष परिश्रम नहीं करना होगा। यह स्मरण रखना चाहिये कि सामान्यत: हिन्दुओं ने और विशेषत: राजपूतों ने अफ़ग़ानिस्तान तथा मध्य एशिया के आक्रमणकारियों के एक के बाद एक जो हमले हुए थे, उनसे अपनी स्वतन्त्रता तथा संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के लिये ३५० वर्ष से अधिक निरन्तर युद्ध किया था। किन्तु मुग़ल काल के आरम्भ होने पर वे बिलकुल शिथिल हो गये थे। आक्रमणकारी देश के जिस भाग पर भी आक्रमण करते थे उनका मुक़ाबला वहीं के लोग करते थे। अन्तर यह होता था कि समयानुसार दादा के बाद बेटे तथा बेटे के बाद पोते को मुक़ाबला करना पड़ता था। इन लोगों की संख्या कम हो गई थी, आशा टूट गई थी और साधन समाप्त हो गये थे। इसके विपरीत मध्य एशिया अथवा अफ़ग़ानिस्तान से देश पर निरन्तर हमला करने वाले बर्बर लोग सदा तरोताज़ा आते थे। दूसरा कारण था कि मुग़लों ने सौभाग्य से भारत पर उस समय आक्रमण किया जब कि बारूद के आविष्कार से युरोप तथा पश्चिमी एशिया की युद्ध प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया था और इस क्रान्ति के कारण मुग़लों के पास छोटा तथा बड़ा तोपख़ाना हो गया था जिस पर उन्होंने अत्यन्त कुशल तुर्कियों को नियुक्त कर रक्खा था। इसके विपरीत भारतवासी बारूद तथा तोपख़ाने के प्रयोग से बिलकुल अनभिज्ञ थे। बाजौर, मैरा, पंजाब के मैदान, पानीपत तथा खानुआ के युद्ध क्षेत्रों में बाबर की तोपों के महा संहार को देख कर वे भौचक्के रह गये थे। उनके बाण मुग़लों के छर्रों का मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। तीसरा कारण यह था कि मुग़लों की युद्ध प्रणाली, जिसे बाबर सीख कर आया था और जिसका वर्णन इसी पुस्तक के द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है, युद्ध क्षेत्र में व्यूह रचना और मोर्चाबन्दी की दृष्टि से तथा सैन्य-

संचालन की दृष्टि से भारतीयों से कहीं अच्छी थी। चौथा कारण यह था कि बाबर से लेकर औरंगज़ेब तक जितने मुग़ल शासक हुए उनमें से जहाँगीर को छोड़ कर शेष सभी सेना संचालन तथा कूटनीति में हमारे शासकों तथा राजनीतिज्ञों से कहीं अच्छे थे। हमारे राजा और राजनीतिज्ञ अस्त्र शस्त्रों की उस उन्नति तथा युद्ध-कौशल से सर्वथा अनभिज्ञ थे, जो फ़ारस, मध्य एशिया तथा योरोप में हो गई थी। पाँचवाँ उल्लेखनीय कारण यह था कि मुग़लों में अकबर जैसा योग्य शासक पैदा हो गया था जिसने उन उत्तर भारत, राजस्थान, मध्य भारत तथा दोआब प्रदेशों को वास्तव में अधीन कर लिया था, जिन्होंने दिल्ली के सुल्तानों के असंख्य बार दाँत खट्टे कर दिये थे। इस काम को न तो अकबर के पूर्वाधिकारी बाबर और हुमायूं कर सके थे और न उसके उत्तराधिकारी जहांगीर, शाहजहां और औरंगज़ेब ही कर सके थे। अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त करने वाला अकबर केवल एक कुशल सैनिक ही नहीं था अपितु उच्चकोटि का राजनीतिज्ञ भी था। वह राजपूतों की मैत्री के महत्त्व को जानता था और धार्मिक सहिष्णुता एवं मैत्री सम्बन्ध की नीति को अपना कर उन्हें अपने पक्ष में मिलाये रखने के लिये सदा उत्सुक रहता था। कर्नल जेम्स टॉड के शब्दों में "अकबर ने अपनी बुद्धिमत्ता से यह भलीभाँति समझ लिया था कि राजपूतों के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रदर्शन केवल व्यर्थ ही नहीं होगा अपितु हानिकारक भी होगा और यदि उनको स्वामिभक्त बना कर प्रतिष्ठा के साथ अपने अधिकार में रखा जायेगा तो वे साम्राज्य की सुरक्षा में योग देते रहेंगे।" सच बात तो यह है कि अकबर की शिष्टता एवं राजनीतिज्ञता से ही हिन्दू और विशेषकर राजपूत उसके वश में हो गये थे। उसकी सैन्य शक्ति का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। अकबर एक ओर लोगों को जीतता था तो दूसरी ओर जनता के शासन का सुप्रबन्ध करता था अर्थात् वह एक हाथ से यदि घायल करता था तो दूसरे हाथ से घाव पर मरहम भी लगाता था। दिल्ली के सुल्तानों में से कोई भी सुल्तान अकबर के समान उच्च कोटि का राजनीतिज्ञ नहीं था। छठा कारण यह है कि अकबर एक सफल कूटनीतिज्ञ था और उसकी कूटनीति की चाल के कारण राजपूतों में परस्पर मतभेद हो गया था और इस कारण उनकी विरोध करने की शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में महाराणा प्रताप राजपूतों में सबसे बड़ा वीर और देशभक्त था किन्तु जब अकबर ने उस पर आक्रमण किया तो सारे के सारे राजपूतों ने अकबर का साथ दिया, महाराणा का नहीं। इतिहासकार बदायुनी राजा मानसिंह के उन कार्यों का वर्णन—जो उसने १५७६ की हल्दीघाटी की लड़ाई में महाराणा प्रताप के विरुद्ध दिखाये थे—करते हुए लिखता है "इस्लाम की रक्षा के लिये हिन्दू ने तलवार उठाई थी।" सच तो यह है कि जिस प्रकार १८वीं और १९वीं शताब्दी में प्रधानतः

हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों के लिये हिन्दुस्तान को जीता था उसी प्रकार राजपूतों ने भारत में मुग़ल सत्ता स्थापित करने के लिये भारतीयों से युद्ध किया था। जहांगीर और शाहजहां ने मुग़ल साम्राज्य में कोई विशेष वृद्धि नहीं की थी। उन्होंने केवल मेवाड़ के राजा अमरसिंह को तथा कांगड़ा के राजा को जीता था और दक्खिन के कुछ उजड़े हुए टुकड़ों पर अधिकार कर लिया था। इस बात को तो इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं कि औरंगज़ेब ने दक्षिण को जीतने के लिये २५ वर्ष से भी अधिक प्रयत्न किया था किन्तु उसकी कट्टरता के कारण मुग़ल साम्राज्य की सीमा तो बढ़ी नहीं बल्कि उसकी मृत्यु के तीस वर्ष बाद ही मुग़ल साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर समाप्त हो गया।

मुसलमानों की भारतीय समाज में समा जाने की अनिच्छा

मुग़ल काल के आरम्भ में देश में हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रबल आन्दोलन चल रहा था। चैतन्य और नानक इस आन्दोलन के जीवित नेता थे। इन्होंने ईश्वर भक्ति पर जोर दिया और जाति भेद, मठाधीशों का अधिकार, धार्मिक सिद्धान्त, बाह्याडम्बर तथा रीतिरिवाज़ों का खण्डन किया। किन्तु मुस्लिम राजा तथा मुस्लिम जनता कोई भी इस आन्दोलन से अधिक प्रभावित नहीं हुआ और उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि राम, रहीम या ईश्वर, अल्ला एक ईश्वर के भिन्न भिन्न नाम हैं। तो भी आन्दोलन चलता रहा और अकबर के समय में हिन्दुओं ने मुसलमानों को अपने में समा लेने का नवीन प्रयत्न किया। हिन्दुओं ने अल्लोपनिषद् लिख कर सम्राट को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि वह सम्राट पूर्व जन्म में हिन्दू सन्यासी था और उसने राजा बनने के लिये प्रयाग में कठोर तप किया था। अकबर ने उस स्थान के खुदवाने की आज्ञा दी जो सन्यासी की कुटी कहा जाता था और उसमें से कमण्डल, मृगछाला, सन्यासियों के काम की अन्य वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं। हिन्दू पण्डितों ने भी दिल्लीश्वरोवा जगदीश्वरोवा की घोषणा कर दी थी और "वे अकबर में अवतार की सम्भावना करने लगे थे।" दर्शनीय ब्राह्मण तो प्रातःकाल अकबर के दर्शन किये बिना जलपान भी नहीं करते थे। दरबारी ख़ुशामदी तो डींग मारने में और भी आगे बढ़ गये थे और वे तो अकबर को सिद्ध पुरुष कहने लगे थे। किन्तु वे फिर भी मुग़लों को हिन्दू धर्म में मिलाने में सर्वथा असफल रहे।

हिन्दू मुग़लों को अपने धर्म में क्यों न मिला सके इसके अनेक कारण थे। पहला कारण यह है कि मुग़ल भी अन्य मुसलमानों की तरह केवल देश को जीतने के लिये ही नहीं आये थे अपितु उनका उद्देश्य देशवासियों को मुसलमान बनाना था। इस्लाम एक लड़ाकू धर्म है और इसके अनुयायी उत्साही धर्म प्रचारक हैं जो मुहम्मद

के संदेश को प्रचार करना अपना प्रधान कर्तव्य समझते हैं। दूसरा कारण यह है कि "इस्लाम एकेश्वरवाद में दृढ़ता से विश्वास रखता है" और अनेक देवताओं में विश्वास रखने वाले धर्म से मेल करने के सर्वथा विरुद्ध है। इस कारण अल्ला को विष्णु के अनन्त अवतारों में से एक अवतार और मुहम्मद को आत्मद्रष्टा साधु मानने पर भी मुसलमान हिन्दू धर्म में सम्मिलित नहीं किये जा सके।

तीसरा कारण यह है कि मुगल भी पहले आये हुए तुर्की और अफगानी शासकों की तरह ही विदेशी विजेता थे और वे हिन्दुओं को नीच समझ कर उनसे घृणा करते थे। उन्हें विजयी होने का घमण्ड था और वे अपने व्यक्तित्व को किसी प्रकार भी खोना नहीं चाहते थे। चौथा कारण यह है कि हिन्दू धर्म प्रचारक और उपदेशक भी उन लोगों पर सफलता प्राप्त नहीं कर सकते थे जो इस्लाम के त्याग करने वाले मुसलमान को प्राण दण्ड देते थे और उसे बहकाने वाले को भी फांसी के तख्ते पर लटका देते थे। यदि मुसलमान बना हुआ कोई हिन्दू फिर हिन्दू बनना चाहता था तो वह मुसलमानी राज्य के कानूनों के मौत के घाट उतार दिया जाता था। अकबर के शासन के उत्तरार्ध को छोड़कर सारे मुगल शासन में यह क़ानून जारी रहा। पांचवाँ कारण यह है कि सारे मुग़ल शासन काल में कोई भी व्यक्ति पैगम्बर मुहम्मद के जीवन अथवा उसकी शिक्षा के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कह सकता था। यदि कोई भी व्यक्ति पैगम्बर (सब्बअल रसूल) की शान के विरुद्ध एक भी बुरा शब्द कहता था वह मौत के घाट उतार दिया जाता था। "मुसलमान क़ानून विशारद कट्टरपन के त्याग करने वाले अथवा स्वतन्त्र विचार रखने वाले व्यक्ति को बुद्धिवादी विद्रोही तथा पैग़म्बर का अपमान करने वाला समझकर मौत का अधिकारी समझते थे।" (देखिये Sarkar, Mughul Administration, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १०१) इस कठोर के क़ानून कारण मुग़ल शासन काल में कोई व्यक्ति इस्लाम तथा उसके जन्मदाता की कोमल से कोमल आलोचना करने की बात सोच भी नहीं सकता था। छठा कारण यह है कि जब तक हिन्दू मुसलमानों में अन्तर्विवाह नहीं होते हैं तब तक दोनों का मिलकर एक हो जाना असंभव है। किन्तु इस प्रकार के विवाहों पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। मुसलमान हिन्दू लड़की को मुसलमान बनाकर ही उसके साथ विवाह कर सकता था और यदि कोई हिन्दू मुसलमान लड़की से विवाह करना चाहता था तो उसे स्वयं मुसलमान बनना पड़ता था। इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि इस्लाम अन्तर्विवाह की आज्ञा नहीं देता है। इस्लाम में मुसलमान मुसलमान का विवाह ही मान्य समझा जाता है और यदि मुसलमान लड़का या लड़की किसी दूसरी जाति के साथ विवाह करते हैं तो वे विवाह तभी मान्य समझे जाते हैं जब दूसरी जाति के व्यक्ति मुसलमान बन जाते हैं। इन परिस्थितियों में हमारे सुधारकों और प्रचारकों

ने हिन्दू मुस्लिम एकता के जो प्रयत्न किये वे निष्फल ही रहे और यदुनाथ सरकार के शब्दों में "ऐसा करना मुसलमानों में हिन्दुस्तानी भाव ज़बर्दस्ती ठूँसना था।"

मुग़ल शासन की सफलताएँ

दिल्ली के सल्तनत काल के समान ही मुग़ल साम्राज्य को एक प्रमुख सफलता यह मिली कि उसने भारत का अन्य देशों से पुनः सम्बन्ध स्थापित कर दिया जो चौल राज्य के पतन के बाद टूट गया था। दूसरे देशों के साथ सम्पर्क न रखने के कारण हमारा दृष्टिकोण बहुत ही संकीर्ण हो गया था और हमारी संस्कृति अपरिवर्तनशील बन गई थी और जनता की महत्त्वाकांक्षा मर गई थी। एशिया के अधिकांश भाग तथा अफ्रीका के साथ पुनः सम्पर्क होने के कारण जीवन के नवीन विचारों को प्राप्त कर हमने मध्ययुग के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश किया और बुखारा, समरकन्द, बलख, खुरासान, ख्वारिज़्म, फ़ारस और मलाया प्रायद्वीप के देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध फिर से स्थापित किया। भारत में मुग़ल साम्राज्य के स्थापित होने के बाद अफ़ग़ानिस्तान मुग़ल साम्राज्य का एक अंग बन गया और १७३९ तक उसी का अंग बना रहा। अब जल और थल दोनों मार्गों द्वारा अन्य देशों के साथ व्यापार होने लगा। थट्टा, बड़ौच, सूरत, चोल, राजपुर, गोआ और करवाड़ बन्दरगाहों से अरब, फारस, तुर्की, ईरान, बारबरी, अबीसीनियाँ और जंज़ीबार के साथ व्यापार सम्बन्ध स्थापित हो गया। पूर्वी समुद्री तट पर हमारे मूसलीपट्टम इत्यादि बन्दरगाहों से ईरान, सुमात्रा, जावा, श्याम और चीन को जहाज़ जाने लगे। बोलन दर्रे से कन्धार जाने के लिये मैदानी रास्ता था और वहाँ से फ़ारस जाते थे। सारे मुग़ल काल में आने जाने की पूरी छूट थी।

इसके बाद मुग़ल सम्राटों ने समस्त उत्तरी भारत और दक्षिण के अधिकांश भागों में राजनैतिक एकता स्थापित कर सारे भारत को क्रियात्मक रूप से द्वीप बनाने का प्रयत्न किया। सुदूर दक्षिण को छोड़ कर सम्पूर्ण उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के अधिकांश भागों को एक केन्द्रीय सरकार की अधीनता में रख कर उन्होंने सारे साम्राज्य में शासन व्यवस्था की एक सी प्रणाली स्थापित कर दी थी। मुग़ल साम्राज्य के बीसों प्रान्तों में एक सी शासन व्यवस्था, एक सी अदालती भाषा (फारसी), एक सी आर्थिक प्रणाली, अफ़सरों के एक से नाम और एक से ही नियम थे। अफ़सर और सेनाओं का एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को तबादला होता था तथा यात्री, व्यापारी और तीर्थ यात्री सारे देश में बे रोक टोक चले जाते थे। इन सब सुभीतों के कारण सारा देश एक हो गया था और एक प्रान्त का निवासी दूसरे प्रान्त को अपना ही घर समझता था। तीसरा कारण यह है कि मुग़ल काल में अधिकांश

सम्राट अच्छे शासक हुए जिन्होंने अपनी सुव्यवस्था से लगभग २०० वर्ष तक देश में भीतरी और बाहरी शान्ति स्थापित कर कृषि, व्यापार और उद्योग को प्रोत्साहन देकर देश का आर्थिक विकास किया था। सरकार ने बढ़िया सूती और ऊनी कपड़े, क़ालीन, छींट, सोने और चाँदी के गहने और विलासिता की अनेक वस्तुओं के बड़े बड़े कारख़ाने स्थापित कर दिये थे। अकबर की लगान प्रणाली बड़ी उदार थी और उससे किसानों की दो पीढ़ियाँ दिल्ली के सल्तनत काल की अपेक्षा अधिक प्रसन्न रही थीं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हमारे उच्चवर्ग और मध्यमवर्ग के व्यक्तियों की दशा बहुत अच्छी हो गई थी। चौथा कारण यह है कि मुग़ल और कुछ सीमा तक उनके पूर्वाधिकारी तुर्की-अफ़ग़ानी इतिहास लेखन कला की उन्नति के श्रेय भागी हैं। हिन्दुओं ने इतिहास लेखन कला की उन्नति का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। यदि उन्होंने कभी प्रयत्न किया भी तो उन्होंने घटनाओं की तिथि देने की कभी चिन्ता नहीं की। इसके विपरीत मुसलमानों ने इतिहास लिखने के लिए सरकारी प्रामाणिक लेखों को उनके दिन, महीना और साल के हिसाब से ठीक ठीक रखा। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि हिन्दुओं के विक्रम और शक इत्यादि अनेक सम्वत् हैं जो भिन्न भिन्न समयों से आरम्भ होते हैं किन्तु मुसलमानों का केवल एक हिजरी सम्वत् है। मुग़ल सम्राट इतिहास लेखकों की सहायता करते थे और इन सम्राटों में से कुछ ने अपनी आत्मकथाएँ भी लिखी हैं। इन सब का परिणाम यह हुआ कि मुग़ल काल में अनेक इतिहास और ऐतिहासिक पत्र लिखे गये। इन वस्तुओं से हमें अनेक शासन कालों की मुख्य मुख्य घटनाओं के मुख्य मुख्य ब्यौरे प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि नव-युवक भारतीय मुग़ल कालीन इतिहास की वैज्ञानिक खोज कर सके हैं। पाँचवा कारण यह है कि मुग़ल काल में दिल्ली के सल्तनत काल की अपेक्षा हिन्दू मुसलमानों के दैनिक सम्बन्धों के लिये अधिक सुविधा मिली है जिसके कारण इस काल में हिन्दू और मुसलमान इन दोनों बड़े बड़े सम्प्रदायों में सद्भावनाएँ स्थापित हो सकी हैं। देश के इतिहास में सबसे पहले इसी काल में भारतीय मुसलमानों ने हिन्दू धर्मशास्त्र और विचारों का आदर कर एवं सहानुभूति के साथ उनका अध्ययन कर उनकी फ़ारसी गद्य और पद्य में व्याख्या की है। इन लेखकों में से अबुल फ़ज़्ल, अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना और दारा शिकोह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके विपरीत इस्लाम के निकट सम्बन्ध की यह प्रतिक्रिया हुई कि हिन्दू धर्माचार्यों ने जाति बन्धनों को और भी कड़ा करके जाति की रक्षा करना आरम्भ कर दिया। किन्तु यह फिर भी इस्लाम के एकेश्वरवाद के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इसका एक प्रमुख परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म की इस्लाम धर्म के साथ समझौता करने की प्रबल इच्छा हो गई। हमारे धर्माचार्यों और सुधारकों ने धर्म के मौलिक सिद्धान्तों

पर ज़ोर देना आरम्भ कर दिया। उन्होंने बताया कि हिन्दू धर्म और इस्लाम ईश्वर प्राप्ति के भिन्न भिन्न मार्ग हैं। किन्तु हन्टर और दूसरे यूरोपीय विद्वानों की यह मिथ्या धारणा ही है कि हिन्दू धर्म में जो "मध्यकाल में एकेश्वरवाद का प्रचार और कम से कम ब्राह्मण धर्म का और जाति पांति के विरोध का जो आन्दोलन आरम्भ हुआ वह इस्लाम का ही प्रभाव था।" उच्च कोटि के हिन्दू दार्शनिकों ने आदि काल से ही ईश्वर की एकता में विश्वास रखा है और "जनता की असंख्य देवी देवताओं की उपासनाओं के साथ साथ ईश्वर को सबसे बड़ा माना है। अतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह ठीक नहीं है कि इस्लाम से हिन्दुओं को एकेश्वरवाद का उपदेश दिया था।" किन्तु इस्लाम के सम्पर्क के कारण ब्राह्मण धर्म और धार्मिक आडम्बरों के विरोध में भक्ति का जो आन्दोलन आरम्भ हुआ उस पर इस्लाम का अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा था। "इस प्रभाव ने दोनों सम्प्रदाय के भक्तों को भक्ति की उस सामान्य भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया था जिस पर खड़े होकर धार्मिक रीति रिवाज़ों, सिद्धान्तों और बाहरी आडम्बरों की उपेक्षा कर दी गई थी।" मुग़ल काल के आरम्भ में नानक, दादू और चैतन्य ने सभी लोगों को ईश्वर की एकता का उपदेश दिया तथा ब्राह्मण और मुल्लाओं के पाखण्डों का खण्डन कर धार्मिक भ्रातृत्व के प्रचार का प्रयत्न किया। इस धार्मिक भ्रातृत्व में सम्मिलित होने वाले सभी मनुष्य ईश्वर की दृष्टि में एक समझे जाते थे और वे किसी भी धर्म की कट्टर रूढ़ियों में विश्वास नहीं रखते थे। अकबर के शासन काल में उसके उदार वातावरणपूर्ण दरबार में उच्च कोटि के हिन्दू और मुसलमानों को धर्म की सामान्य भूमि पर लाने के लिए सूफ़ी धर्म का जन्म हुआ। सारे मुग़ल काल में यह पढ़े लिखे मुसलमानों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा। सूफ़ी धर्म को हम हिन्दुओं के वेदान्त की ही एक शाखा कह सकते हैं। यह आध्यात्मिक प्रेमासक्ति का धर्म था। इसके भक्त अपने को ईश्वर के समक्ष समझ कर उससे सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस सीमितता के कारण सूफ़ी धर्म उच्च कोटि के विद्वानों, दार्शनिक और रहस्यवादियों तक ही सीमित रह गया। ये लोग धार्मिक सिद्धान्तों के बन्धनों से मुक्त थे। अकबर के समय से सूफ़ी धर्म देश के विद्वानों में बड़ी तेजी से फैल गया। अकबर की उदार धार्मिक सहिष्णु नीति के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों दरबार में और शिविर में एक जगह मिल सकते थे और सूफ़ी धर्म के उपदेशक अपने शिष्यों को बिना किसी विघ्न बाधा के उपदेश दे सकते थे। सम्राट अकबर का झुकाव भी सूफी धर्म की ही ओर था और वह सूफ़ी विद्वानों की सहायता करता था। "उसके पड़पोते दारा शिकोह ने यह खुले आम घोषणा कर दी थी कि उसने वेदान्त में ही सर्वं खल्विदं ब्रह्म (तौहीद) के

सिद्धान्त को पाया है। उसने पचास उपनिषदों का फ़ारसी में अनुवाद किया और 'मज़्मुलबहरीन' अथवा 'दो समुद्रों का सम्मिश्रण' नाम की एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में फ़ारसी के विद्वान् पाठकों के लिये हिन्दुओं के अहं ब्रह्मास्मि के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है और सूफी भाषा के समानार्थी शब्द भी दे दिये गये हैं जिससे कि दोनों धर्मों के पाठकों को विषय के समझने में सहायता मिल सके।" इसी प्रकार सूफ़ी धर्म ने भी कबीर, दादू और चैतन्य के सर्व प्रिय धार्मिक पन्थ के समान हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया था।

छठी सफलता यह है कि मुग़लों ने स्थापत्य कला, चित्रकला और संगीत कला के विकास के लिए बहुत प्रयत्न किया था। उन्होंने बहुत बड़ी बड़ी इमारतें बनवाई थीं और उनके उदार संरक्षण में स्थापत्य कला की बहुत उन्नति हुई थी किन्तु हमारे हिन्दू राजाओं ने शानदार और टिकाऊ महल नहीं बनवाये थे। उन्होंने तो मन्दिर बनवाने में ही अपने धन और गुण का अपव्यय किया था। इसके विपरीत मुग़लों ने केवल मस्जिदें ही नहीं बनवाईं बल्कि महल और मक़बरे भी बनवाये और बाग़ भी लगवाये। अकबर ने इस्लामी स्थापत्य कला और देशी हिन्दू स्थापत्य कला के मिश्रण का प्रयत्न किया और इसका परिणाम यह हुआ कि स्थापत्य कला का नया रूप स्थापित हो गया जिसका नाम भारत अरबी स्थापत्य कला या मुग़ल स्थापत्य कला पड़ गया। यह कला देश में हिन्दू और मुसलमान दोनों की सम्पत्ति बन गई। यह कला उन्हीं इमारतों में अपनाई जाती थी जो सम्मान्य रूप से दोनों की होती थीं।

मुग़लों ने चित्रकला की उन्नति के लिये सबस अधिक प्रयत्न किया। वे उस चीनी कला को भारत में लाये जो फ़ारस में पसन्द आ चुकी थी। यह कला अकबर के दरबार में हमारी उस प्राचीन चित्रकला में समा गई जिसके हमें आज भी अजन्ता की गुफ़ाओं में दर्शन होते हैं। अकबर के संरक्षण में चित्रकारी का एक भारतीय राष्ट्रीय स्कूल स्थापित हुआ जिसमें चीनी और भारतीय चित्रकारी के मिश्रित रूप की शिक्षा दी जाने लगी। धीरे धीरे विदेशी प्रभाव हट गया और यह कला विशुद्ध भारतीय हो गई। जहाँगीर के शासन काल में चित्रकला उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी और तब हमारे चित्रकारों ने जीवित व्यक्तियों के चित्र खींचने में उच्च कोटि की कला का प्रदर्शन किया था। कला के इस स्कूल का आज भी प्रभाव है और यह 'भारतीय कला' या 'मुग़ल चित्रकला' के नाम से प्रसिद्ध है।

सातवीं सफलता यह है कि मुग़ल शासन काल में देश में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना हो गई थी जिसके कारण भाषा और साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। यद्यपि संस्कृत की पुस्तकें अब भी लिखी जा रही थीं किन्तु वास्तव में बारहवीं

शताब्दी के बाद संस्कृत साहित्य की उन्नति रुक गई थी। दिल्ली के सल्तनत काल में एक तो कोई संरक्षण नहीं था और दूसरे हिन्दुओं का राजनैतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक वातावरण नष्ट कर दिया गया था। इस कारण तीन सौ पचास वर्ष (१२००-१५५०) तक के काल में हिन्दू विद्वानों का मस्तिष्क बिलकुल निकम्मा हो गया था। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में परिस्थितियां बदलने लगी थीं क्योंकि इस समय देश में शान्ति और सुरक्षा स्थापित हो गई थी। अतएव हिन्दू विद्वानों और दार्शनिकों ने ग्रन्थ लिखने आरम्भ कर दिये। इस काल में संस्कृत साहित्य की तो उन्नति नहीं हुई किन्तु भाषा के साहित्य की उन्नति बड़ी तेज़ी से हुई। इस काल में हिन्दी पद्य साहित्य की विशेष उन्नति हुई। उत्तर प्रदेश में रायबरेली ज़िले में मलिक मोहम्मद जायसी नाम के प्रथम कवि इसी युग में हुए जिन्होंने मृगावत (१५०२) और पद्मावत (१५४०) नाम के दो अमर ग्रन्थ लिखे। इसके बाद अखरावत, सपनावत, कन्दरावत और मधुर मालती नाम के अमूल्य ग्रन्थों की और रचना हुई। इसके बाद उस्मान की चित्रावली, सूर की साहित्यलहरी और पुरुषोत्तम का धर्माश्वमेध लिखा गया। इसी काल में हिन्दी के अमर कवि तुलसी और सूर हुए जिनकी हिन्दी रचनाएँ हिन्दी जगत में उच्च कोटि की समझी जाती हैं। इसी काल में अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना और रसखान जैसे प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त और भी हिन्दी के सैकड़ों कवि हुए जिन्होंने हिन्दी के अमर काव्यों की रचना की। इन कवियों के नाम पिछले अध्याय में दिये जा चुके हैं। इसी काल में बंगाली भाषा के उच्च कोटि के कवि हुए जिन्होंने अपनी अमर रचनाओं से साहित्य को बहुत समृद्ध बनाया। इस काल में चैतन्य की जीवनियाँ लिखी गईं। इसमें से जयनन्द और लोचनदास के चैतन्य भागवत, चैतन्य चरितामृत और दो चैतन्य-मंगल विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वैष्णव लेखकों ने अनेक धार्मिक ग्रन्थों की रचना की।

मुगल सम्राटों तथा उनके सरदारों के संरक्षण के कारण फ़ारसी साहित्य की बहुत उन्नति हुई। कुरान के भाष्य और दूसरे धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त इतिहास तथा अन्य उपयोगी विषयों के अनेक उत्तम उत्तम ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों के लेखक कुछ तो भारतीय थे किन्तु फ़ारसी साहित्य के अधिकतर लेखक विदेशी फ़ारसी थे जो अकबर के दरबार में नौकर हो गये थे। फ़ारसी का अधिकतर साहित्य और विशेषकर पद्य साहित्य बहुत अच्छा साहित्य नहीं है क्योंकि इसमें सम्राट और शाही दरबार की बेढङ्गी और बेतुकी खुशामद लिखी गई है।

विदेशी मुसलमान और देशी हिन्दुओं के सम्पर्क में आ जाने से पन्द्रहवीं शताब्दी में उर्दू का जन्म हुआ। यह लोक भाषा बन गई किन्तु मुगलों ने अठारहवीं

शताब्दी के तृतीयांश तक इसको कोई संरक्षण नहीं दिया। इसका कारण यह है कि फ़ारसी अदालती भाषा और सभ्य समाज की भाषा बनी हुई थी, मुग़ल सम्राट और सरदार उर्दू से घृणा करते थे। उर्दू दक्षिण में रेख़्ता नाम से प्रसिद्ध थी और स्थानीय सुल्तानों का संरक्षण पा कर सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इस भाषा के अनेक कवि हो गये थे। औरंगाबाद के वलि का नाम इनमें उल्लेखनीय है। यह कवि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में विद्यमान थे।

आठवीं सफलता यह है कि मुग़ल काल में मुसलमानों के रीति रिवाज़ और रहन सहन का हिन्दुओं के रीति रिवाज़ और रहन सहन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। यद्यपि सल्तनत काल में हिन्दू और मुसलमान तीन सौ वर्ष से अधिक साथ साथ रहे थे किन्तु उस युग में हमारे रीति रिवाज़ और रहन सहन पर नये आए हुए मुसलमानों का प्रभाव बहुत अधिक नहीं पड़ा था। किन्तु मुग़ल सभ्य और संस्कृत थे और इनके जीवन का स्तर बहुत ऊंचा था, इस कारण उनकी वेषभूषा, रहन सहन, भाषा और बर्त्ताव का प्रभाव उच्च वर्ग के तथा मध्यम वर्ग के हिन्दुओं पर विशेष रूप से पड़ा था क्योंकि ये ही लोग मुसलमानों के सम्पर्क में आए थे। साधारण वर्ग मुसलमानों के सम्पर्क में नहीं आया था अतएव उस पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हमारे अनेक खेल और मनोरंजन के ढंग और नाम मुसलमानी पड़ गये। यह बात जानवरों का शिकार, चिड़ियों का शिकार, पोलो, शतरंज और दूसरे खेलों के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। हमारी भाषा और लेख का ढंग भी मुसलमानों के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। हमारे शब्द भण्डार में फ़ारसी, अरबी और तुर्की के बहुत से शब्द मिल गये और वे हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी और दूसरी भाषाओं में अब भी पाये जाते हैं। हिन्दू जब फ़ारसी की किताब लिखते थे तब वे प्राय: मुसलमानों की तरह 'बिसमिल्लाह अल रहमान अल रहीम' से प्रारंभ करते थे। मुसलमानों की लेखन शैली के अनुसार ही हिन्दू लेखक भी ईश्वर की, पैग़म्बर मोहम्मद और इमामों की प्रशंसा में कुछ लिखने के बाद ही अपने विषय का आरम्भ करते थे। अकबर के शासन काल में फ़ारसी ही अदालती भाषा थी। अतएव सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में मध्यवर्ग के अनेक हिन्दुओं ने अपने धार्मिक ग्रन्थों को भी फ़ारसी के द्वारा ही पढ़ा और उनमें से कुछ तो इन्हीं का नित्य पाठ किया करते थे। ग्रामीण लोग भी मुस्लिम भाषा के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। उदाहरण के लिये क़ानून सम्बन्धी फ़ारसी की शब्दावली जैसे कि दस्तावेज़, मुद्दई, मुद्दालेह, बयनामा, रहननामा इत्यादि शब्दों का गांवों में हिन्दू और मुसलमान आज तक प्रयोग करते हैं।

नवीं सफलता यह है कि मुग़लों ने युद्ध कला की बहुत उन्नति की थी। जब बाबर हमारे देश में आया था तब उसने देखा था कि यहां पर युद्ध के वे ही पुराने तरीक़े प्रचलित थे जिनके अनुसार सेना युद्ध क्षेत्र में परम्परागत ढंग से चार भागों में बांटी जाती थी और उत्तर भारत में तोपख़ाने का तो कोई नाम भी नहीं जानता था। बाबर तुर्कियों, मंगोलियों, फ़ारसियों और उज़बेगों से तोपख़ाने का प्रयोग तथा युद्ध के दावपेच सीख कर आया था और उसने इन्हीं दावपेचों और तोपख़ाने के प्रयोग को भारत के युद्ध स्थलों में अपनाना आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त एक बात यह और थी कि मुग़लों के पास हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक सेना थी और इनके सैनिकों को बिना किसी चूँ चपड़ के अपने प्रधान सेनापति की आज्ञा माननी पड़ती थी। छोटी छोटी सेनाओं को नियन्त्रण में रखने की अपेक्षा बड़ी सेना को नियन्त्रण में रखना कठिन काम है। इसलिये प्रधान सेनापति को प्रबन्ध इत्यादि के कार्य में अधिक कुशल होना आवश्यक हो गया था। मुग़लों ने उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त को सुरक्षित कर सुरक्षा की प्रणाली को और भी उन्नत कर लिया था। उन्होंने सुरक्षा के लिये बड़े बड़े किले और गढ़ बनवाये थे। हिन्दू युद्धभूमि में हाथियों को बहुत महत्व देते थे किन्तु मुग़ल हाथियों को महत्व न देकर घुड़सवारों को अधिक महत्व देने लगे थे। वे युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये नये नये दांवपेचों के साथ छलपूर्ण आक्रमण करते थे और आवश्यकता पड़ने पर कूटनीति का भी प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त राजपूत युद्धक्षेत्र को क्रीड़ाक्षेत्र समझते थे और धर्म युद्ध के लिये सब कुछ बलिदान करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहते थे।

दसवीं सफलता यह है कि मुग़ल शासन व्यवस्था में सारी शक्ति सम्राट के हाथ में रहती थी और यह शक्ति अत्यन्त सुगठित रहती थी। मुग़लों के दरबारी शिष्टाचार, वेशभूषा और अदब का जनता पर ऐसा चमत्कारपूर्ण प्रभाव पड़ा कि अर्ध स्वतन्त्र राजाओं ने भी उनको अपना लिया और वे भारतीय जीवन के अंग बन गये। मुग़ल सुन्दर वस्त्र, विलास की वस्तु, स्वादिष्ट पदार्थ, चीनी के नये नये बर्तन, सुगन्ध, संगीत और नाच के शौक़ीन थे और उनकी देखादेखी उच्च वर्ग के हिन्दुओं ने भी उन्हें अपनाना आरम्भ कर दिया। देश के उच्च कोटि के हिन्दू परिवार तो मुग़ल सम्राटों की ही नक़ल करने लग गये।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के कारण

मुग़ल साम्राज्य के पतन का सबसे प्रथम और सर्व प्रमुख कारण यह था कि बाद के मुग़ल सम्राटों के चरित्र का धीरे धीरे पतन होने लगा था। मुग़ल सरकार केन्द्रित तो थी किन्तु वह अत्यन्त नियन्त्रणहीन भी थी। इस प्रकार की सरकार में

शासन की सफलता या विफलता शासक के व्यक्तित्व और चरित्र पर ही निर्भर रहती है। यदि वह योग्य और चरित्रवान् होता है तो सरकार अच्छी तरह चलती है और यदि वह निकम्मा होता है तो उसके निकम्मेपन का प्रभाव सरकार के सभी विभागों पर पड़ता है और हर विभाग का प्रबन्ध अस्त व्यस्त हो जाता है। पहले छै मुग़ल सम्राट योग्य और चरित्रवान् थे। किन्तु औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों में बहादुर प्रथम से लेकर बहादुर द्वितीय तक जितने सम्राट हुए वे नाम मात्र के ही सम्राट थे। इनमें न योग्यता थी और न दृढ़ इच्छा शक्ति। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों के निकम्मे रहने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ उस पर ही है। औरंगज़ेब ने बड़ी लम्बी आयु पाई थी जिसके कारण उसका द्वितीय पुत्र बासठ वर्ष की आयु में ही गद्दी पर बैठ पाया था। इसी प्रकार उसका पोता भी इक्यावन वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठ सका था। इस आयु में इन दोनों में न तो शक्ति रह गई थी और न महत्वाकांक्षा। इसके अतिरिक्त एक कारण और है कि औरंगज़ेब इतना अधिक शक्की था कि उसने अपने दो पुत्रों को जेल में डाल दिया था। वहाँ पर भी उनके चारों ओर उनके षड्यन्त्र और छल कपट के जानने के लिये उसने गुप्तचर लगा दिये थे जो उनकी गतिविधि से उसे अवगत कराते रहते थे। इन दोनों कारणों से औरंगज़ेब के पुत्रों में न तो किसी महत्वपूर्ण काम करने की योग्यता आ पाई और न उनकी साहसिक कार्य करने की हिम्मत ही बढ़ी और न वे अपने उत्तरदायित्व को ही समझ सके। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों ने तो शाहज़ादों को और भी निकम्मा बना दिया। ये लोग इन्हें दरबार में ही रखते थे और इन्हें शासन व्यवस्था का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करने का, कूटनीति के प्रयोग का अथवा सुदूर प्रान्तों में जा कर युद्ध करने का कोई अवसर ही नहीं देते थे। इन कारणों से मुग़ल साम्राज्य की दशा बड़ी शीघ्रता से उत्तरोत्तर बिगड़ती चली गई। इसका परिणाम यह हुआ कि मुग़ल शाहज़ादे अपने सरदारों की कठपुतली मात्र रह गये। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम को तो लोग "मस्त राजा" ही कहा करते थे। उसका उत्तराधिकारी जहाँदार-शाह दुर्व्यसनी और मूर्ख था। फ़र्रुखसियर के समान तो मुग़ल वंश में कोई डरपोक हुआ ही नहीं था और मुहम्मदशाह "रंगीले' नाम से प्रसिद्ध हो गया था। अहमद शाह और उसके उत्तराधिकारी तो अपने स्वार्थी और मस्त मन्त्रियों के हाथ की कठपुतली मात्र ही थे। ये शहज़ादे तो इतने निकम्मे थे कि अपना ही प्रबन्ध नहीं कर सकते थे, फिर भला साम्राज्य का क्या प्रबन्ध करते।

मुग़ल साम्राज्य के पतन का दूसरा कारण मुग़ल सरदारों का चरित्र-हीन होना भी था। अकबर, जहांगीर और शाहजहां के इतिहास के बनाने वाले

बैराम ख़ां और मुनीम ख़ां, मुज़फ़्फ़र ख़ां और रहीम ख़ानख़ाना, एतमादुद्दौला और महाबत ख़ां तथा आसफ ख़ां और सादुल्ला ख़ां थे। किन्तु बाद के मुग़ल सम्राटों की चरित्रहीनता के कारण उनके सरदारों के चरित्र का भी पतन हो गया। विदेशी मुसलमानों ने भारत का धन लूट कर ख़ूब मौज की थी अतः ये विलासी और आलसी बन गये थे और हरम में अनेक स्त्रियों के रहने के कारण तो ये और भी विलासी बन गये थे। इन कारणों से इनका चरित्र गिर गया था और इनमें किसी भी साहस के कार्य करने की शक्ति शेष नहीं रह गई थी। परिणाम यह हुआ कि शासकों की शारीरिक, चारित्रिक और मानसिक शक्ति का बिलकुल क्षय हो गया था। सर यदुनाथ सरकार ने ठीक ही लिखा है कि इस प्रकार के पतन के कारण इन मुग़ल सम्राटों के परिवार में मुश्किल से कोई ऐसा रह गया था जो अपने पद के गौरव को एक या दो पीढ़ी से अधिक रख सका था। मासिरुल-उमरा ने लिखा है कि "यदि मुग़ल वंश के किसी सरदार की सफलताओं का वर्णन ३ पृष्ठ में आता था तो उसके लड़के का वर्णन एक ही पृष्ठ में आता था और उसके पोते का वर्णन तो कुछ ही पंक्तियों में समाप्त हो जाता था अर्थात् उसका वर्णन तो ऐसा होता ही न था कि उसका लेखा रखा जाय।" तुर्की, अफ़ग़ानी, फ़ारसी और मध्य एशिया के दूसरे मुसलमान भारत में विदेशी थे और इन्हें इस देश से कोई सहानुभूति नहीं थी, अतः इनके चरित्र का पतन हो जाना स्वाभाविक ही था। हमको यह नहीं भूलना चाहिये कि तुर्की और अफ़ग़ानी फ़ौजी आदमी थे और इन पर जब युद्ध का काम नहीं रहता था तब इनके चरित्र का पतन हो जाता था। इसके अतिरिक्त जब सम्राट विवेक-शून्य हो कर सरदारों का आदर नहीं करने लगे थे, तब उनमें साम्राज्य के लिए मर मिटने की लालसा बहुत कम रह गई थी।

मुग़ल साम्राज्य के पतन का तीसरा कारण यह था कि मुग़लों की सेना भी निकम्मी हो गई थी। मुग़ल सेना के निकम्मे होने का कारण यह था कि उसका मौलिक संगठन दोषपूर्ण था। इसकी अलग अलग टुकड़ियाँ अलग-अलग अफसरों द्वारा भरती की जाती थीं और वे ही उनकी देख रेख करते थे। सेना की देख रेख के लिए इन लोगों के लिए अच्छे लगान की भूमि नाम कर दी गई थी। सिपाहियों को शाही ख़ज़ाने से वेतन नहीं मिलता था बल्कि मनसबदार ही उन्हें वेतन देते थे। अतः प्रत्येक सिपाही मनसबदार को अपना सरदार समझता था, अफ़सर नहीं। सेनापति या मनसबदार से वेतन प्राप्त करने के कारण सम्राट और सिपाही में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। परम्परा से चली आई हुई यह दोषपूर्ण सैनिक प्रणाली औरंगज़ेब और उसके उत्तराधिकारियों में भी चलती रही। बाद के मुग़ल सम्राटों के अधिकार धीरे धीरे ढीले पड़ते गये। अतः साम्राज्य के बड़े बड़े सरदार और

अफ़सरों के नाम सेना की देख रेख के लिए वंशपरम्परा से जो भूमि लगी हुई थी, वह उनकी मौरूसी सम्पत्ति हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्राट की कोई सुदृढ़ सेना नहीं रह गयी जिस पर वह अपना अधिकार रख सकता था। शाही अधिकारों के ढीले पड़ जाने के कारण भी मनसबदार एक दूसरे से ऐसी ईर्ष्या रखने लगे थे कि यदि उन्हें मालूम हो जाता था कि विजय का श्रेय दूसरे मनसबदार को भी प्राप्त होगा तो वे तीन चौथाई जीते हुए युद्ध को या घेरे को सफल नहीं होने देते थे। इसके अतिरिक्त एक बात और भी थी कि सत्रहवीं शताब्दी के चतुर्थांश में मुग़ल अफसरों की यह आदत पड़ गयी थी कि वे साम्राज्य के विरुद्ध शत्रु से पत्र-व्यवहार करने लग गये थे। एक कारण यह भी था कि सम्राट और मीरबख़्शी स्वयं हीन और चरित्रहीन हो गये थे। इस कारण वे सेना में किसी भी प्रकार का अनुशासन नहीं रख पाते थे। परिणाम यह हुआ कि शस्त्रों से सुसज्जित सारी सेना केवल भेड़ों के झुंड के समान ही बन गई थी। फौजी अपराधों को तो औरंगज़ेब तक क्षमा कर देता था और नौकरी से अनुपस्थित रहने पर भी किसी प्रकार का दण्ड नहीं देता था। इन सब कारणों का परिणाम यह हुआ कि जिस मुग़ल सेना ने देश के आख़िरी कोने तक ही नहीं बल्कि मध्य एशिया की ऑक्सस और हेलमण्ड नदियों के परे मुग़ल झण्डा फहराया था, वे अब हमला करने में बिल्कुल असहाय हो गई थीं।

मुग़ल साम्राज्य के पतन का एक प्रमुख कारण यह भी था कि मुग़ल सरकार बिल्कुल दिवालिया हो गई थी। अकबर ने जिस पक्षपातहीन धार्मिक प्रणाली की स्थापना की थी उससे देश समृद्ध हो गया था, सरकार की आय बढ़ गई थी और जनता सुख सुविधा के साथ जीवन व्यतीत करने लगी थी। किन्तु उसके उत्तराधिकारयों के शासन काल में आर्थिक ढाँचा बिल्कुल बिगड़ने लग गया था। सरकार ने उत्पादकों पर कर का इतना बोझा लाद दिया था कि उससे वे बिल्कुल दब गये थे। दरबार अनुपयोगी उत्पादनों के इनाम में बहुत अधिक रुपया ख़र्च करने लगा था। अकबर के शासन काल में भूमि का लगान किसानों से सीधा लिया जाता था किन्तु उसके पुत्र और पौत्र के शासन काल में यह पद्धति हटा दी गई। औरंगज़ेब तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में तो इस प्रथा को लगभग समाप्त कर इसके स्थान पर ठेकेदारी प्रथा जारी कर दी गई। इसका परिणाम यह हुआ कि किसानों को लगान बहुत अधिक देना पड़ता था और उनके पास खाने पहनने को बहुत कम रह जाता था। अतः किसानों में खेती करने के लिए कोई उत्साह बाकी न रह गया और शाहजहाँ के शासन काल में तो यह दशा प्रत्यक्ष दिखाई

देने लग गई। विलियम फॉस्टर लिखता है "उस काल के सभी लेखकों ने शाहजहाँ के दरबार के वैभव, शासन की उदारता और उसकी निजी सर्वप्रियता की खूब प्रशंसा की है, किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने उन विनाशकारी तथ्यों को भी नहीं छिपाया है जो इस वैभव में समाये हुए थे। देश की आय के साधनों को देखते हुए दरबार की यह फिजूलख़र्ची देश को रसातल ले जा रही थी। अफ़सरों की धन लिप्सा तथा मुग़ल राज्यपालों के अत्याचारों तथा उनकी मौजों ने जनता की विपत्ति को और भी बढ़ा दिया था। अब जनता के पास अपनी विपत्तियों को दूर करने का कोई साधन बाक़ी नहीं रह गया था।" (English Fectories in India १६५५—६०, पृष्ठ १–२), शाहजहाँ ने भूमि का लगान बढ़ा कर उपज का आधा कर दिया था और यह लगान ज्यों ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों पैदावार घटती गई। किसान अपने खेतों को छोड़ने लगे। किन्तु उन पर खेती करने के लिये दबाव डाला गया। औरंगज़ेब और उसके उत्तराधिकारियों के शासन काल में मुग़ल सरकार धीरे धीरे दिवालिया होने लगी क्यों कि इन लोगों को गद्दी प्राप्त कर उसे सुरक्षित बनाए रखना पड़ता था, अतः गद्दी के लिए जो लड़ाइयाँ लड़ी गईं उनमें सरकार का बहुत अधिक व्यय हो गया था। आलमगीर द्वितीय के शासन काल में साम्राज्य का आर्थिक ढाँचा बिलकुल बिगड़ गया। सम्राट भूखों मरने लगा और शाही परिवार के जेब ख़र्च को भी मन मौजी वज़ीर इमादुलमुल्क हड़प जाने लगा। राज्याभिषेक के डेढ़ महीने बाद ही आलमगीर द्वितीय के पास कोई ऐसी अच्छी सवारी नहीं रही जिस पर चढ़ कर वह जुलूस के रूप में ईदगाह तक चला जाता। अतः उसे अपने ज़नानख़ाने से किले की सफेद संगमरमर वाली मस्जिद तक पैदल ही जाना पड़ता था। इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं—एक बार तो तीन दिन तक ज़नानख़ाने के रसोई घर में चूल्हा तक नहीं जला था और एक दिन "जब शाहज़ादियाँ भूख की ज्वाला से तड़प गई थीं तब वे पर्दे की कट्टर प्रथा को तोड़ कर महल से नगर की ओर दौड़ पड़ी थीं किन्तु किले के दरवाज़ों के बन्द होने के कारण वे सारे दिन और सारी रात चौकीदार की कोठरी में बैठी रहीं और वहाँ से ज़बरदस्ती अपने अपने कमरों में भेजी गईं।" (Fall of the Mughul Empire, जिल्द २, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २७)। यह घटना १७५५ में घटी थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह दिवालिया मुग़ल सरकार भी पचास वर्ष तक और चलती रही।

पाँचवाँ कारण यह है कि औरंगज़ेब की धार्मिक नीति बड़ी मूर्खतापूर्ण थी। औरंगज़ेब देश के बहुसंख्यक हिन्दुओं के साथ धार्मिक अत्याचार करता था। उसके इन अत्याचारों के कारण मुग़ल वंश का बड़ी तेज़ी के साथ पतन हो गया। अकबर

ने हिन्दुओं के साथ धार्मिक उदारता की नीति बरती थी और उसने बिना किसी जाति भेद भाव के बुद्धिमानों को उन्नति करने का मौक़ा दिया था, अत: हिन्दू उसके पक्ष में हो गये थे। उसने हिन्दुओं को और विशेषकर राजपूतों को अपने साम्राज्य का विश्वसनीय रक्षक समझ लिया था। राजपूतों ने उसके तथा उसके तीन तत्कालीन उत्तराधिकारियों के शासन काल में मुग़ल झण्डे को भारत द्वीप के अन्तिम कोने तथा मध्य एशिया के मध्य तक फहराया था। किन्तु औरंगज़ेब ने हिन्दुओं पर घृणित ज़ज़िया कर लगा दिया था, राजपूतों का विश्वास नहीं किया था और मारवाड़ की गद्दी के उत्तराधिकारी को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया था। अत: राजपूत औरंगज़ेब के इस व्यवहार से क्रुद्ध हो गये थे और उन्होंने इस मुग़ल अत्याचारी से बदला लेने का पक्का विचार कर लिया था। राठौर और सिसौदिया साम्राज्य के पतन काल तक उसके विरोधी ही बने रहे। बुन्देले और सिक्खों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। जाटों ने सबसे पहले धार्मिक नीति का बदला लिया। उन्होंने मथुरा के उस ज़िले अफ़सर पर हमला कर दिया जिसने पवित्र हिन्दू मन्दिर की जगह अब्दुलनवीस मस्जिद बनवाई थी और अनेक हिन्दू कन्याओं का अपहरण किया था। बीच में कुछ कुछ दिन छोड़ कर जाट मुग़लों के साम्राज्य की सीमा के आस-पास सदा ही विद्रोह करते रहे और उनका यह विद्रोह भरतपुर के स्वतन्त्र जाट साम्राज्य के स्थापित हो जाने पर भी शान्त नहीं हुआ। औरंगज़ेब ने सिक्खों के नवें गुरु तेग बहादुर की निर्दयतापूर्वक हत्या की थी। इस कारण सिक्खों ने भी गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में मुग़ल साम्राज्य का तख़्ता उलट देने की प्रतिज्ञा कर ली थी। गुरु गोविन्दसिंह ने प्रसिद्ध खालसा मत की स्थापना करके अपने अनुयायियों को सैनिक जाति का बना दिया था और औरंगज़ेब के वंश के पतन का यह भी एक प्रमुख कारण बन गया।

छठा कारण यह था कि औरंगज़ेब इस्लाम धर्म के फिरकों को नष्ट करना चाहता था, अत: वह शिया मुसलमानों के साथ भी हिन्दुओं जैसा ही अत्याचार करने लगा। शिया लोगों का विश्वास है कि अली ही सच्चा ख़लीफ़ा है। उनके इस विश्वास के कारण औरंगज़ेब शियाओं से द्वेष रखता था। अत: यह हठधर्मी सम्राट शियाओं के साथ सरकारी नौकरी देने में भेद भाव ही नहीं रखता था बल्कि उसने तो उनकी शिक्षाओं, उनके स्कूलों और उनके धार्मिक व्यवहारों को भी नष्ट करवा दिया था। फ़ारसी के शिया बड़े विद्वान्, अच्छे सैनिक और बड़े अच्छे प्रबन्धक होते थे और आर्थिक विषयों के तो वे पूर्ण पण्डित ही थे। इन शिया विद्वानों ने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन काल में अपनी बुद्धि का अच्छा परिचय दिया था। किन्तु अब उन्होंने समझ लिया था कि हठी सुन्नी औरंगज़ेब को उनकी ज़रूरत नहीं है, अतः

उन्होंने नौकरी के लिए भारत के मुग़ल साम्राज्य में आना बन्द कर दिया था। शिया युद्ध और नागरिक शासन व्यवस्था में अत्यन्त कुशल थे किन्तु अब उन्हें औरंगज़ेब के शासन काल में अत्याचार सहने पड़ रहे थे। जब कभी शिया और सुन्नियों का झगड़ा होता था तब सम्राट खुले आम सुन्नियों का पक्ष लेता था। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया से शिया विद्वानों का आना ही बन्द नहीं हो गया बल्कि संरक्षण के अभाव में एवं अत्याचार के कारण हिन्दुस्तान के शिया विद्वानों की विद्वत्ता का ह्रास होने लगा।

सातवाँ कारण यह था कि औरंगज़ेब की दक्षिण नीति के कारण उसके सबसे अच्छे सिपाही और सेनापति युद्ध में मारे गये थे जिसके कारण मुग़ल अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर न प्राप्त कर सके। यह प्रतिष्ठा की हानि औरंगज़ेब के पतन का एक प्रमुख कारण बन गई। औरंगज़ेब ने शियाओं के बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों को नष्ट कर दिया और उसने मराठों से उस विनाशकारी लड़ाई को मोल ले लिया जो उसके जीवन में कभी भी समाप्त नहीं हो सकी। औरंगज़ेब की इस नीति के कारण साहसी मराठों को आत्म रक्षा के लिए युद्ध करना पड़ा था और जब उन्हें सफलता मिलती गई तब उन्होंने हमले करना भी आरम्भ कर दिया। उन्होंने नर्मदा पार कर उत्तरी भारत में अनेक मुग़ल प्रान्तों पर हमले आरम्भ कर दिये। औरंगज़ेब की धार्मिक अत्याचार की नीति के कारण हिन्दू पहले से ही नाराज़ थे और साम्राज्य के हिन्दू अफ़सर और सामन्त या तो तटस्थ थे और या फिर चुपके चुपके ही मुग़ल सम्राज्य का विरोध कर रहे थे। मराठों को यह अत्यन्त अनुकूल अवसर मिल गया। मराठों ने राजपूत, बुन्देले और दूसरे हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को उभारा और वे चुपके चुपके बाजीराव से उस समय जा मिले जब वह मृतप्राय मुग़ल साम्राज्य की कमर तोड़ने को चल पड़ा था। उसे विश्वास था कि मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद मुग़ल वंश के प्रान्तीय स्वतन्त्र राज्यों का स्वयं पतन हो जायगा। इस प्रकार औरंगज़ेब की मृत्यु के ३१ वर्ष के भीतर ही उसके उत्तराधिकारियों को सिक्ख, जाट, बुन्देले, राठौर, कछवाहे और सिसौदियों से युद्ध करना पड़ा और "कोई भी हिन्दू योद्धा जाति मुग़लों के पक्ष में नहीं रह गई थी।" सर यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि "हिन्दू बाद के मुग़ल सम्राटों के स्वामिभक्त न रह कर खुले रूप में उनके शत्रु बन गये। इन कारणों से सम्राट को उनके विरुद्ध एक बड़ी सेना उस समय भेजनी पड़ी जबकि साम्राज्य पर विदेशी ख़तरे के बादल मँडरा रहे थे।" (Later Mughals, जिल्द २, पृष्ठ ३१०)।

आठवाँ कारण यह है कि जिस समय बाद के मुग़ल सम्राटों को बाहरी और भीतरी ख़तरों का सामना करना पड़ रहा था उस समय मुग़ल दरबार में अलग अलग

दल बन गये थे, जिससे सरकार की ठोस शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। इसी कारण मुग़ल साम्राज्य का पतन हो गया। जिस समय नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली इत्यादि विदेशियों का बाहरी हमला और जाट, सिक्ख व मराठों का भीतरी हमला हुआ, उस समय मुस्लिम सरदारों से यह आशा की जाती थी कि वे एक होकर संगठित शक्ति का परिचय देंगे किन्तु दुर्बल और दुराचारी सम्राट के शासन में यह बातें असम्भव हो गईं। सम्राट में नेतागीरी की योग्यता का सर्वथा अभाव था। अतः दरबारी दरबार में केवल नियन्त्रण रखने वाले अधिकारी मात्र रह गये थे। बाद के मुग़ल सम्राटों के दरबार में जो सरदार थे वे दो मुख्य भागों में बँटे हुए थे। उनमें से एक का नाम तुरानी या मध्य एशियाई पार्टी था और दूसरी ईरानी या फ़ारसी पार्टी थी। तुरानी सुन्नी और ईरानी शिया थे। नादिरशाह के हमले के समय तुरानी पार्टी के मुख्य नेता आसफ़शाह निज़ामुलमुल्क और क़मरुद्दीन ख़ाँ थे। लोग फ़ारसी पार्टी से शत्रुता रखते थे। उस समय फ़ारसी पार्टी के नेता अमीर ख़ाँ, इशाक़ ख़ाँ और सआदत ख़ाँ बुरहानुलमुल्क थे। ये लोग एक दूसरे के ऐसे ज़ाती दुश्मन थे कि आपसी झगड़ों के कारण साम्राज्य के हित को भी भूल जाते थे। "प्रत्येक पार्टी एक दूसरे के विरुद्ध सम्राट के कान भरा करती थी, षड्यन्त्र रचा करती थी और उसके असन्तुष्ट नौकरों को भड़काया करती थी तथा दरबार के बाहर एक दूसरे का डट कर विरोध किया करती थी। इस द्वेष के कारण सम्राट की पूरी शक्ति भी विद्रोहियों को नहीं दबा सकती थी क्योंकि विद्रोही दरबार के विरोधी दल के नेताओं की सहानुभूति सरलता से प्राप्त कर लिया करते थे।"

नवाँ कारण था अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मुस्लिम जाति, मुग़ल सरदार और मध्यवर्ग की जनता की बुद्धि का दिवाला निकल जाना। उस समय उनमें निराशा के बादल छा गये थ और उनकी सारी चेतनता नष्ट हो गई थी। निज़ामुल मुल्क को छोड़ कर मुग़लों में ऐसा योग्य और दूरदर्शी कोई भी नेता नहीं था जो सुविचारपूर्ण योजना बना कर मुसलमानों में फिर से जीवन शक्ति का संचार करता। निज़ामुल मुल्क भी बिलकुल स्वार्थी और विश्वासघाती सरदार था। वह दक्खिन में नियमपूर्वक राजा बनना चाहता था, अतः यह मुग़ल प्रदेशों पर आक्रमण करने के लिए मराठों को बढ़ावा देता रहा। इसका कारण था मुग़ल शासन काल में भारत में शिक्षा का न होना। यदि शिक्षा होती तो जनता का मस्तिष्क और भावनाएँ ठीक ठीक होतीं और इसी शिक्षा के कारण उनमें नेता के गुण आ जाते और वे अपने इन गुणों से अनेक क्षेत्रों में कार्य करने के लिए उचित व्यक्ति चुन लेते। शिक्षा की उत्तम प्रणाली के अभाव के कारण अठारहवीं शताब्दी में मुग़लों में कोई अच्छा राजनैतिक नेता नहीं

हुआ "जो देश को जीवन की नई दार्शनिकता सिखाता या पृथ्वी पर दूसरा स्वर्ग बनाने के लिए नया उत्साह भरता। मुग़ल सरदार अपने पूर्वजों की बुद्धिमानी की बड़ी प्रशंसा करते थे और आजकल के सरदारों की चरित्रहीनता पर बहुत कुढ़ा करते थे।"

१७५० के बाद मुग़ल साम्राज्यशाही फ़ारसी को अपनी मातृभाषा नहीं रख सकी किन्तु उन्होंने उर्दू या किसी दूसरी भारतीय भाषा को अपनी साहित्य-भाषा नहीं बनाया। वे घर और घर के बाहर तो उर्दू बोलते थे किन्तु उनकी दरबारी भाषा फ़ारसी ही थी। दरबार की फ़ारसी भाषा होने के कारण बहुत से सभ्य और संस्कृत परिवार भी फ़ारसी का ही प्रयोग करते थे। भाषा के इस प्रकार के प्रयोग के कारण मुसलमान जनता का और विशेष कर मुग़ल साम्राज्यशाही का साहित्यिक दिवाला निकल गया।

दसवाँ कारण यह है कि मुग़ल सरकार सदैव पुलिस सरकार बनी रही। अकबर के शासन काल को छोड़ कर मुग़ल सरकार ने अपने दो ही कर्तव्य समझे थे; देश में भीतरी और बाहरी शान्ति सुरक्षा रखना और लगान वसूल करना। किन्तु जब सरकार निकम्मी हो गई और देश की बाहरी और भीतरी सुरक्षा न रख सकी तब वह सरकार कहलाने के योग्य ही नहीं रही। जो सरकार विद्रोहों को दबाने में और विदेशी आक्रमणों से जनता को बचाने में असफल हो गई, जनता ने भी उस सरकार की अवहेलना शुरू कर दी। महत्वाकांक्षी प्रान्तीय राज्यपालों ने सरकार की इस दुर्बल अवस्था का लाभ उठा कर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिए। मुहम्मदशाह के शासन काल के आरम्भ में निज़ामुलमुल्क दक्खिन के ६ सूबों का स्वतन्त्र शासक बन गया। सआदत ख़ां बुरहानुल मुल्क ने अवध में और अलीवर्दी ख़ाँ ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में दिल्ली सरकार की अवहेलना करके अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। मराठों ने तो इससे बहुत पहले अपनी स्वतन्त्रता स्थापित कर ली थी। इसके बाद तो उन्होंने मुग़लों के मालवा, बुन्देलखण्ड और गुजरात प्रान्तों पर भी अधिकार जमा लिया और इसके बाद वे सारे देश पर ही अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे।

ग्यारहवाँ कारण यह है कि मुग़ल साम्राज्य की जो भी बची-खुची शक्ति, धन और प्रतिष्ठा थी उसको नादिरशाह ने १७३९ में देश पर आक्रमण करके ऐसा नष्ट कर दिया जिसकी पूर्ति फिर कभी न हो सकी। उसने मुहम्मदशाह को हराया, दिल्ली में क़त्ले-आम किया और लगभग सत्तर करोड़ के प्रसिद्ध मयूर सिंहासन के साथ साथ देश का बहुत सा धन लूट कर ले गया। उसने अफ़ग़ानिस्तान प्रान्त को साम्राज्य से अलग कर दिया और मुग़ल सम्राट मुहम्मदशाह का बड़ा अनादर

किया। उसके सेनापति अहमदशाह अब्दाली ने भी सात बार इसी प्रकार हमला किया। यही अब्दाली नादिरशाह को मार कर क़ाबुल का राजा बन गया था। इस खूँख्वार अफ़ग़ानी ने देश में खून की अनेक बार नदियाँ बहा कर मुग़ल साम्राज्य को बिलकुल नष्ट कर दिया।

बारहवाँ कारण है देश में अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना। यह कम्पनी व्यापारी संगठन न रह कर देशों को जीत कर देश पर शासन करने के सुनहरी स्वप्न देखने लगी और कम्पनी की यही महत्वाकांक्षा मुग़ल साम्राज्य के विनाश का कारण बन गई। जहां तक सैनिक दांव-पेच और अस्त्रों-शस्त्रों का प्रश्न है, मुग़ल सेना अँग्रेज़ी सेना से हीन थी, अतः वह देश में शान्ति स्थापित नहीं रख सकी। बाबर के समय मुग़लों के पूर्वजों ने उत्तम सैनिक शिक्षा का लाभ उठा कर ही भारत को जीता था क्योंकि उस समय हमारे सैनिक उन दांव-पेचों को नहीं जानते थे। अँग्रेज़ों ने नए प्रकार के हथियारों, नये प्रकार की युद्ध प्रणाली और सैनिक शिक्षा और अनुशासन से मुग़लों को अठारहवीं शताब्दी में इसी रूप में जवाब दिया, जैसा उन्होंने सोलहवीं शताब्दी में पठानों के साथ किया था। बहुत अच्छे बेड़े के बिना देश से अँग्रेज़ों की समुद्री शक्ति नहीं हटाई जा सकती थी। मुग़लों के पास कोई जहाज़ी बेड़ा नहीं था इसलिये वे समुद्री युद्ध में अँग्रेज़ों से मुक़ाबला करने में सर्वथा अयोग्य थे। अन्तिम कारण यह था कि मुग़ल विदेशी थे और उन्होंने देश पर विदेशी सत्ता जनता की सम्मति के प्रतिकूल स्थापित की थी। इस कारण उन्हें जनता का सहयोग प्राप्त नहीं था और उनकी सत्ता की नींव कमज़ोर थी। मुग़ल लोग जनता के हृदय में ऐसे विचार उत्पन्न नहीं कर सकते थे जैसे शिवाजी ने महाराष्ट्र की जनता में उत्पन्न कर दिये थे और जिन विचारों के कारण महाराष्ट्र की जनता उनके साथ हो गई थी। विदेशी सत्ता तभी तक रह सकती है जब तक वह शक्तिशाली रहे। जब मुग़ल सरकार स्वयं दुर्बल हो गई तो उसका पतन स्वाभाविक ही था।

विशेष अध्ययन के लिए पुस्तकें

१. Mughul Administration, चतुर्थ संस्करण, लेखक सर यदुनाथ सरकार।
२. India Through the Ages, चतुर्थ संस्करण, लेखक सर यदुनाथ सरकार।
३. Downfall of the Mughul Empire, जिल्द १—४, लेखक सर यदुनाथ सरकार।
४. The First Two Nawabs of Awadh लेखक ए. एल. श्रीवास्तव।

५. Influence of Islam on Indian Culture लेखक तारा चन्द।

६. Presidential Address of the Mughul Section, लेखक तारा चन्द, देखो Proceedings of Indian History Congress, १९३९, कलकत्ता।

७. Society During the Muslim Period, लेखक सर यदुनाथ सरकार, देखो Hindustan Standard, Puja Annual, 1951.

Some Opinions on

THE FIRST TWO NAWABS OF AWADH

(Saadat Khan and Safdar Jang) 1708-1754

WITH A FOREWORD BY SIR JADUNATH SARKAR

Revised and made up-to-date Second Edition in the Press

Approx. 300 pages | Octavo | Price Rs. 12/8/-

1. "Dr. Ashirbadi Lal's work is the first attempt to write a critical history of the rise of this dynasty, and it has attained to a high standard of excellence. All the available sources have been used, and he has gone to the fountain-head of original Persian annals and letters. The result is a scientific history to which scholars will have to turn for a long time to come as the standard authority.

"What I admire most in this young writer is his impartial attitude : he is free from the biographer's common failing of blind hero-worship...... On the whole, this volume marks the high water-mark of scholarship in doctorate theses ...."

(Foreword) —*Sir Jadunath Sarkar*

2. "The thesis forms a valuable contribution to the history of the period." (September, 1932).

"I am sure this very careful piece of work will be much appreciated by students of Indian History ; it supplies a much-felt want, and I shall have great pleasure in recommending it to the B. A. Honours Students at this School." (School of Oriental Studies, London University).

—29th August, 1933. —*Sir E. Denison Ross*

3. "I have read it with interest and consider it a very creditable piece of work and a valuable contribution to Indian History. I am particularly pleased with the bibliography, which shows how completely you have mastered the contemporary authorities, while the work itself demonstrates how skilfully and impartially you have used them." —*Sir William Foster*

4. "………the work has been carefully and conscientiously performed." —*Sir Evan Cotton in Bengal Past and Present*

5. "It seems to me a work of great promise. You have mastered the main canons of historical evidence, and your use of *apparatus criticus* reveals care and judgment."

—*Prof. Rushbrooke Williams*

6. "I am sure it will be of great use to all students of Indian history. A careful revision of the history of Oudh from primary and hitherto unknown materials is bound to be of value."

—*Prof. P. E. Roberts*

7. "It is a very able, well-written work and fills a gap in our knowledge of the history of the period."

—*Prof. H. G. Rawlinson*

8. "It embodies original research of a high order, and arrangement of the subject as well as the judgments on individuals and events are sound and sensible."

—*Sir Shafaat Ahmad Khan*

9. "Professor Srivastava has rendered a great service to Indian history by publishing a full and authenticated account of the careers of the first two Nawabs of Oudh……….. he has been able to clear accurately and impartially many doubtful points and incidents………the labours of Prof. Srivastava are sure to prove invaluable."

—*R. B. Sardesai in Modern Review*

10. "It may be added that even a casual perusal of the volume………reveals deep learning and patient industry of the author. In fact he has shown such remarkable grasp of the subject, such sense of proportion and critical powers and true historical spirit that this his very first work has leapt into the position of the standard authority on the Subject."

—*The Hindustan Times, 2nd October, 1933*

11. "Dr. Srivastava seems diligently to have studied the Persian chronicles of the time. His account of the province of Oudh, and of the endeavours of the Nawabs to reduce the power of the great nobles of the province is full of interest. His con-

cluding chapter on the administration and condition of the people is the most interesting of all."

—*The Times Literary Supplement, London, March 8, 1931*

12. "This is an excellent account of Saadat Khan Burhan-ul-mulk, and his nephew, Safdar Jang. The author has not only worked over the well known material, but has also discovered new sources, such as the Mansur-ul-Maktubat, a letter-book of the two Nawabs, and has been permitted to use unpublished works belonging to Sir Jadunath Sarkar. He has thus been able to correct many details in the accounts by earlier writers, and to explain more fully the motives of the principal actors in the tangled struggles for supremacy in India from 1720 to 1754. His analysis of Safdar Jang's action in calling the Marathas to aid him against the Bangash Pathans in 1751 is particularly acute. To the account of political movements is added a description of administrative measures and the condition of the people. A critical bibliography adds to the value of the book."

—*Sir Richard Burn in the Journal of the Royal Asiatic Society, London, October, 1936*

Some Opinions on

SHUJA-UD-DAULAH, Vol. I (1754-1765)

Revised and made up-to-date Second Edition in the Press

Approx. 325 Pages *Octavo* *Rs. 12/8/-*

1. "I have read it carefully and I congratulate you on a very valuable and thorough-going piece of research. I think you maintain throughout a very impartial and unprejudiced attitude." —*Prof. P. E. Roberts, Oxford*

2. "Professor Srivastava's *History of Shuja-ud-Daulah* is, in my opinion a well-informed and scholarly contribution to the history of Oudh, based on a critical examination of the original manuscript sources in Persian, Marathi, French and English. It should prove of great value to students in Indian Universities." —*Dr. C. Collin Davis, Oxford*

3. "Most striking is the author's grasp of the enormously varied material, which has existed in Persian, Marathi, Hindi, English and French. To tackle all the available sources and from them to extract the explanation of shifting political developments was a stupendous task. The author has done more ; he has transformed into a fascinating narrative what were long considered as dull and dry details of battles and sieges." —*R. B. G. S. Sardesai in The Times of India*, 16th April, 1940

4. "These interesting facts of Shuja's career have been explored with a multitude of details, from published and unpublished materials preserved in various languages—Persian, Marathi, French, English and Urdu. The author deserves special commendation for tracing with remarkable clarity the twists and turns of Shuja's policy amidst the ever shifting scenes of political combination and conflict.

"The author's narration of events has been singularly candid; he has neither tried to white-wash nor guy the hero of his theme.

All the deeds of the Nawab, fair and fowl, have been narrated without bias or prejudice..........The volume is really the result of indefatigable research, and all students, particularly of Oudh history, owe Dr. Srivastava a debt of gratitude."

—*The Modern Review*, August, 1940

5. "I have nothing but admiration for your amazing and scrupulously accurate scholarship displayed in these works."

"Single handed, you have done more for the history of the Nawabs of Oudh than we have been able to do here for the Nawabs of the Carnatic."

—*Rao Bahadur, Professor*
C. S. Srinivasachari

6. "It is a work of solid merit and is a dispassionate analysis of a large amount of material which varies greatly in quality.

"You have unravelled the tangled skein of a very difficult period with great skill and judgment, and I congratulate you heartily on a piece of enduring research."

—*Sir Shafaat Ahmad Khan*

7. "I think your investigation into the history of Oudh most valuable and important, and am glad to see that this interesting period is at last being properly dealt with."

—*Prof. J. C. Powell-Price*

8. "Years of strenuous labour has been rewarded with eminent success. The book has lighted up one of the obscure nooks of Indian history. It may be supplemented here and there, but it will not be soon superseded, the ground having been forced to yield its best crop."

—*Dr. K. R. Qanungo*

9. "The book is well-written with an elaborate basis of documentation, comprehending Marathi, Persian and French materials, besides the usual records and other works in English and other languages. A vein of justifiable vindication of Shuja-ud-Daulah's character and activity from undue condemnation marks the general treatment followed in this book, to which the most important lesson for the careful student is a remarkably clear and

instructive explanation of the Nawab's part in the fatal Panipat campaign."

—*Rao Sabib Prof. C. S. Srinivasacharya in the Journal of Indian History, December, 1939*

9. "Prof. Srivastava has done well to carry on the history of Oudh which he began with a volume on "The First Two Nawabs of Oudh". In this new book he deals with the first eleven years of governorship by Shuja-ud-Daulah. As in his previous work, he has made excellent use ot new material, particularly that now available in publications of Marathi records which supplement and correct the Persian authorities. News letters from Maratha correspondents at the Oudh court narrate events as they happened and are often better evidence than recollections. The English and French authorities have also been examined.

"Shuja-ud-Daulah's character in early life was far from admirable. The author deals with it frankly and seems fully justified in arguing (p. 129) that the apprehensions of the English in Bengal that the Nawab intended in 1761 to invade Bihar were groundless. Two years later when the Emperor had joined him and Mir Qasim was a fugitive after the massacre of Patna his ambition was increased by the chance of gaining arrears of the tribute from Bengal, nominally to be paid to the Emperor, but really to be appropriated by the Nawab himself. The narrative of his invasion and its failure is full of interesting datail, and the story ends for the present with the defeat of his Maratha ally Malhar Rao in the early summer of 1765 and Shuja-ud-Daulah deciding to yield to the English."

—*Sir Richard Burn in the Journal of Royal Asiatic Society, London, 1941-Part II*

Some opinions on

SHUJA-UD-DAULAH, Vol II (1765-1775)

Pp. 424 xvi Octavo

1. The author of this thesis has left no available source unutilised, and he has shown phenomenal industry and passion for accuracy, in working through a mass of unpublished records of the Government of India and thus fortified himself with chapter and verse on every point, however minute, when he has contradicted or confirmed notable earlier writers on the subject like Strachey, Forrest, and Davies. The meticulous care with which he has pieced together minute details from unpublished English records and Persian MSS (often so difficult to read) attests to his extra-ordinary power of painstaking research and honesty in the quest of truth.

Even more valuable than this quality is the author's judicial impartiality. He has successfully resisted the temptation to which the author of many a historical biography succumbs, when he, in Macaulay's caustic phrase, considers himself as "a feudal vassal bound to render every aid to his liege-lord (his Hero) in his distress". Dr. Srivastava has been quite frank in dealing with Shuja's vices and faults, while defending him, on other counts, against the unjust censures of British writers. The judicial severity and the austere language of the concluding part of his estimate of Shuja's character, should serve as a model to other writers on Indian History.

This thesis makes a valuable addition to our knowledge, especially in the fields of the tortuous diplomacy of the period and the condition of society, and the administrative machinery in all its branches. The last item covers almost one-fourth of the book, chapters XXI-XXIV pp. 312-401, and proves that Dr. Srivastava is endowed with richer and more varied gifts than those of a mere weaver of historical narrative.

Certain parts of the book are heavy reading, but the author's style was evidently determined by the fact that in a subject

bristling with controversy, since the days of Burke and Sheridan, he was bound to produce an argumentative and closely documented judicial decision, even at the sacrifice of literary grace.

—*Sir Jadunath Sarkar*

2. "As a biography Dr. Srivastava's '*Shuja-ud-daulah*' is perhaps the nearest approach to Sir Jadunath Sarkar's *Shivaji* in accuracy and thoroughness, wealth of details and art of presentation *minus* Sir Jadunath's command of English. Nevertheless, Dr. Ashirbadi Lal's racy historical prose has a charm and sweep of its own."

"The author deserves our congratulations on the publication of the present volume, which has brought him to the front rank of researchers in the field of Indian history leaving behind many a grey-beard though shaven clean now-a-days."

—*Dr. K. R. Qanungo*

3. "By publishing his third part of the three Nawabs of Oudh Dr. Srivastava has completed an enormous undertaking of great significance to Indian history. This volume covers the latter half of Shuja-ud-Daulah's reign (1765-1775) and presents the enlivening story of how India's eastern provinces passed under the British domination. The steadfast grasp of British policy guided by selfish ambition is here minutely traced with fresh evidence unearthed after a patient labour of years. The volume opens with the celebrated grant of the Dewani of Bengal which Clive dexterously secured from the Emperor thereby changing the fate of entire India. "Oudh was destined to be a main training ground of the Co.'s Agents in India who gradually evolved more or less a permanent policy towards the Indian powers after coming into contact with Shuja-ud-daulah." The direct result of this change was that the emperor Shah Alam deserted the British cause and sought the protection of the Marathas. This thrilling chapter is for the first time here unfolded on the basis of the original and revealing correspondence. Shuja's capacity and character are justly appraised."

"While going through this narrative of Awadh, the reader cannot help thinking of the fate of the other three Nawabs, viz.,

those of Bengal, Arcot and Haiderabad, and entertaining the painful reflection of Nawabs. Instead of remaining loyal to the emperor, they chose to break away from their allegiance and seek foreign support for self-protection, thereby completing the political degradation of the Indian continent."

G. S. Sardesai

in the Modern Review, March, 1947.

4. "I have been deeply impressed by the thoroughness of your study and the way in which you have marshalled the facts and arrived at your conclusions. I regard it as a very scholarly work and you have thrown a great deal of light on an obscure subject. The period dealt with by you is a momentous one for the history of India, and your book will be a great contribution to a proper understanding of the beginning of Modern History of India."

—Dr. R. C. Majumdar, M.A. Ph.D.

Some Opinions on

THE SULTANATE OF DELHI*

(Including the Arab Invasion of Sindh)

711-1526 A. D.

Second Edition

FULLY REVISED AND MADE UP-TO-DATE

Price Rs. 10/- Demy 8vo

1. "Your History of the Sultanate of Delhi is quite useful and far more readable than text-books as a class are. Nowhere is it superficial, and, in addition, it attends to many aspects (other than war and annexation) which are usually neglected."

—*Sir Jadunath Sarkar, KT. C.I.E., D. Litt*

2. "Dr. Ashirbadi Lal's latest production **The Sultanate of Delhi** forms a welcome addition to his earlier scholarly works dealing with the history of the Nawabs of Awadh ......gives a masterly summary in a short compass of all the salient features and up-to-date life-stories of the many eminent personalities who materially changed the traditional tenor of India's past. It passes in review all the various dynasties beginning with the sultans of Ghazni and ending with the Lodis, all bristling with eminent figures of valour, sagacity and statesmanship in varied degrees.

"......**The Sultanate of Delhi** is indeed a valuable reference book both for specialists and general readers and a decided advance on Stanley Lane-Poole's Medieval India, which appeared nearly half a century ago, a period during which historical research has made enormous progress in all

* *Prescribed in Allahabad, Lucknow, Sagar, Banaras, Rajputana, Madras and many other Universities for B. A., B. A. (Hons.) and M. A. Courses.*

its branches. Another special feature of the **Sultanate** is the dozen illustrative maps laboriously worked out, the absence of which had so long been a great impediment to proper study on the part of students, who had to grope in the dark in this darkest of all periods. A critical bibliography is given at the end ; and each chapter mentions books and authorities for special reading. Thus the history of these five centuries has been practically reconstructed in this handy volume. The most admirable part of the whole performance, which has immediate reference to present needs, is doubtless the author's lucid discussion of the nature of the Islamic State contained in the concluding chapters XVI to XVIII."

—Historian G. S. Sardesai
in the Modern Review (January 1951)

3. "It can be confidently said that Dr. Ashirbadi Lal's book marks a definite advance in the conception and treatment of the history of this period."

"This book undoubtedly deserves a wide recognition in our universities and colleges as a very useful and authoritative text-book on the subject."

—Dr. K. R. Qanungo M.A., Ph. D.
Head of the History Department, Lucknow University

4. "I have read your work with great pleasure and profit. It gives within a moderate compass an excellent survey of the medieval period of Indian History. I have particularly liked your lucid style and critical presentation of the available data. The value of the book is further enhanced by the illustrative maps and the bibliography. I have no doubt that it will prove useful to students, scholars and general readers alike."

Dr. R. S. Tripathi, M.A., Ph. D. (London)
Head of the History Department, Banaras Hindu University

5. "Your book is an excellent introduction to India's annals in the second phase of her medieval history. It is compact, lucid and balanced in its views. It is very in-

terestingly written and is bound to be very useful for our degree and post-graduate students. The maps given are very well-drawn and are an unique feature of the publication."

—Prof. Kali Shankar Bhatnagar
Head of the History Deptt., V. S. S. D. College, Kanpur

6. "**The Sultanate of Delhi**" by Dr. A. L. Srivastava is a refreshing contribution to the medieval period of Indian History. It is an excellent survey of the period 711-1526 A. D., which the expert and the general reader will alike enjoy. It will be very useful to college students."

—Late Prof. J. C. Taluqdar
Head of the History Deptt., St. John's College, Agra

7. I have read Dr. Srivastava's 'The Sultanate of Delhi' with much pleasure.........His book should prove valuable not only to the students of Colleges and Universities but also to the general reading public......It is the result of independent study of original sources. The twelve maps illustrating the different reigns form a novel feature of the book and enhance its value. There is a select bibliography at the end of each chapter which will be highly useful.

—Prof. S.R. Ray
Lecturer in Islamic History, University of Calcutta

WORKS OF Dr. A. L. SRIVASTAVA

1. THE FIRST TWO NAWABS OF AWADH
   With a Foreword by Sir Jadunath Sarkar
   (Fully Revised Second Edition in the Press) Rs. 12/8/-
2. SHUJA-UD-DAULAH, Vol. I, 1754—1765 Rs. 12/8/-
3. SHUJA-UD-DAULAH, Vol. II, 1765—1775
4. THE SULTANATE OF DELHI (including the Arab Invasion of Sindh), 711—1526 A. D.
   Revised and up-to-date Second Edition Rs. 10/-
5. MUGHAL EMPIRE, 1526-1803 Rs. 8/-/-
6. SHER SHAH & HIS SUCCESSORS Rs. 3/4/-

७. दिल्ली सल्तनत, ७११–१५२६ (अरबों का सिन्ध पर आक्रमण सहित) रु० १०/-/-
८. मुग़ल कालीन भारत, भाग १, १५२६–१६२७ ई० तक रु० ६/८/-
९. मुग़ल कालीन भारत, भाग २, १६२७–१८०३ ई० तक रु० ४/८/-
१०. भारतवर्ष का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग १, प्रारम्भ से १५२६ ई० तक रु० ६/-/-
११. भारतवर्ष का राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग २, १५२६ से १६५२ तक (छप रही है)
१२. संसार का इतिहास रु० २/८/-

CAN BE HAD OF :

1. Shiva Lal Agarwala & Co. Ltd., Hospital Road, Agra [All Books]
2. Uttar Chand Kapur & Sons, University Press, Agra [Book No. 10 and 11]
3. Malhotra Brothers, 60 Darya Ganj, Delhi [Book No. 5]